मध्य सिद्धान्त कौमुदी

डॉ॰ सुरेशचन्द्र शास्त्री

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१८५
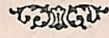
श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

(आदितः-अव्ययप्रकरणान्तः प्रथमो भागः)

व्याख्याकार

श्रीसुरेशचन्द्र शर्मा

व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५७२१४

प्रथम संस्करण १९९१

मूल्य ३५-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए. बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दूरभाष : २३६३९१

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
185
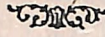
MADHYASIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VARADARĀJĀCĀRYA

(Part 1 : Avyayaprakarananta)

Edited with
'Subodhini'-Sanskrit & Hindi Commentaries

By
Shri Suresh Chandra Sharma
Vyakaranacharya, M. A., Ph. D.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

निवेदनम्

विदितमेव तत्रभवतां श्रीमतां यत्संस्कृतवाङ्मयज्ञानाय व्याकरणमेव मुख्यं साधनम्। ऐन्द्रचान्द्रादिषु नैकेषु व्याकरणेषु सत्स्वपि सर्वत्राधुना पाणिनीय-व्याकरणमेव प्रचलति। तच्च व्याकरणं लक्ष्यलक्षणात्मकम्। तत्र शब्दो हि लक्ष्यः, लक्षणन्तु सूत्रम्। अनयोः सम्यग्ज्ञानार्थं पाणिनीयाष्टाध्याय्या अध्ययनं परमावश्यकम्। अतः 'अष्टाध्यायी'ति ग्रन्थस्य गूढाभिप्रायं ज्ञातुं काशिकादि-वृत्तिग्रन्थानां पठनपाठनयोः परम्परा प्रचलिता। परिवर्तनशीलेऽस्मिन् युगेऽध्य-यनाध्यापनविधावपि परिवर्तनं स्वाभाविकमेव। अत एव सरलरीत्या व्याकरण-शास्त्रज्ञानाय अष्टाध्यायीक्रमस्यकाठिन्यनिवारणाय च प्रक्रियाक्रमस्यारम्भो जातः। रूपावताराद्‌दुद्गतेयं प्रक्रियापरम्परा रूपमालया प्रक्रियाकौमुद्या च पल्लविता, सिद्धान्तकौमुद्या च पुष्पिता तत्रैव पर्यवसिताऽपि। श्रीमद्भट्टोजि-दीक्षितविदुषा विरचिता वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी प्रौढा पाण्डित्यपरिपूर्णा च वर्तते। अतः सकुमारमतीनां बालानां प्रवेशोऽत्र दुष्कर इति विचार्य तच्छिष्येण पण्डितप्रवरेण वरदराजाचार्येण प्राथमिकाध्येतॄणां बालानामनायासेन बुद्धिप्रवेश-लाभाय लघुसिद्धान्तकौमुदी, लब्धकिञ्चित्प्रवेशानां माध्यमिकानाञ्च बालानां व्याकरणशास्त्रबोधसम्पत्तये मध्यसिद्धान्तकौमुदी विरचिता।

सेयं मध्यसिद्धान्तकौमुदी स्वल्पेन कालेन बहुबोधाधायनीति विदन्त्येव विद्वांसः। ग्रन्थस्यास्य परमोपादेयतामभिलक्ष्य कैश्चिद्विश्वविद्यालयैः माध्यमिक-कक्षासु विनिर्धारितोऽयं ग्रन्थः। यद्यप्यद्यत्वे मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतानि नैकानि संस्करणानि प्रकाशितानि सन्ति। परं 'विद्यार्थि-जनोपयोगि सरलटीकोपेतं किञ्चित्संस्करणं नैव समुपलभ्यते' इत्यभावमनुभवता चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनाध्यक्षस्याग्रहवशंवदेन छात्रहितैषिणा मया 'सुबो-धिनी'ति संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतायाः मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः प्रथमो भागः प्रकाश्यते। कार्येऽस्मिन् व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताद्यनेकशास्त्रमर्मविदुषां व्याकरणविभागाध्यक्षाणां पूज्यगुरुवर्याणां श्रीमतां केशवदेवतिवारीमहाभागानां हार्दिकीमधमर्णतामावहामि, यैरत्यन्तवात्सल्यभावेन पदे पदे काठिन्यं निरस्या-स्माकं साहाय्यं कृतम्। अत्र कियत्साफल्यमधिगतं मयेत्यत्र तु विद्वांसः प्रेक्षका एव प्रमाणम्। प्रमादेनात्र काश्चन त्रुटयः स्युस्ताः संशोध्य विद्वद्भिः सूचनीयो-ऽप्ययं जन इति शम्।

विदुषामाश्रवः—
सुरेशचन्द्र शर्मा

भूमिका

संस्कृत भाषा भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की प्राचीनतम भाषा है। सभ्यता के उषाकाल में इस भाषा का उदय हुआ और सर्वप्रथम भारत को ही इस उदय के दर्शन का श्रेय प्राप्त हुआ। 'वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं' यह सभी विद्वानों और ऐतिह्यविदों ने स्वीकार किया है।

किसी भी भाषा की सुरक्षा और उसका मौलिक ज्ञान उसके व्याकरण में निहित होता है। बिना व्याकरण के भाषा प्रायः विश्रृंखल और अपूर्ण रहती है। संस्कृत-वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का विशिष्ट स्थान है। 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।' अर्थात् जिससे साधु शब्दों का ज्ञान होता है, उसे **'व्याकरण'** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। महाभाष्यकार ने इसी को **'शब्दानुशासन'**[1] भी कहा है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन षडङ्गों में व्याकरण वेद का मुख रूप प्रधान अङ्ग माना जाता है। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥'[2]

भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—**'प्रधानं च षडङ्गेषु व्याकरणम्।'**[3]

व्याकरण-वाङ्मय में ऐन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है। शब्दोपदेश के लिए प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना सर्वप्रथम सुरगुरु बृहस्पति के शिष्य इन्द्र ने की थी। देवराज इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि पर्यन्त[4] अनेक आचार्यों ने व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था, परन्तु आज पाणिनीय व्याकरण ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण उपलब्ध होता है। यद्यपि यह संस्कृत के प्राचीन आर्ष

---

१. 'अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दा अनेनेत्यनुशासनम्, शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनं सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूपं शास्त्रम्।'

२. पाणिनीय शिक्षा (४१, ४२)।

३. महाभाष्यम् (पस्पशाह्निकम्)।

४. बोपदेव ने इन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—

'इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥' (कविकल्पद्रुमः)

व्याकरणों में सबसे अन्तिम और संक्षिप्ततम है; तथापि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के संस्कृत-वाङ्मय को आलोकित करने वाला एक महान् प्रकाश-स्तम्भ है। विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सरल और परिष्कृत नहीं बन सका है। संसार के सभी विद्वानों ने इसकी वैज्ञानिकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। पाणिनीय व्याकरण का मूलग्रन्थ भगवान् पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। इसमें ३९९५ सूत्र हैं।[1] इस अष्टाध्यायी के माध्यम से उन्होंने संस्कृत भाषा के परिष्कृत रूप को स्थायित्व प्रदान किया। कालान्तर में महर्षि कात्यायन ने 'अष्टाध्यायी' की समीक्षा करते हुए उसके पूरक के रूप में वार्तिकग्रन्थ की रचना की। सूत्र तथा वार्तिकों के पारस्परिक समन्वय को समझाने के लिए शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने विशद विवरणात्मक ग्रन्थ 'महाभाष्यम्' की रचना की। उन्होंने पूर्ववर्ती दोनों आचार्यों की रचनाओं में सत्यान्वेषण किया और सिद्धान्ततः निष्कर्ष प्रस्तुत किया, जिससे विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों को विशेष मान्यता प्रदान की—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।' इस प्रकार सूत्रकार 'पाणिनि', वार्तिककार 'कात्यायन' और भाष्यकार 'पतञ्जलि' ये तीनों आचार्य व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। 'त्रिकाण्डशेष' कोष में पाणिनि के छह नामों का उल्लेख मिलता है। पाणिन, आहिक, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, पाणिनि और शालातुरीय। इन नामों द्वारा इनके गोत्र, माता-पिता तथा देश का निर्णय किया जा सकता है। इनमें पाणिन और पाणिनि दोनों नाम गोत्र-व्यपदेशज हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि 'आहिक' इनका मूल नाम है। इनकी माता का नाम दाक्षी था, अतः इनका एक नाम दाक्षीपुत्र भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है—'सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।' कुछ गवेषकों के अनुसार इनके पिता का नाम शलङ्क था। अतः इनको 'शालङ्कि' कहा गया। 'शालातुरीय' नाम इनके जन्मप्रदेश को स्पष्ट करता है। 'गणरत्नमहोदधि' नामक ग्रन्थ में 'शालातुरीय' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—**'शलातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः।'** इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' नामक ग्राम ही है, जो वर्तमान

---

१. 'चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥'

(स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका, श्लो० १५)

में 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है और पाकिस्तान का विशाल नगर है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सम्भवतः तक्षशिला में हुई थी, पश्चात् अपने ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए यह अन्यत्र चले गये। इनके गुरु का नाम उपवर्षाचार्य था, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। इन्होंने अपने अध्ययन काल में ही कठिन तपस्या करके आशुतोष भगवान् शङ्कर को प्रसन्न किया और उनके उपदेश से 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरणशास्त्र की रचना की। महर्षि पाणिनि की वन्दना में आचार्यों ने कहा भी है—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥'

महर्षि पाणिनि के काल के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। अष्टाध्यायी के 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२।१।७०) सूत्र में 'श्रमण' पद प्रयुक्त हुआ है। इससे आलोचक पाणिनि को बुद्धकालीन अथवा तत्पश्चात्कालीन सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'इन्द्रवरुण०' (४।१।४९) सूत्र में 'यवन' पद को देखकर इन्हें 'सिकन्दर' के समकालीन स्वीकार करते हैं। परन्तु यह नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक ब्राह्मणग्रन्थों में भी श्रमण पद का उल्लेख मिलता है।[1] इसी प्रकार सिकन्दर के भारतागमन से भारतीय लोग यवनों से परिचित हुए। यह भी भ्रम ही है, क्योंकि महाभारत में यवन सैनिकों के द्वारा युद्ध करने का प्रसङ्ग है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि पाणिनि विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुए हैं। किन्तु भाण्डारकर और गोल्डस्टुकर ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० से पहले निश्चित किया है। इसी प्रकार भारतीय और पाश्चात्य मतों पर सम्यग् विचार करने के उपरान्त डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि का समय ५०० ई० पू० निश्चित किया है।[2]

कात्यायन

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर आवश्यकतानुसार अनेक आचार्यों ने वार्तिकग्रन्थ लिखें थे। उनमें महामुनि कात्यायन का प्रमुख स्थान है। पाणिनीय व्याकरण को सम्पूर्ण एवं समृद्ध बनाने के लिए कात्यायन का विशेष महत्त्व

---

१. 'अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः।'

(शतपथब्राह्मण)

२. द्रष्टव्य—श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल : 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'। (पृ० ४७०–४८०)

है । पाणिनि और कात्यायन समकालीन और सतीर्थ्य थे । इनका कात्यायन नाम गोत्रज है । आपका मूल नाम 'वररुचि' था । महाभाष्य के प्रथमाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इस वार्तिक पर 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते ।' इस पतञ्जलि-वचन से विदित होता है कि ये दाक्षिणात्य थे । ये केवल वार्तिककार ही नहीं अपितु महाकवि भी थे । इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्य की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में है । यथा—

'यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि

इस समय पाणिनीय व्याकरण पर पतञ्जलि-विरचित एक ही भाष्य ग्रन्थ उपलब्ध होता है । यह विशालकाय होने से महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है । भाष्य का तात्पर्य निम्नाङ्कित है—

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥'

महामुनि पतञ्जलि एवं उनके महाभाष्य की सभी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । उनका महाभाष्य न केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु अनेक विषयों का आकर ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि अत्यन्त सरल है, तथापि कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य अत्यधिक है ।

भगवान् पतञ्जलि ने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थ 'योगसूत्र', 'महाभाष्य' और 'चरकसंहिता' इन तीन विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि किसी विद्वान् ने भगवान् पतञ्जलि की स्तुति करते हुए कहा है—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥'

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने परिचय के विषय में कुछ नहीं लिखा है । किन्तु 'महाभाष्य' में कुछ स्थलों पर 'गोर्नदीयस्त्वाह' तथा 'गोणिकापुत्रः' लिखा गया है । इससे ज्ञात होता है कि यह गोर्नद प्रदेश के निवासी थे । यह गोर्नद प्रदेश कहाँ है ? इस पर आधुनिक विद्वान् गोण्डा जनपद को ही गोर्नद मानते हैं । इनके महाभाष्य में 'पुष्यमित्रो यजते, इह पुष्यमित्रं याजयामः' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं । इससे प्रतीत होता है कि ये राजा पुष्यमित्र के समकालिक थे । पुष्यमित्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित किया गया है । भारतीय पौराणिक गणना के आधार पर पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने पतञ्जलि का समय विक्रम से १२०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है ।

पाणिनीय व्याकरण के ये तीनों आचार्य 'त्रिमुनि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। आशुतोष भगवान् शंकर के डमरू से पाणिनि के चतुर्दशसूत्र प्राप्त हुए और उन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अष्टाध्यायी की रचना की। उसकी पूर्ति के लिए कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की और भगवान् शेषावतार पतञ्जलि ने जिज्ञासु विद्यार्थियों और मनीषियों के हितार्थ 'महाभाष्य' का प्रवचन किया। ये तीनों व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक है।

अष्टाध्यायी के टीकाकार

पाणिनीय व्याकरण के मूल ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' पर अनेक वृत्तिग्रन्थ लिखे गये। वृत्तिकारों में श्वोभूति, व्याडि, कुणि, माथुर, वररुचि आदि प्रमुख हैं। परन्तु इस समय उपलब्ध वृत्तिग्रन्थों में वामन और जयादित्य द्वारा विरचित 'काशिकावृत्ति' अत्यन्त सराहनीय है। इसका निर्माणकाल विद्वानों ने वि० सं० ६५०-७०० के मध्य स्वीकार किया है।

इस प्रकार अध्येता को सर्वप्रथम सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' कण्ठस्थ करके प्रयोग के लिए 'काशिका' का अध्ययन करना होता था। अनन्तर विशेष-ज्ञानार्थ महाभाष्य पढ़कर ही विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त होता था।

प्रक्रिया-क्रम

प्रौढ एवं विशेष परिश्रम न करने वाले विद्यार्थियों को उक्त प्रणाली में कष्ट और गौरव का अनुभव होने लगा था। अतः सरलरीति से व्याकरण-शास्त्र के ज्ञान के लिए तथा अष्टाध्यायी-क्रमस्थ कठिनाई को दूर करने के लिए सर्वप्रथम बौद्धमतावलम्बी धर्मकीर्ति ने वि० सं० १३०० में 'रूपावतार' नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की। पश्चात् विमलसरस्वती ने 'रूपमाला' और पं० रामचन्द्राचार्य ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता की पूर्ति के लिए म० म० श्रीभट्टोजि दीक्षित ने 'वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना की। विद्वानों ने भट्टोजि दीक्षित का समय वि० सं० १५०० से १५७५ के मध्य स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थ अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातु-पाठ से सर्वाङ्गपरिपूर्ण है। यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन इसी के द्वारा होने लगा। 'सिद्धान्तकौमुदी' पर अनेक टीकाएँ लिखीं गयीं, जिनमें दीक्षित जी की प्रौढ-मनोरमा, ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी, वासुदेव दीक्षित की बाल-मनोरमा तथा नागेश का लघुशब्देन्दुशेखर प्रसिद्ध है।

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य पण्डित थे। इनके पिता दुर्गातनय और गुरु भट्टोजिदीक्षित थे। अपने अध्ययन के पश्चात् इन्होंने पाणिनि-व्याकरण में प्रवेशार्थी सुकुमार मति वाले बालकों के लिए 'सिद्धान्तकौमुदी' का पथ-प्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। वरदराज का यह लघु प्रयास प्रारम्भिक छात्रों के लिए परमोपयोगी है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

इस प्रकार 'लघुकौमुदी' द्वारा साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने द्वितीय सोपान रूप 'मध्य-सिद्धान्तकौमुदी' का प्रणयन किया। मध्यसिद्धान्तकौमुदी के अन्त में वरद-राज ने कहा है—

'कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी।
तस्याः सङ्ख्या तु विज्ञेया खबाणकरवह्निभिः॥'

यह किवदन्ती है कि आचार्य वरदराज की इस कृति को देखकर गुरुवर भट्टोजिदीक्षित को सन्देह हो गया था कि मध्यकौमुदी को पढ़ने के पश्चात् मेरी 'सिद्धान्तकौमुदी' को कौन पढ़ेगा? क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का सार-सर्वस्व मध्यसिद्धान्तकौमुदी है।

इस ग्रन्थ में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा संक्षेप के अतिरिक्त प्रकरण-क्रम में भी भिन्नता है। वाक्य में सर्वप्रथम अर्थज्ञान के लिए पदच्छेद अपेक्षित होता है। अतः पूर्व में सन्धि-प्रकरण को रखा गया है। अनन्तर सुबन्त पदों के ज्ञान के लिए षड्लिङ्ग-प्रकरण और अव्यय-प्रकरण का संघटन किया गया है। इसके बाद स्त्रीप्रत्यय की अपेक्षा तिङन्त पदों के ज्ञान के लिए तिङन्त-प्रकरण का विन्यास सर्वथा उचित है। क्योंकि स्त्रीप्रत्यय कृत्तद्धित-समास के बाद ही अपेक्षित है। अतः अन्त में 'स्त्री-प्रत्यय' का होना ही उचित है। इसी प्रकार कारक का भी समास से पूर्व होना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। क्योंकि विभक्त्यर्थज्ञान पर ही समास-प्रक्रिया आधारित है।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी की एक अत्यन्त प्राचीन टीका 'मध्यमनोरमा' है; ऐसा कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है। परन्तु इसका मुद्रित संस्करण अद्यावधि अप्राप्य ही है।

आजकल मध्यसिद्धान्तकौमुदी के संस्कृत-हिन्दी टीकाओं सहित अनेक संस्करण निकल रहे हैं। उनमें पं० सदाशिव शास्त्री की 'सुधा' संस्कृत व्याख्या तथा पं० रामचन्द्र झा द्वारा रचित 'इन्दुमती' हिन्दी टीका का प्रमुख स्थान रहा है।

प्रस्तुत संस्करण में 'सुबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या का संक्षेप में वर्ण्यविषय-इस प्रकार है—संस्कृत में जिज्ञासु छात्रों को सूत्रार्थ समझाना ही उद्देश्य रहा है। हिन्दी में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, अनुवृत्ति तथा सूत्रभेद प्रदर्शित कर विद्यार्थियों को सूत्रार्थ समझने की ओर स्वतः उन्मुख होने की प्रणाली बतलायी गई हैं। अनन्तर ग्रन्थ की 'वृत्ति' के अनुसार सूत्रार्थ किया गया है। 'विमर्श' में अनुवृत्त सूत्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रस्थ पदों के साथ उनका सम्बन्ध प्रदर्शित कर सूत्रार्थ स्पष्ट किया गया है। प्रक्रियानुसार क्रम से उदाहरणों की सिद्धि की गई है और प्रत्युदाहरणों के द्वारा सूत्रस्थ पदों की सार्थकता दिखलायी गई है। प्रसङ्गवश कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण भी किया गया है। नवीन प्रकरणों के आरम्भ में पूर्वापर सङ्गति उपक्रम के रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण की व्याख्या के विषय में गुण-दोषों का विवेचन सुधी पाठकजन ही करेंगे। मेरे प्रमाद एवं अज्ञानवश कुछ त्रुटियाँ हुई होंगी। अतः नीर-क्षीर-विवेकी विद्वानों से निवेदन है कि वे उन्हें सुधारकर सूचित करने का कष्ट करें। आशा एवं विश्वास है कि 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के इस संस्करण से छात्रगण अवश्य ही लाभ उठायेंगे।

शिवरात्रि, २०४६ वि० }

विदुषां वशंवदः
सुरेशचन्द्र शर्मा

प्रकरण-सूची

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुबोधिनी'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

'श्रीसरस्वत्यै नमः'

श्रीगणेशं नमस्कृत्य साम्बं विश्वेश्वरं परम् ।
बालानां सुखबोधाय सुबोधिनीयं विरच्यते ॥

अन्वयः—वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् नत्वा पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीं करोति ।

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः' इति भाष्यादिसिद्धप्रतिपादितकर्तव्यताकं ग्रन्थादौ मङ्गलमाचरन् वैयाकरणो वरदराजः 'गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म' इत्युक्तिं हृदि निधाय श्रीगुरून् प्रणम्य चिकीर्षितं प्रतिजानीते—**नत्वेति** । वरदराजः =मध्यसिद्धान्तकौमुदीप्रणेता, श्रीगुरून्—श्रिया=निखिलशास्त्रज्ञानरूपया शोभया, सहिताः श्रीसहिताः, ते च गुरवः—गृणन्त्युपदिशन्तीति गुरवस्तान्=सच्छास्त्रोपदेशकानिति यावत्, भट्टोजिदीक्षितान्=शब्दकौस्तुभ-सिद्धान्तकौमुदी-मनोरमादिग्रन्थकर्तॄन्

प्रकृत ग्रन्थ 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के आरम्भ में ग्रन्थकार वरदराजभट्टाचार्य शिष्टों की परम्परा का अनुसरण कर, अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु मङ्गलाचरण प्रस्तुत करते हैं ।

मूलार्थ—मैं वरदराज पदवाक्यप्रमाणज्ञानरूप शोभा से युक्त अपने गुरु श्रीभट्टोजिदीक्षित को प्रणाम करके पाणिनिमुनि रचित व्याकरणशास्त्र में प्रवेश हेतु मध्यसिद्धान्तकौमुदी को बनाता हूँ ।

विमर्श—'गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म, नास्ति तत्त्वं गुरोः पदम्' इत्यादि शिष्ट व्यवहार से विदित है कि ज्ञानदाता गुरु का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, वही परमपदार्थ है । अतः ग्रन्थकार ने आरम्भ में विघ्नों के विनाश हेतु गुरुनमस्कारात्मक मङ्गल प्रस्तुत किया है ।

किसी ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येताओं की प्रवृत्ति के लिए अनुबन्धचतुष्टय अर्थात् विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन का निरूपण करना आवश्यक होता है । अतः इस प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रकृत ग्रन्थ मध्यसिद्धान्तकौमुदी के मङ्गलाचरण श्लोक में भी 'अनुबन्धचतुष्टय' की कल्पना की गई है ।

अइउण् ।१। ऋऌक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११।

(बहुवचनमत्रादरार्थम्), नत्वा = प्रणम्य, अञ्जलिशिरःसंयोगादिव्यापारेण तोषयित्वेति भावः। पाणिनीयानाम्—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं (व्याकरणशास्त्रम्), तदधीयते विदन्ति वेति पाणिनीयास्तेषां पाणिनीयानाम्, मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्—सिद्धः = निष्पन्नः, अन्तः = निर्णयो येषान्ते सिद्धान्तास्तेषां कौमुदीव कौमुदी—कौमुद्या अर्थप्रकाशकत्वधर्मेण चन्द्रिकयाऽत्र साम्यमिति भावः, मध्या=लघुकौमुद्यादिवन्नात्यल्पा, सिद्धान्तकौमुदीवच्च नातिविस्तीर्णा; चासौ सिद्धान्तकौमुदी मध्यसिद्धान्तकौमुदी—'पुंवत्कर्मधारय०' (६।३।४२) इत्यनेन पुंवद्भावः'; ताम्, करोति = विरचयति।

मङ्गलाचरणोऽनुबन्धा अपि निवेशनीया भवन्ति। यथोक्तमभियुक्तैः—

'विषयश्चाधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते ॥'

ग्रन्थाध्ययनविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धसामान्यलक्षणम्। अत एवात्रापि 'पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्' इति कथनेनानुबन्धाः सूचिताः। पाणिनीयानामर्थाद् वैयाकरणानां सिद्धान्तज्ञानं विषयः। तज्जिज्ञासुरधिकारी, अन्ये त्वधीत-

---

(१) विषय का अभिप्राय है—किसी शास्त्र या ग्रन्थ की प्रतिपाद्यवस्तु। यहाँ वैयाकरण सिद्धान्तज्ञान प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है।

(२) जिस कार्य के लिए मनुष्य स्वयं को योग्य (अधिकारी) समझता है; उसी में उसकी प्रवृत्ति होती है। यह अधिकारिता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होती है, प्रथम—इष्टसाधनता, द्वितीय—कृतिसाध्यता। 'इदं मदिष्टसाधनम्' अर्थात् जिसमें उसे अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफलता मिले तथा इसके साथ यह भी आवश्यक है 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' अर्थात् वह उस कार्य को करने में समर्थ भी है। इस प्रकार ग्रन्थाध्ययन में प्रवृत्ति के लिए इष्टसाधनता और कृतिसाध्यता का ज्ञान आवश्यक होने से अधिकारी भी अनुबन्ध माना गया है। यहाँ वैयाकरणमध्यसिद्धान्त का जिज्ञासु अधिकारी है।

(३) सम्बन्धज्ञान अध्येता की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक होने से सम्बन्ध भी अनुबन्ध है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है।

(४) 'प्रयुङ्क्ते प्रयोजयति वा प्राधान्येन यत्तत्प्रयोजनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयोजन का अर्थ है—प्रधानप्रवर्त्तक। अध्येता को जब तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान की उपयोगिता की जानकारी नहीं होती, तब तक उस ग्रन्थ के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार अध्येता की प्रवृत्ति के लिए विषय का ज्ञान आवश्यक होने से विषयज्ञान का प्रयोजन भी अनुबन्ध माना गया है। प्रकृत ग्रन्थ का प्रयोजन प्रकृतिप्रत्ययादिविभाग से शब्द-निष्पादन है।

अक्षरसमाम्नाय के द्योतक अइउण् इत्यादि १४ सूत्र भी प्रत्याहारों की सिद्धि में 'आदिरन्त्येन सहेता' के साथ एकवाक्यता होने से सूत्र कहे गये हैं। इस प्रकार शक्तिनियामकत्व होने के कारण इनको संज्ञासूत्र भी कहते हैं।[1]

---

१. "एषां क्रमबोधकत्वेऽपि 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्" (ल० श० शे०)

कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४। इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

काव्यकोषादिद्विजातिरधिकारीति वदन्ति । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । अनायासेन तदवगमः प्रयोजनम् ।

अ इ उ ण् इति । वर्णानां स्पष्टप्रतिपत्तये संहिताया अविवक्षणादेतेषु अ इ उ इत्यादिष्वसन्धिः । सौत्रत्वान्नैतेभ्यो विभक्त्युत्पत्तिः । यद्वा स्वराणां चादिषु पाठात् 'चादयोऽसत्त्वे' इति निपातसंज्ञायां 'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः । ननु अकारादिवर्णेभ्यो 'वर्णात्कारः' इत्यनेन कारप्रत्ययः स्यादिति चेन्न, 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलमि'त्यतोऽनुवृत्तबहुलग्रहणसामर्थ्यात् । न च 'एओङ्, ऐऔच्' इत्यत्र स्थान-प्रयत्नसाम्ये सावर्ण्यं स्यादिति वाच्यम्; 'एओङ्, ऐऔच्' इति पृथक्सूत्रपाठात् । **लणिति ।** ननु 'अइउण्' इत्यत्र णकारानुबन्धेनैवाणादिप्रत्याहारसिद्धौ पुनः लणित्यत्र णकारानुबन्धग्रहणं व्यर्थमिति न शङ्क्यम्, 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादि-लक्षणम्' इति परिभाषया तस्य साफल्यात् । तथा च व्याख्यानम्—

'परणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाऽण्ग्रहा मताः । ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥'

इति = इमानि चतुर्दशसूत्राणि, माहेश्वराणि = महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि, 'तत आगतः' इत्यण् । महेश्वरप्रसादप्राप्तानीत्यर्थः । तदुक्तं पाणिनीयशिक्षायाम्—

'अइउण्, ऋऌक्, एओङ्, ऐऔच्' इन चार सूत्रों में सन्धिकार्य की प्रवृत्ति वर्णों की स्पष्ट प्रतीति के कारण नहीं होती । अन्यथा सन्धि हो जाने पर वर्णों की पृथक्ता को व्याख्यान आदि के द्वारा सूचित करना पड़ता । अथवा अ इ उ इत्यादि स्वरों का चादिगण में पाठ होने से 'चादयोऽसत्त्वे' से निपातसंज्ञा हो जानेपर 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने से सन्धि नहीं होती । अकारादि वर्णों से बाहुलकात् 'वर्णात्कारः' से कारप्रत्यय भी नहीं होता ।

यहाँ ए तथा ऐ का कण्ठतालु स्थान और विवृत प्रयत्न साम्य होने से एवम् ओ तथा औ वर्णों का कण्ठोष्ठ स्थान और विवृत प्रयत्न समान होने से सवर्ण संज्ञा होकर 'एओङ्, ऐऔच्' इन दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र से काम चल सकता था ? ऐसी शङ्का की जाती है । इसका निराकरण यह है कि पाणिनि ने 'एओङ्, ऐऔच्' ये दो सूत्र पृथक् पढ़े हैं । अतः ए ऐ तथा ओ औ वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती ।

वर्णसमाम्नाय में 'ण्' अनुबन्ध[1] का पाठ दो सूत्रों में किया गया है, प्रथम तो 'अइउण्' सूत्र में, दूसरा 'लण्' सूत्र में । अतः अण् और इण् प्रत्याहारों में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि णकार से पूर्व 'ण्' का ग्रहण किया जाय अथवा पर (दूसरे) 'ण्' का ग्रहण किया जाय ? इस शंका का समाधान व्याख्यान के द्वारा किया जाता है कि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (१।१।६९) सूत्र में तो अण् प्रत्याहार पर-णकार तक स्वीकार किया जाय; अन्यत्र सभी जगह पूर्व-णकार तक । इण् प्रत्याहार पर-णकार से ही ग्राह्य है ।

मूलार्थ—ये १४ माहेश्वर सूत्र अण्, अक्, अच् इत्यादि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) की सिद्धि के लिए हैं । इन १४ (चौदह) सूत्रों के अन्तिम वर्ण (ण् क् ङ् च् ट् आदि) इत्संज्ञक होते हैं ।

---

१. इत्संज्ञकत्वम् इत्संज्ञायोग्यत्वम् वानुबन्धत्वम् । अनु पश्चात् बध्यते युज्यते इति अनुबन्धः । जो बाद में जोड़े जाये वे अनुबन्ध कहे जाते हैं । ये अनुबन्ध इत्संज्ञा सदृश होते हैं ।

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ।।' इति ।

नन्वेषां माहेश्वरसूत्राणां वैयाकरणसिद्धान्तप्रकाशने उपयोगाभावादिह तदुपन्यासो व्यर्थं इत्यत आह—अणादिसंज्ञार्थानीति । अण् आदिर्यासां ताः अणादयः=अक्, अच्, अल्, हल् इत्यादिसंज्ञारूपप्रत्याहाराः, अणादयश्च ताः संज्ञा अणादिसंज्ञाः, ताः अर्थः प्रयोजनं येषां तानि अणादिसंज्ञार्थानि । कथमेषां सूत्राणामणादिसंज्ञार्थत्वमित्यत आह—**एषामन्त्या इत** इति । एषां चतुर्दशसूत्राणामन्त्ये भवा अन्त्याः 'दिगादिभ्यो यदि'त्यनेन यत्प्रत्ययः, णकारादिवर्णा इत्संज्ञका भवन्तीत्यर्थः । **हकारादिष्विति ।** सुकरतयोच्चारणार्थमेव हकारादिष्वकारोच्चारणं कृतम्, अन्यथा ह्य्वर् इत्येवं क्लिष्टोच्चारणापत्तेरिति भावः । अथवा अचं विना हलामुच्चारणाभावात् पुनः पुनरकारपाठो हकाराद्युच्चारणार्थ इत्यवगन्तव्यम् । यथोक्तम्—'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रस्थभाष्ये—'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं भवति' इति ।

ननु 'उरण् रपरः' इत्यत्र रप्रत्याहारेण रलयोर्ग्रहणार्थं रप्रत्याहारसिद्धिरा-

---

(अर्थात् उनका लोप होता है, शास्त्रप्रवृत्ति में उनका उपयोग नहीं होता है ।) हकार इत्यादि व्यञ्जन वर्णों में अकार उच्चारण की सुविधा के लिए है । परन्तु 'लण्' सूत्र में अकार की इत्संज्ञा होती है । इत्संज्ञा होने से उसका भी लोप हो जाता है ।

विमर्श—अ इ उ ण् इत्यादि चौदह सूत्र 'माहेश्वरसूत्र' कहे जाते हैं । इस वर्णसमूह का परिचय महर्षि पाणिनि को महेश्वर (भगवान् शंकर) की कृपा से प्राप्त हुआ है । इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि—पाणिनि अपने गुरु वर्षाचार्य के गुरुकुल में विद्याध्ययन करते थे । अध्ययन के समय अपनी प्रतिभा का समुचित विकास होते हुए न देखकर अत्यन्त खिन्न रहा करते थे । वर्षाचार्य के ही शिष्य कात्यायन प्रखरप्रतिभासम्पन्न थे । अपने सहाध्यायी कात्यायन से शास्त्रार्थ में पराजित होकर पाणिनि ने भगवान् शंकर की आराधना की । जिसके परिणामस्वरूप उन्हें शिव के डमरू-निनाद से वर्णसमाम्नाय (१४ सूत्रों) की प्राप्ति हुई ।[1] इस प्रकार अपने आराध्य भगवान् शिव से वरदान के रूप में प्राप्त शब्दों की चतुर्दश सूत्रों में कल्पना कर महर्षि पाणिनि ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से स्वर-व्यञ्जन विभाग किया है । इन चौदह सूत्रों से प्रत्याहारों की कल्पना द्वारा शास्त्र का निरूपण करने में परम लाघवहुआ है । ये प्रत्याहार इस व्याकरणशास्त्र में अत्यन्त उपयोगी हैं । प्रत्याहार का अर्थ है—संक्षिप्त कथन[2] । इस प्रकार अनेक वर्णों का ज्ञान संक्षेप में हो जाने से व्यवहार में सरलता हो जाती है । जैसे अच् और हल् प्रत्याहारों से क्रमशः स्वर और व्यञ्जन वर्णों का ज्ञान सुगमता से हो जाता है । अतः इन चौदह माहेश्वर-सूत्रों को प्रत्याहार सूत्र भी कहा गया है ।

अण्, अक्, अच् आदि संज्ञा करना इन १४ सूत्रों का प्रयोजन है । इन सूत्रों के अन्तिम व्यञ्जन वर्ण की इत्संज्ञा होती है । इत्संज्ञक वर्ण का लोप होने से प्रत्याहारों में इन (ण् क् ङ् इत्यादि) व्यञ्जनवर्णों का समावेश नहीं किया जाता । प्रत्याहारों के निर्माण में इन इत्संज्ञक वर्णों की उपयोगिता है, जो उनके नामों में सार्थक दृष्टिगोचर होती है ।

---

१. 'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।' (नन्दिकेश्वर कृत काशिका)

२. 'प्रत्याह्रियन्ते सङ्क्षिप्यन्ते वर्णाः यत्र स प्रत्याहारः ।'

हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता ।
अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥

(१) हलन्त्यम् १।१।३ । उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् ।

वश्यकी, सा च लण्सूत्रस्थाकारस्येत्संज्ञां विना न सम्भवतीत्यत आह—**लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः** । अत्र मानञ्च 'लपरत्वं वक्ष्यामी'ति भाष्यमेव । 'लण्' इति सूत्रेऽकार इत्संज्ञको न तूच्चारणमात्रार्थः ।

अन्वयः—अयं हकारः अटि शल्यपि वाञ्छता द्विरुपात्तः, अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ।

अटि शल्यपीति । अट् प्रत्याहारे शलप्रत्याहारे च हकारस्य ग्रहणं स्यादित्येतदर्थं हयवरडित्यत्र 'हल्' इत्यत्र च हकारोऽयं द्विरुपात्तः=द्विवारं पठितः । अटि हकारस्य प्रयोजनमाह—**अर्हेणेति** । 'अट्कुप्वाङ्नुमि'ति सूत्रेणाड्व्यवायेऽपि णत्वम् । शलि पाठस्य फलमाह—**अधुक्षदिति** । 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशः ।

(१) हल् प्रथमान्तम्, अन्त्यं प्रथमान्तम् । पदद्वयं सूत्रम् । 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यस्मात् पूर्वसूत्रादुपदेश इति इदिति चानुवर्तते । तदाह—**उपदेशेऽन्त्यमित्यादिना** । अथ कोऽयमुपदेश इत्यत आह—**उपदेश आद्योच्चारणमिति** । उपशब्दोऽत्र आद्यर्थकः, दिशिरुच्चारणक्रियायाम् । आद्यञ्च तदुच्चारणञ्चेत्याद्योच्चारणम्=प्रथममुच्चारणमित्यर्थः, तच्च प्रत्यासत्त्या मुनित्रयस्यैव । केचित्तु—

'हयवरट्' इत्यादि सूत्रों के हकारादि वर्णों में अकार उच्चारण की सुविधा के लिए है । क्योंकि स्वरों की सहायता के बिना व्यञ्जनों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो पाता । किन्तु 'लण्' सूत्र के मध्य में (लकारोत्तरवर्ती) अकार इत्संज्ञक है । इसके साथ ही 'लण्' सूत्रस्थ अकार को अनुनासिक माना जाता है । क्योंकि अच्=स्वर वर्णों के इत्संज्ञाविधायक[1] सूत्र में सानुनासिक अच् की इत्संज्ञा स्वीकार की गई है । माहेश्वर-सूत्रों में अन्तिम व्यञ्जन वर्णों के अतिरिक्त इस लकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा का प्रयोजन 'र' प्रत्याहार की सिद्धि है । अन्तिम इत्संज्ञक अकार के साथ 'हयवरट्' सूत्रस्थ र् को आदि वर्ण मानकर मध्यवर्ती ल् और आदि वर्ण र् का ग्रहण होने से र प्रत्याहार बनता है । इस प्रकार इस 'र' प्रत्याहार में र् और ल् दोनों वर्णों का समावेश होता है । फलतः आगे 'अच् सन्धि' प्रकरण में 'उरण् रपरः' (१।१।५१) सूत्र के सहकार से अवर्ण और ऌकार को गुण एवं वृद्धि क्रमशः 'अल्' और 'आल्' होते हैं । अन्यथा र प्रत्याहार-सिद्धि के अभाव में ऋ और ऌ की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने से 'रपर' केवल अर् तथा आर् ही होता ।

अट् प्रत्याहार और शल् प्रत्याहार में हकार का ग्रहण हो, इसलिए माहेश्वर सूत्रों में दो बार 'ह्' का पाठ किया गया है । 'अट्' प्रत्याहार में हकार का समावेश हो जाने से 'अर्हेण' में 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से णत्व हो जाता है तथा 'शल्' प्रत्याहार में हकार का समावेश होने से 'अधुक्षत्' में 'शल इगुपधात्०' सूत्र से च्लि के स्थान पर 'क्सः' आदेश हो जाता है ।

(१) **पद**—हलन्त्यम् । **अनुवृत्ति**—उपदेशे इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उपदेश अवस्था में विद्यमान जो अन्त्य हल् (व्यञ्जन वर्ण), उसकी इत्संज्ञा होती है । व्याकरणशास्त्र के प्रवर्तक पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि आचार्यों का प्रथम उच्चारण

---

१. 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (१।३।२) ।

सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र । (२) अदर्शनं लोपः १।१।६० । प्रसक्त-स्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् । (३) तस्य लोपः १।३।९ । तस्येतो लोपः स्यात् । णादयो-

---

'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् ।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥' इत्याहुः ।

(२) अदर्शनं प्रथमान्तम्, लोपः प्रथमान्तम् । शास्त्रतोऽर्थतश्च प्रसक्तस्य = प्राप्तोच्चारणस्यादर्शनम् = श्रवणाभावः, लोप इत्यर्थः ।

(३) तस्य षष्ठ्यन्तम्, लोपः प्रथमान्तम्, तस्य = इत्संज्ञकस्येत्यर्थः । णादयो-

---

'उपदेश' कहा जाता है । जो पद सूत्रों में नहीं देखे गये हैं, उनको दूसरे सूत्रों से सब जगह अनुवर्तन कर लेना चाहिए ।

विमर्श—प्रत्याहारसूत्रों द्वारा स्वर-व्यञ्जन वर्णों का विभाग करने के पश्चात् प्रत्याहार सिद्धि का उपक्रम किया जा रहा है । कार्यों की सुगमता के लिए पाणिनीय सूत्रों को छः भागों में विभक्त किया गया है—संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश और अधिकार ।[1]

'हलन्त्यम्' इत्संज्ञाविधायक सूत्र है । यहाँ 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से अनुवृत्त 'उपदेशे, इत्' तथा सूत्र में विद्यमान 'अन्त्यं, हल्' पदों की एकवाक्यता होने पर 'उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्' इस प्रकार बोध होता है ।

प्रकृत में 'उपदेश' पद का अर्थ आद्य उच्चारण है । यहाँ 'आद्य' शब्द पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि तीनों मुनियों के अर्थ में रूढ है । अतः अज्ञात वर्णों के स्वरूप-ज्ञान के लिए तीन मुनि द्वारा उच्चरित को उपदेश कहते हैं । प्राचीन आचार्यों ने आद्योच्चारण को धातु, सूत्र, गण, उणादि, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश के रूप में स्वीकार किया है । काशिकाकार के अनुसार 'शास्त्रवाक्य' ही उपदेश हैं और वे सूत्रपाठ तथा खिलपाठ के अन्तर्गत समाविष्ट किये गये हैं । सूत्रपाठ से पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और खिलपाठ से धातु, गण, उणादि तथा लिङ्गा-नुशासन का ग्रहण किया जाता है ।

इस प्रकार 'हलन्त्यम्' सूत्र से उपदेश में अन्तिम व्यञ्जन वर्ण की इत्संज्ञा सिद्ध हुई ।

(२) पद—अदर्शनं लोपः । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—विद्यमान वस्तु के अदर्शन = न दिखलायी पड़ने को लोप कहते हैं ।

विमर्श—यहाँ प्रसङ्गतः लोपसंज्ञा का विवेचन किया जा रहा है ।

सूत्र में संज्ञा—लोप और संज्ञी—अदर्शन है । यहाँ अदर्शन शब्द का अर्थ श्रवणाभाव और उच्चारणाभाव के रूप में स्वीकार किया गया है । इस प्रकार प्रसक्त = शास्त्रतः, अर्थतः विद्यमान = प्राप्तोच्चारण का जो अदर्शन, वह लोपसंज्ञक होता है, अर्थात् उस अभाव को लोप कहते हैं ।

(३) पद—तस्य, लोपः । **अनुवृत्ति**—इत् । **विधिसूत्र** ।

---

१. कम शब्दों में किसी बात का स्पष्ट वर्णन करना सूत्र का प्रयोजन होता है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥' इति सूत्रलक्षणम् ।
'संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥'

'तत्र नामकरणं संज्ञा । अनियमे नियमकारिणी परिभाषा । कर्तव्यत्वेन निर्देशो विधिः । प्राप्त-विधिनियामकं नियमः । अतस्मिन् तद्धर्मापादकम् अतिदेशः । उत्तरप्रकरणव्यापी अधिकारः ।'

ऽणाद्यर्थाः । (४) आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१ । अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । यथा अण् इति अ इ उ वर्णानां संज्ञा । एवमच्, हल्, अल् इत्यादयः । (५) ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७ । उश्च ऊश्च ऊ ३ श्च वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् । सः प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन

ऽणाद्यर्था इति । अण् आदिर्येषान्तेऽणादयस्तेऽर्थाः प्रयोजनं येषान्तेऽणाद्यर्थाः । णादयः =वर्णसमाम्नाये पठिताः ण् क् च् प्रभृतय इत्संज्ञकाः वर्णाः, अण्-अक्-अच्-इत्यादि-प्रत्याहारप्रयोजनका इति ।

(४) आदिः प्रथमान्तम् । अन्त्येन तृतीयान्तम् । सह इति अव्ययपदम् । इता तृतीयान्तम् । अन्त्ये भवः अन्त्यः, तेन इता सहोच्चार्यमाणः आदिः अण् अक् इच् इत्यादिरूपा संज्ञेत्यर्थः । यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिः, यस्मात्परं नास्ति पूर्वश्चास्ति सोऽन्तः । आद्यन्तशब्दाभ्यामत्र मध्यगा आक्षिप्यन्ते । 'स्वं रूपमि'ति सूत्रात् स्वमित्यनुवर्त्तते षष्ठ्या च विपरिणम्यते । तदाह—**अन्त्येनेत्यादि ।**

(५) अणादिसंज्ञासु सिद्धासु अचो ह्रस्वादिसंज्ञां दर्शयति—**ऊकालोऽजिति ।**

मूलार्थ—उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो जाता है ।

(४) पद—आदिः, अन्त्येन, सह, इता । **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपने तथा मध्यवर्ती वर्णों का बोधक होता है । जैसे—'अण्' अ इ उ वर्णों का बोधक है । उसी प्रकार अच्, हल्, अल् इत्यादि प्रत्याहार भी जानने चाहिए ।

विमर्श—यह प्रत्याहारबोधक सूत्र है । यहाँ आदि और अन्त्य पद अवयवार्थक हैं । इन आदि और अन्त्य शब्दों से समुदाय का आक्षेप किया जाता है । 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' सूत्र से 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति है । इस प्रकार आदि और अन्त्य पद मध्यवर्ती वर्णों के साथ स्वयं आदि वर्ण भी संज्ञी है । अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो जाने से प्रत्याहार में उसे सम्मिलित नहीं किया जाता । जैसे—अच् प्रत्याहार में अन्त्य इत् हुआ 'ऐऔच्' का चकार, तत्सदृश अच् का चकार, उसके साथ आदि वर्ण अइउण् का अकार (उसके सदृश अच् का अकार), उससे आक्षिप्त समुदाय—'अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ' है । इसी प्रकार अण्-अल् इत्यादि प्रत्याहारों की सिद्धि होती हैं ।

प्रत्याहारों की संख्या ४२ है, जिनका क्रम इस प्रकार है—

१. अक्	७. अण्	१३. एङ्	१९. चर्	२५. झल्	३१. यञ्	३७. वल्
२. अच्	८. अण्	१४. एच्	२०. चय्	२६. झश्	३२. यण्	३८. वश्
३. अट्	९. इण्	१५. ऐच्	२१. छव्	२७. झष्	३३. यम्	३९. शर्
४. अम्	१०. इक्	१६. खर्	२२. जश्	२८. बश्	३४. यय्	४०. शल्
५. अल्	११. इच्	१७. खय्	२३. झय्	२९. भष्	३५. यर्	४१. हल्
६. अश्	१२. उक्	१८. ङम्	२४. झर्	३०. मय्	३६. रल्	४२. हश्

इसके अतिरिक्त र प्रत्याहार भी है । जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

(५) पद—ऊकालः, अच्, ह्रस्वदीर्घप्लुतः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—उ, ऊ और ऊ ३—ये तीनों उकार 'वः' पद से जाने जाते हैं । इन एकमात्रिक,

त्रिधा । (६) उच्चैरुदात्तः १।२।२९ । ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् । (७) नीचैरनुदात्तः १।२।३० । ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्व-

---

ह्रस्वदीर्घप्लुत इति समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुंस्त्वम् । वां काल इवेति । फलितार्थ-कथनमिदम् । विग्रहस्तु वः कालो यस्येति बोध्यः । अपदेन स्वोच्चारणकालो लक्ष्यते ।

(६) उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः प्रथमान्तम् । उच्चैश्शब्दोऽधिकरणशक्ति-प्रधानः 'ऊर्ध्वभागे' इत्यर्थे वर्तते । 'ऊकालोऽच्' इत्यतः 'अच्' इत्यनुवर्तते । तदेत-दाह—**ताल्वादिष्वित्यादिना । सभागेष्विति ।** ताल्वादीनां स्थानानां सावयवत्व-कथनम् ऊर्ध्वभागे इत्यस्योपपादनार्थम्, तेषामखण्डत्वे ऊर्ध्वभागे इत्यनुपपत्तेः ।

द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान जिस अच् का उच्चारण काल हो, उस अच्=स्वर की क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है । वह अच् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से पुनः तीन प्रकार का होता है ।

विमर्श—सूत्र में पठित काल शब्द मात्रा-विशेष का बोधक है । ह्रस्व, दीर्घ और प्लुप्त—ये तीनों संज्ञाएँ स्वर वर्ण के उच्चारण में लगने वाले सीमित समय की मापक हैं । उ, ऊ और ऊ ३ से क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक स्वरों का बोध होता है । इन तीनों कालों का अन्वय यथासंख्य परिभाषा के द्वारा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों के साथ होने से एकमात्रिक स्वर की ह्रस्वसंज्ञा, द्विमात्रिक की दीर्घसंज्ञा तथा त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है ।[1] वह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत रूप प्रत्येक अच् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन प्रकार का होता है ।

विशेष—यहाँ शंका होती है कि वर्णसमाम्नाय में पहले अकार का पाठ किया गया है; उसको तथा इ को छोड़कर सूत्रकार ने दृष्टान्त के रूप में उ वर्ण का ग्रहण क्यों किया ? इसका समाधान है कि ब्राह्ममुहूर्त में कुक्कुट (मुर्गा) की ध्वनि कु, कू, कू ३ में क्रमशः आरोह होता है । उसमें एकमात्रिक ह्रस्व उ, द्विमात्रिक दीर्घ ऊ तथा त्रिमात्रिक प्लुत ऊ ३ प्रसिद्ध है । यह मात्रा समय का प्राकृतिक मापक है । अतः आचार्य ने प्राकृतिक मुर्गे की ध्वनि का आश्रय लेकर सूत्र में उच्चारणकाल का निर्धारण किया है ।

(६) पद—उच्चैः, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—अच् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—मुख के भीतर तालु आदि सभाग स्थानों के ऊर्ध्वभाग से उच्चरित स्वरवर्णों की उदात्त संज्ञा होती है ।

विमर्श—आचार्य पाणिनि ने वर्णों की उच्चारण पद्धति में उदात्तादि वर्णधर्मों की निष्पत्ति पर सूक्ष्म विचार किया है । प्रकृत सूत्र में 'उच्चैः' तथा 'उदात्तः' दो पद हैं । 'ऊकालोऽच्०' (१।२।२७) सूत्र से 'अच्' पद अनुवृत्त है । सामान्यतः 'उच्चैः' शब्द से 'ऊँचे स्वर से बोलना' अर्थ लिया जाता है, किन्तु यहाँ 'उच्चैः' शब्द मुख के अन्दर स्थित तालु, कण्ठ आदि भागों के ऊपरी भाग का ज्ञान कराता है; क्योंकि तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ आदि स्थानों से वर्णों का उच्चारण किया जाता है । इन स्थानों के उच्चैः=ऊपरी भागों से उच्चरित अच्=स्वर वर्ण उदात्तसंज्ञक होते हैं ।

(७) पद—नीचैः, अनुदात्तः । **अनुवृत्ति**—अच् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—तालु आदि सभाग स्थानों के अधोभाग में उच्चरित अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है ।

---

१. 'एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम् ॥'

धोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात्। (८) समाहारः स्वरितः १।२।३१। उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। सः नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा। (९) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८। मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम्–

---

(७) अनुदात्तसंज्ञामाह—**नीचैरिति**। नीचैश्शब्दोऽधिकरणशक्तिप्रधानः 'अधोभागे' इत्यर्थे विद्यते।

(८) स्वरितसंज्ञामाह—**समाहारः स्वरित इति**। पूर्वसूत्राभ्याम् उदात्तानुदात्तपदे अनुवृत्ते व्याख्यानाद् धर्मप्रधाने षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्येते। यत्र समाहरणं स समाहारः। अधिकरणे घञ्। 'ऊकालोऽजि'त्यस्मात् अजित्यनुवर्तते। ततश्चोदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं स्यात् सोऽच् स्वरितसंज्ञको भवतीत्यर्थः।

(९) अनुनासिकसंज्ञामाह—**मुखनासिकेति**। मुखसहिता नासिका मुखनासिकेति

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी 'नीचैः' पद मुख के अन्तर्गत तालु आदि भागों के निम्न भाग का बोधक है। अतः तालु-कण्ठादि स्थानों के नीचैः=नीचे के भागों से उच्चरित स्वर वर्ण की अनुदात्त संज्ञा होती है।

विशेष—ऋग्वेद में अनुदात्त स्वर को वर्ण के नीचे पड़ी रेखा द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है।

(८) पद—समाहारः स्वरितः। **अनुवृत्ति**—उदात्तः, अनुदात्तः, अच्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों वर्णधर्म जिसमें इकठ्ठे हो जाये, वह अच्=(स्वर) स्वरितसंज्ञक होता है।

विमर्श—सूत्र में 'समाहारः' संज्ञी है और 'स्वरितः' संज्ञा। उदात्तत्व और अनुदात्तत्व दोनों वर्णधर्मों का समाहार=एकीकरण ही 'स्वरित' कहलाता है। दोनों वर्णधर्मों का एकत्र समावेश होने से उच्चारण की मध्यता प्रतीत होती है। यहाँ यह शंका की जाती है कि उदात्त और अनुदात्त दो विरोधी वर्णधर्म हैं। उनका एक अच् में मिलना सम्भव कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि—जिस वर्ण की 'स्वरित' संज्ञा होती है, उसमें अंशद्वय की स्थिति समष्टि रूप में रहती है। जिसमें उदात्त धर्म की स्थिति है, उस अंश में अनुदात्तत्व धर्म की स्थिति नहीं एवं जिस अंश में अनुदात्तत्व की स्थिति है, उसमें उदात्तत्व धर्म की स्थिति नहीं। इस प्रकार इन्हीं दोनों वर्णधर्मों के मेल से स्वरित स्वर की उत्पत्ति होती है।

विशेष—ऋग्वेद में स्वरित स्वर का चिह्न वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा द्वारा सूचित किया जाता है।

इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत—ये तीनों उदात्तादि भेद से नौ प्रकार के होते हैं। यथा—१. ह्रस्वोदात्त, २. ह्रस्वानुदात्त, ३. ह्रस्वस्वरित, ४. दीर्घोदात्त, ५. दीर्घानुदात्त, ६. दीर्घस्वरित, ७. प्लुतोदात्त, ८. प्लुतानुदात्त, ९. प्लुतस्वरित। उक्त रीति से नौ प्रकार का वह अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो-दो प्रकार का होता है। जो अग्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

(९) पद—मुखनासिकावचनः, अनुनासिकः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—मुख सहित नासिका (नाक) से जिस वर्ण का उच्चारण होता है, वह अनुनासिक संज्ञक वर्ण कहलाता है।

अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः । लृवर्णस्य द्वादश । तस्य दीर्घाभावात् । एचामपि द्वादश । तेषां ह्रस्वाभावात् । (१०) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९ । ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात् ।

विग्रहः 'शाकपार्थिवादित्वात् सहितपदस्य लोपः ।' उच्यतेऽसाविति वचनः, कर्मणि ल्युट् । मुखनासिकया वचन इति 'मुखनासिकावचनः' । 'कर्तृकरणे कृता बहुलमि'ति तृतीयासमासः ।

सर्वेषां स्वराणां सामान्यरूपेणाष्टादशभेदाः न भवन्तीत्याह—**तदित्थमिति ।**

(१०) अथ सवर्णसंज्ञामाह—**तुल्यास्येति ।** आस्यशब्दोऽत्र न मुखमात्रपरः, किन्तु आस्ये=मुखे भवम् आस्यम्=ताल्वादिस्थानम् 'शरीरावयवाद्यत्' इति भवार्थे

विमर्श—अनुनासिक पद का अर्थ है—'नासिकाम् अनुगत इति अनुनासिकः (नासिकाम् अनु=पश्चात् प्राप्तः)' अर्थात् नासिका से उच्चरित वर्ण । सामान्यतया वर्णों का उच्चारण मुख से ही होता है, किन्तु जिस वर्ण के उच्चारण में मुख के साथ नासिका भी सक्रिय हो, वह अनुनासिक कहलाता है ।[1] इस प्रकार वर्गों के अन्तिम वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न् और म् अनुनासिक हैं ।

इन अनुनासिक और अननुनासिक दो भेदों के कारण पूर्वोक्त नौ भेदों को दुगुना करने से अ, इ, उ, ऋ इनमें से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद हुए । दीर्घ न होने से लृ के बारह भेद हैं। ह्रस्व न होने से ए, ओ, ऐ, औ इनमें प्रत्येक के बारह भेद हैं ।

स्वरों का भेदबोधक चक्र

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	
(ह्रस्व भेद)	(दीर्घ भेद)	(प्लुत भेद)
१. ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७. दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३. प्लुत उदात्तानुनासिक
२. ,, उदात्ताननुनासिक	८. ,, उदात्ताननुनासिक	१४. ,, उदात्ताननुनासिक
३. ,, अनुदात्तानुनासिक	९. ,, अनुदात्तानुनासिक	१५. ,, अनुदात्तानुनासिक
४. ,, अनुदात्ताननुनासिक	१०. ,, अनुदात्ताननुनासिक	१६. ,, अनुदात्ताननुनासिक
५. ,, स्वरितानुनासिक	११. ,, स्वरितानुनासिक	१७. ,, स्वरितानुनासिक
६. ,, स्वरिताननुनासिक	१२. ,, स्वरिताननुनासिक	१८. ,, स्वरिताननुनासिक

स्वरों के अष्टादश भेदों का निरूपण करने के पश्चात् आचार्य सवर्ण संज्ञा का निरूपण करते हैं—

(१०) पद—तुल्यास्यप्रयत्नम् , सवर्णम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिन वर्णों के तुल्य (=समान) हों उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है ।

विमर्श—सूत्र में 'तुल्य' पद सदृश का पर्यायवाची है । 'आस्य' पद से मुखभवस्थान तालु आदि स्थानों का ग्रहण किया गया है । इन स्थानों से टकराकर वर्ण बाहर आते हैं अर्थात् उच्चरित होते हैं । इसी प्रकार प्रयत्न में 'प्र' शब्द से मुखभव यत्न-आभ्यन्तर का ही ग्रहण होता है, बाह्य का नहीं; क्योंकि वर्णों के बाहर निकलने के पूर्व आभ्यन्तर प्रयत्न होते हैं, जो वर्णों के उच्चारण में अत्यन्त सहायक होते हैं । इसी प्रयत्नशीलता के कारण यहाँ आभ्यन्तर प्रयत्न ही

---

१. 'किञ्चिन्मुखवचनम् , किञ्चिन्नासिकावचनम् ।' (व्याकरणमहाभाष्यम्)

(ऋऌवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) । अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । इचुयशानां तालु । ऋटुरषाणां मूर्धा । ऌतुलसानां दन्ताः । उपूपध्मानीयानामोष्ठौ । ञमङणनानां नासिका च । एदैतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । नासिकाऽनुस्वारस्य । इति स्थानानि । यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्यः पञ्चधा । स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्व-

---

यत्प्रत्ययः । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः । आस्यञ्च प्रयत्नश्चास्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य वर्णजालस्य तत्तुल्यास्यप्रयत्नम्, परस्परं सवर्णसंज्ञकं स्यादित्याह—**ताल्वादीति** ।

ऋऌवर्णयोः स्थानसाम्याभावादप्राप्ता सवर्णसंज्ञा वार्तिककृता विधीयते—**ऋऌवर्णयोरिति** । ऋ च ऌवर्णश्च ऋऌवर्णौ, तयोः ऋऌवर्णयोर्मिथः परस्परं सावर्ण्यं=सवर्णत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । कस्य किं स्थानमित्याकाङ्क्षायां तद्व्यवस्थापकानि शिक्षावचनान्यर्थतः सङ्गृह्णाति—**अकुहविसर्जनीयामिति** । 'अ' इत्यष्टादशभेदाः गृह्यन्ते । 'कु' इति कादिपञ्चात्मकः कवर्गः । विसर्जनीयशब्दोऽपि विसर्गपर्यायः । **दन्ता इति** । दन्तमूलप्रदेशा इत्यर्थः, अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव । **नासिका चेति** । चकारेण स्वस्ववर्गानुकूलं ताल्वादि गृह्यते । **यत्नो द्विधेति** । यत्नशब्दोऽत्र प्रयत्नपरः । यत्नानामाभ्यन्तरत्वं बाह्यत्वञ्च वर्णानामुत्पत्तेः प्रागूर्ध्वंभावित्वमिति शिक्षाग्रन्थेषु स्पष्टम् ।

अपेक्षित है । अतः जिन वर्णों के कण्ठ, तालु, मूर्धा आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों, वे परस्पर सवर्ण-कहलाते हैं ।

मूलार्थ—ऋकार और ऌकार की (भिन्न स्थान होने पर भी) परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है । अकार, कु=(कवर्ग) क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ह् और विसर्ग[1] का कण्ठ स्थान है । इ, चु=(चवर्ग) च, छ, ज, झ, ञ्, य और श का तालु स्थान है । ऋ, टु=(ट वर्ग) ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र् और ष् का मूर्धा स्थान है । ऌ, तु=(त वर्ग) त्, थ्, द्, ध्, न्, ल् और स् का दन्त स्थान है । उ, पु=(पवर्ग) प, फ, ब, भ, म और उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान है । ञ, म, ङ, ण, न का नासिका स्थान भी है । ए, ऐ का स्थान कण्ठतालु है । ओ, औ का स्थान कण्ठोष्ठ है । 'व' का स्थान दन्तोष्ठ है । जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वामूल है । अनुस्वार का स्थान नासिका है—ये वर्णों के स्थान हैं । यत्न दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर और बाह्य । प्रथम आभ्यन्तर प्रयत्न के पाँच भेद हैं—१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. ईषद्विवृत ४. विवृत और ५. संवृत । स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है । अन्तःस्थ वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है । ऊष्माण=श, ष, स और ह वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न है । स्वरों का विवृत प्रयत्न है । ह्रस्व अ का प्रयोगदशा में संवृत प्रयत्न है, किन्तु प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न रहता है । यह आचार्य पाणिनि ने 'अ अ' सूत्र से ज्ञापित किया है ।

---

१. यहाँ अकार के साहचर्य के कारण विसर्ग का कण्ठ स्थान कहा गया है, किन्तु विसर्ग अयोगवाह है; अतः आश्रय का जो स्थान होगा, वही विसर्ग का स्थान होगा । जैसे 'रामः' यहाँ विसर्ग का स्थान कण्ठ होगा और 'हरिः' यहाँ विसर्ग का स्थान तालु होगा, क्योंकि पाणिनीय शिक्षा में स्पष्ट कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ।' पा० शि०—२२

स्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । शषसहा ऊष्माणः । अचः स्वराः । ≍क≍ख

आद्यः—आभ्यन्तरप्रयत्नमित्यर्थः । **बाह्य इति** । आस्यबहिर्भूतदेशे गलविवरादौ विकासादिरूपकार्यंकरो बाह्यः । **घोषाश्चेति** । चकारेणाचामपि सङ्ग्रहः । **यणश्चेति** । अत्रापि चेनाचो ग्रहणं भवति । एवञ्च बाह्यप्रयत्नेऽचामपि घोषसंवारनादाल्पप्राणाः प्रयत्नाः भवन्ति । **ह्रस्वस्यावर्णस्येति** । प्रयोगे इत्यस्य व्यवहारकाले इत्यर्थः । प्रक्रिया-

---

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । खर् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न है । हश् प्रत्याहार के संवार, नाद और घोष प्रयत्न हैं । वर्गों के प्रथम (क, च, ट, त, प), तृतीय (ङ, ज, ड, द ब) और पञ्चम (ङ, ञ, ण, न, म) तथा यण् (य, व, र, ल) के अल्पप्राण प्रयत्न हैं । वर्गों के द्वितीय (ख, छ, ठ, थ फ), चतुर्थ (घ, झ, ढ, ध भ) तथा शल् प्रत्याहार के महाप्राण प्रयत्न हैं । क से म पर्यन्त वर्ण स्पर्श कहलाते हैं । यण्=य, र, ल, व को अन्तःस्थ कहते हैं । श्, ष्, स्, ह् को ऊष्म कहते हैं । अच्=(अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) स्वर कहलाते हैं । ≍क≍ख में क और ख से पूर्व आधे विसर्ग के समान जिह्वामूलीय कहलाता है । ≍प≍फ यहाँ प और फ से पहले आधे विसर्ग के समान उपध्मानीय कहलाता है । 'अं' और 'अः' इनमें स्वर वर्ण के बाद क्रमशः अनुस्वार और विसर्ग कहलाते हैं ।

विमर्श—प्रसङ्गवश सवर्णसंज्ञा में उपयोगी वर्णों के प्रमुख आठ स्थानों का निरूपण किया गया है, जो अधोलिखित वर्णोद्भवस्थान-बोधक चक्र से स्पष्ट हो जायेगा—

स्थान-बोधक चक्र

वर्ण		उच्चारण स्थान
स्वर	व्यञ्जन	स्थान
अ	क, ख, ग, घ, ङ, ह, (: विसर्ग)	कण्ठ
इ	च, छ, ज, झ, ञ, य, श	तालु
ऋ	ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष	मूर्धा
ऌ	त, थ, द, ध, न, ल, स	दन्त
उ	प, फ, ब, भ, म (≍प≍फ-उपध्मानीय)	ओष्ठ
	ञ, म, ङ, ण, न	नासिका तथा स्वस्वर्गीय स्थान
ए, ऐ		कण्ठतालु
ओ, औ		कण्ठोष्ठ
	व	दन्तोष्ठ
	≍क≍ख-जिह्वामूलीय	जिह्वामूल
	(अनुस्वार)	नासिका

इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्ध-विसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। (११) अणुदि-

दशायाम्='शास्त्ररीत्या शब्दसाधनसमये' इत्यर्थः, संवृतत्वविधायकस्य 'अ अ' इति सूत्रस्य सम्पूर्णामष्टाध्यायीं प्रत्यसिद्धत्वात्।

यत्न दो प्रकार के होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। वर्णों के मुख से बाहर निकलने से पहले किये गये प्रयत्न 'आभ्यन्तर' कहलाते हैं। उसके पश्चात् होने वाले प्रयत्न बाह्य हैं। वर्णोत्पत्ति में अव्यवहित पूर्व न होने से बाह्य प्रयत्न को गौण प्रयत्न कहा जाता है।[1]

आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत। इनका विवेचन मूलार्थ में किया जा चुका है। जब क से म पर्यन्त २५ व्यञ्जनों में जिह्वा तालु तथा कण्ठ आदि स्थानों का स्पर्श करती है, तब उसे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं। 'ईषत्स्पृष्ट' का अर्थ है—तालु आदि स्थानों को जिह्वा द्वारा धीरे से स्पर्श करना। 'विवृत' का अर्थ है—जिह्वा एवं तालु आदि उच्चारण स्थानों के बीच का मार्ग खुला रहे। 'ईषद्विवृत' से तात्पर्य है कि उक्त मध्य का मार्ग थोड़ा-सा विवृत=खुला रहे। संवृत प्रयत्न ह्रस्व अकार के व्यवहार काल में होता है। साधनिकादशा में विवृत ही होता है। क्योंकि ह्रस्व 'अ' का संवृत-विधायक सूत्र 'अ अ' (८।४।६८) सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के प्रति असिद्ध माने जाने से इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य की ओर शास्त्र की दृष्टि नहीं जाती। अतः वह अकार विवृत माना गया है। वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न को निम्न चक्र से स्पष्ट किया गया है—

आभ्यन्तरप्रयत्न-बोधक चक्र

आ. प्रयत्न	स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत	विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श	अन्तःस्थ	ऊष्म	स्वर	
वर्ण	क,ख,ग,घ,ङ च,छ,ज,झ,ञ ट,ठ,ड,ढ,ण त,थ,द,ध,न प,फ,ब,भ,म	य, व, र, ल	श, ष, स, ह	अ, इ, उ ऋ, लृ, ए ओ, ऐ, औ	ह्रस्व अकार (प्रयोगदशा में)

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते हैं, जिनका विवेचन मूलार्थ में किया गया है। जिन वर्णों का उच्चारण करते समय कण्ठ का विकास हो, उनको विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय श्वास चलता हो उसे श्वास, जिनके उच्चारण में नाद=व्यक्त ध्वनि हो उसे नाद तथा जिन वर्णों का उच्चारण करने में गूँज होती हो उनको घोष, तदतिरिक्त को अघोष एवं जिन वर्णों के उच्चारण में प्राणवायु का अल्प उपयोग हो उसे अल्पप्राण और अधिक उपयोग हो उसे महाप्राण कहते हैं।

किन वर्णों का कौन-सा बाह्य प्रयत्न है? यह निम्नलिखित चक्र से स्पष्ट हो जायेगा।

१. आभ्यन्तर प्रयत्न का उपयोग सवर्णसंज्ञा में होता है, परन्तु बाह्य प्रयत्न का उपयोग सवर्णसंज्ञा में नहीं होता। किन्तु आन्तरतम्य परीक्षा अर्थात् वर्णों में परस्पर अत्यन्त समानता का अन्वेषण करते समय बाह्य प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

११ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुना-

---

(११) संज्ञासूत्रमिदम्। प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः, स न भवतीति अप्रत्ययोऽविधीयमानः, आदेशप्रत्ययादिभिन्नोऽण् इत्यर्थः। चकारात् 'स्वं रूपमि'ति सूत्रात् स्वमित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। तदाह—**अविधीयमान** इत्यादिना। अण् अविधीयमानः सवर्णबोधकः, उदित् विधीयमानोऽपि सवर्णबोधको भवतीति भावः। अणिति पूर्वेण परेण वा प्रत्याहार इत्याशङ्कायामुच्यते—**अत्रेति**।

बाह्यप्रयत्न-बोधक चक्र

बा. प्रयत्न	विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद, घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
	क, ख, श	ग, घ, ङ, य	क, ग, ङ, य	ख, घ, श	अ ए
	च, छ, ष	ज, झ, ञ, व	च, ज, ञ, व	छ, झ, ष	इ ओ
	ट, ठ, स	ड, ढ, ण, र	ट, ड, ण, र	ठ, ढ, स	उ ऐ
वर्ण	त, थ	द, ध, न, ल	त, द, न, ल	थ, ध, ह	ऋ औ
	प, फ	ब, भ, म	प, ब, म	फ, भ	लृ

इस प्रकार व्यञ्जन वर्णों में प्रत्येक के चार तथा स्वर वर्णों में प्रत्येक के तीन बाह्यप्रयत्न होते हैं।

(११) पद—अण्, उदित्, सवर्णस्य, च अप्रत्ययः। **अनुवृत्ति**—स्वं रूपम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अविधीयमान (प्रत्ययभिन्न) अण् और उदित् सवर्ण के बोधक=सवर्णी अक्षरों के ग्राहक होते हैं।

आचार्यों के व्याख्यान से यहाँ अण् पर-णकार तक लिया जाता है। कु चु टु तु पु—ये उदित् कहलाते हैं। 'अणुदित्' सूत्र का फल इस प्रकार है—'अ' अठारह का बोधक होता है। इसी प्रकार इकार और उकार भी अठारह-अठारह के बोधक हैं। ऋकार तीस का बोधक है एवं लृकार भी तीस का बोधक है। एच्=ए, ओ, ऐ, औ प्रत्येक बारह के बोधक होते हैं। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य व ल दो प्रकार के होते हैं। इसीलिए अनुनासिक 'य व ल' अनुनासिक, निरनुनासिक दोनों का संज्ञाबोधक है।

विमर्श—सूत्र द्वारा विधान किये जाने वाले को प्रत्यय कहते हैं। इससे भिन्न 'अप्रत्ययः' का अर्थ है—जिसका विधान न किया गया हो—अविधीयमान। इस प्रकार अविधीयमान (प्रत्यय-भिन्न) केवल अण् का ही विशेषण है; उदित् का नहीं। अतः प्रत्यय-भिन्न अण् प्रत्याहार और उकारेत्संज्ञक उदित्[1] वर्ण अपने स्वरूप तथा सवर्ण के ग्राहक होते हैं।

केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर-णकार से लिया जाता है। अतः यहाँ अण् पद से अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल वर्णों का बोध होता है। कु=कवर्ग, चु=चवर्ग, टु=टवर्ग, तु=तवर्ग, पु=पवर्ग, ये उत्कारेत्संज्ञक हैं। अतः ये वर्ण भी सवर्ण के बोधक होते हैं। स्पष्ट ज्ञान के लिए वर्णों के प्रकार बतलाये जा रहे हैं। अ=१८, इ=१८, उ=१८, (ऋ और लृ वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होने के कारण ऋ=१८+लृ=१२) ऋ=३०, इसी प्रकार लृ=

---

१. 'उत् इत् यस्य उदित्। अण् च उदित् च अणुदित्' (बहुव्रीहिगर्भः इतरेतरद्वन्द्वः)।

सिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा। (१२) परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९। वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्। (१३) हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७। अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः। (१४) सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४। सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

इति सन्ध्युपयोगि संज्ञाप्रकरणम् ॥ १ ॥

अस्मिन्नेव सूत्रे अण् परेण णकारेण गृह्यते। अन्यत्र—'अणोऽप्रगृह्य०' इत्यादौ पूर्वेण णकारेण प्रत्याहारः। अत्र व्याख्यानमेव शरणम्। यथोक्तं भाष्ये—

'परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' इति।

(१२) परः अतिशयितः, सन्निकर्षः सामीप्यम्—अर्धमात्राधिककालव्यवधान-राहित्यम्। अर्धमात्राकालव्यवधानन्तु स्वाभाविकमेव। तदेतदभिप्रेत्याह—**अतिशयित** इत्यादि।

(१३) **हलोऽनन्तरा इति**। अनन्तराः=अव्यवहिताः, विजातीयव्यवधानरहिता इति यावत्। एवञ्च स्वरवर्णैर्व्यवधानशून्या हल्वर्णाः संयोगसंज्ञका भवन्तीत्यर्थः।

(१४) **सुप्तिङिति**। 'स्वौजसमौट्०' इति सूत्रे 'सु' इत्यारभ्य सुपः पकारेण

३०, (दीर्घ और प्लुत होने से, ह्रस्व न होने के कारण ए, ओ, ऐ, औ प्रत्येक के १२ प्रकार (भेद) होते हैं।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'अप्रत्ययः' पद का समावेश होने के कारण प्रत्ययावयव अण्=अ इ उ आदि वर्ण सवर्णों के बोधक नहीं होते। अतः 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) सूत्र से विधीयमान 'अ' से केवल ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होता है।

(१२) पद—परः, सन्निकर्षः, संहिता। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—वर्णों की अत्यन्त सन्निधि=(समीपता) को संहिता कहते हैं।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में संहिता संज्ञा है, 'परः सन्निकर्षः' संज्ञी। परः=अत्यधिक, सन्निकर्षः= सामीप्य। इस प्रकार सूत्रार्थ है—वर्णों की जो अत्यधिक समीपता है उसकी संहिता संज्ञा होती है। एक वर्ण के उच्चारण के बाद अर्धमात्राकाल का व्यवधान स्वाभाविक होता है। उससे अधिक काल का व्यवधान न रहे—यह अर्थ विवक्षित है।[1] जैसे 'सुधी+उपास्यः' में इकार उकार की अत्यधिक समीपता होने से 'संहितायाम्' (६।१।७०) के अधिकार में 'इको यणचि' (६।१।७४) सूत्र से यण् आदेश इ=य् होकर 'सुध्युपास्यः' रूप होगा।

(१३) पद—हलः, अनन्तराः, संयोगः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अच् वर्णों के व्यवधान से रहित हल् संयोगसंज्ञक होते हैं।

विमर्श—व्यवधान रहित दो या दो से अधिक व्यञ्जनसमूह 'संयोग' कहलाता है। व्यवधान विजातीय वर्णों का होता है। व्यञ्जन वर्णों के विजातीय स्वर वर्ण हैं। अतः दो या अधिक व्यञ्जनों के बीच में स्वर वर्णों का व्यवधान न हो—यह अर्थ यहाँ अपेक्षित है। जैसे—'अग्निः' शब्द में ग् न् दो व्यञ्जनों का संयोग है।

(१४) पद—सुप्तिङन्तं, पदम्। **संज्ञासूत्र।**

---

१. 'परो यः सन्निकर्षो वर्णानाम्, अर्धमात्राकालव्यवधानं स संहितासंज्ञो भवति।' (काशिका)

अथ अच्सन्धिः

(१५) इको यणचि ६।१।७७। इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । सुधी उपास्य इति स्थिते ॥ **(१६) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६ ।** सप्तमी-

---

प्रत्याहारः । एवं 'तिप्तस्झि०' इत्यत्र 'ति' इत्यारभ्य महिङो ङकारेण प्रत्याहारः । सुप्च तिङ् च सुप्तिङौ, तौ अन्ते यस्य तत्सुप्तिङन्तम् । शब्दरूपन्तु शब्दशास्त्रप्रस्तावाल्लभ्यते । अन्तशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमादिति ।

इति संज्ञाप्रकरणम् ।

---

(१५) इकः षष्ठ्यन्तम्, यण् प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तम् । इक इत्यत्र स्थानषष्ठी, तथा च 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) इति परिभाषया स्थान इति लभ्यते । स्थानञ्च—प्रसङ्गः । अचीत्यत्रौपश्लेषाधिकरणे सप्तमी संहितायामित्यधिकार-

---

मूलार्थ—सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पद संज्ञा है और 'सुप्तिङन्तम्' संज्ञी । सुप् का अर्थ है—प्रातिपदिक नाम विहित विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय (स्वौजसमौट्' सूत्र में सु से लेकर सुप् तक २१ प्रत्यय) और तिङ् का अर्थ है—धातु से विहित विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय ('तिप्तस्झि०' सूत्र से विहित तिप् से लेकर महिङ् तक १८ प्रत्यय) प्रकरणवशात् 'शब्दस्वरूपम्' का अध्याहार किया जाता है । इस प्रकार उक्त दोनों प्रत्यय जिस शब्दस्वरूप के अन्त में रहें, वे क्रमशः सुबन्त और तिङन्त हैं । उन दोनों की पद संज्ञा होती है ।

संज्ञाप्रकरण समाप्त ।

संज्ञा प्रकरण में सन्धि[1] के प्रसङ्ग में 'संहिता' संज्ञा की उपयोगिता का प्रतिपादन किया जा चुका है ।[2] एक पद में, धातु और उपसर्ग के मिलने पर तथा समास में सन्धि नित्य (आवश्यक) होती है । वाक्य में सन्धि करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर रहता है ।[3] सन्धियाँ पाँच प्रकार की मानी गई हैं—अच्सन्धि, प्रकृतिभाव, हल्सन्धि, विसर्गसन्धि और स्वादिसन्धि । वर्णसमाम्नाय में अच्=स्वरों का प्रथम पाठ होने से पूर्व में अच् सन्धि का विवेचन किया जा रहा है ।

(१५) पद—इकः, यण्, अचि । **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इक् के स्थान में यण् आदेश होता है, अच् परे रहते संहिता के विषय में ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में इक्=इ उ ऋ लृ वर्ण स्थानी हैं । यण्=य् व् र् ल् वर्ण आदेश हैं । 'संहितायाम्' का अधिकार है । इस प्रकार इक् और अच् के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान न होने पर इक् के स्थान पर यण् आदेश होगा ।

---

१. सन्धिः संहिता इति पर्यायः । सम्पूर्वकाद् धाधातोः 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्यये 'सन्धिरि'ति ।

२. 'परः सन्निकर्षः संहिता' (१।४।१०९) ।

३. 'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'

निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम् । (१७) स्थानेऽन्तरतमः १।१।५० । प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुधय् उपास्य इति जाते ।

त्वेनानुवर्तते । इत्यत आह—**इकः स्थान इत्यादि** । **सुधी** इति । शोभना धीर्येषान्ते सुधियः । सुधीभिः उपास्यः सुध्युपास्यः । अत्र 'सुधी + उपास्यः' इति स्थिते ।

(१६) **तस्मिन्निति** । 'तस्मिन्निति सप्तम्यन्तानुकरणम् । निरिति नैरन्तर्ये, दिशिरुच्चारणार्थः ।' 'अचि अणि' इत्युक्ते व्यवहितेऽव्यवहितेऽप्यचि प्राप्तेऽव्यवहित एवेति, पूर्वस्य परस्य च प्राप्ते पूर्वस्यैवेति च नियम्यते ।

(१७) **स्थानेऽन्तरतमः** । स्थानं = प्रसङ्गः, शास्त्रप्रवृत्तिरिति यावत् । अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः, अतिशयितोऽन्तरः अन्तरतमः । अर्थादेकस्य स्थानिन अनेकादेशप्रसङ्गे सति यः स्थानार्थगुणप्रमाणतः स्थानिना सदृशतमः स एवादेशो भवति ।

विशेष—'यस्य स्थानेऽन्यद्विधीयते तत्स्थानि । येन विधीयमानेन अन्यत् प्रसक्तं निवर्त्तते स आदेशः ।' अर्थात् विद्यमान होकर जो बाद में न रहे, वह 'स्थानी' कहलाता है । जिसके आ जाने पर स्थानी न रहे, वह 'आदेश' कहलाता है । आदेश शत्रुवत् होता है, जो स्थानी को हटाकर स्थित होता है ।

(१६) पद्—तस्मिन्, इति, निर्दिष्टे, पूर्वस्य । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—(सूत्र में) सप्तम्यन्त पद का उच्चारण करके विधीयमान कार्य वर्णान्तर के व्यवधान से रहित पूर्व के स्थान में होता है ।

विमर्श—सूत्र में 'इति' शब्द अर्थनिर्देशार्थ प्रयुक्त किया गया है । अतः 'तस्मिन्' शब्द से 'सप्तमी विभक्ति' यह अर्थ लिया जाता है । तदनुसार सप्तमी-निर्देश से विधीयमान कार्य वर्णान्तर से अव्यवहित पूर्व को होता है । परिणामतः 'सुधी+उपास्यः' में 'इको यणचि' सूत्र द्वारा विधीयमान कार्य यण्, प्रकृत परिभाषासूत्र से एकवाक्यता होने पर इक् और अच् के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान न होने पर धकारोत्तरवर्ती ईकार के स्थान में ही हुआ ।

(१७) पद्—स्थाने, अन्तरतमः । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—प्रसङ्ग रहने पर सदृशतम आदेश होता है ।

विमर्श—जब एक वर्ण के स्थान में अनेक आदेशों की प्राप्ति होती है, तब प्राप्त होने वाले आदेशों के मध्य में जो सबसे अधिक सदृश हो, उसके स्थान में वही आदेश होता है । जैसे 'सुधी+उपास्यः' में 'ई' के स्थान में यण्=य् व् र् ल् चारों की प्राप्ति है, किन्तु ई तथा य् का तालु स्थान समान होने से उक्त चारों वर्णों में से 'य्' सबसे अधिक निकट है । अतः 'ई' के स्थान पर 'य्' आदेश हुआ ।

सादृश्य मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं—१. स्थानतः, २. अर्थतः, ३. गुणतः, ४. प्रमाणतः । (१) दध्यत्र—दधि+अत्र में स्थानी इकार तथा आदेश 'य' दोनों तालु स्थान वाले हैं, अतः स्थानकृत साम्य से इ के स्थान में 'य्' यण् हुआ । (२) क्रोष्टा—यहाँ शृगाल-वाचक क्रोष्टु शब्द और क्रोष्टृशब्द समानार्थक हैं । अतः अर्थकृत सादृश्य को लेकर 'तृज्वत्क्रोष्टुः' सूत्र से क्रोष्टु शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' आदेश हुआ । (३) वाग्घरिः—'वाग्+हरिः' में संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्न वाले हकार में वैसा ही घकार हुआ, क्योंकि उक्त प्रयत्न दोनों के समान हैं । यहाँ गुण से तात्पर्य प्रयत्नों से है । (४) प्रमाणकृत आन्तर्य में मात्रासाम्य अपेक्षित है । अमुष्मै,

(१८) अनचि च ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धस्य द्वित्वम् । **(१९) झलां जश् झशि ८।४।५३।** झलां जश् स्यात् झशि परे । इति पूर्वधस्य दः **(२०) संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३।** संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात् । **(२१) अलोऽन्त्यस्य १।१।५२।** षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात् । इति

---

(१८) **अनचि च** । 'अनचि' इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः । न अच् अनच् तस्मिन्ननचि । 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वे'त्यतो 'यर' इति 'वा' इति चानुवर्तते । 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यत अच इति द्वे इति चानुवर्तते । अत आह—**अचः परस्ये**त्यादिना ।

(२१) **अलोऽन्त्यस्य** । अल इति षष्ठ्यन्तम् । अत्र 'षष्ठी स्थाने' इति सूत्रमनुवर्तते । तच्च षष्ठी प्रथमान्ततृतीयान्ततया विपरिणम्यते । विधीयमान आदेश इत्यध्या-

---

अमूभ्याम्—यहाँ क्रमशः ह्रस्व अकार के स्थान में ह्रस्व उकार तथा दीर्घ आकार के स्थान में दीर्घ ऊकार हुए हैं—सूत्र—'अदसोऽसेर्दादुदोमः' (८।२।८०) ।

विशेष—प्रकृत सूत्र में 'षष्ठी स्थानेयोगा' से 'स्थाने' पद की अनुवृत्ति आने से पुनः 'स्थाने' ग्रहण का फल यह है कि जहाँ अनेक प्रकार के सादृश्य प्राप्त हों, वहाँ स्थानकृत सादृश्य ही बलवान् होता है ।

(१८) पद—अनचि च । **अनुवृत्ति**—यरः, वा, अचः, द्वे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अच् से परे यर् को विकल्प से द्वित्व होता है, किन्तु अच् परे रहते द्वित्व नहीं होता । इस प्रकार 'सु ध् य् उपास्यः' में द्वित्व होकर दो धकार हुए—सु ध् ध् य् उपास्य इति ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'यरोऽनुनासिके०' सूत्र से 'यरः' तथा 'वा' एवं 'अचो रहाभ्यां द्वे' से 'अचः' तथा 'द्वे' की अनुवृत्ति आती है । इन सब पदों को जोड़ कर इस प्रकार अर्थ होता है—'अच्' से परे 'यर्' के स्थान में द्वित्व होता है, किन्तु यर् से परे यदि अच् वर्ण हो तो द्वित्व नहीं होगा ।

(१९) पद—झलां जश् झशि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झल् के स्थान पर जश् आदेश होता है, झश् परे रहते ।

विमर्श—झल् प्रत्याहार बोध्य वर्णों के स्थान पर झश् प्रत्याहार बोध्य वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर जश् प्रत्याहार बोध्य वर्ण (ज् ब् ग् ड् द्) हो जाते हैं । इस प्रकार 'सु ध् ध् य् उपास्यः' में पूर्वधकार के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य होने के कारण दन्तस्थानीय (जश् प्रत्याहार बोध्य वर्ण) 'द्' हुआ । क्योंकि पूर्वधकार का पश्चाद्वर्ती धकार झश् प्रत्याहार का है ।

(२०) पद—संयोगान्तस्य लोपः । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—संयोगान्त पद का लोप होता है ।

विमर्श—'पदस्य' (८।१।१६) के अधिकार में होने से प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' की अनुवृत्ति आती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषासूत्र के साथ एकवाक्यता होने से यह अर्थ निष्पन्न होता है—जिस पद के अन्त में संयोग (संयुक्त वर्ण) हों, उसके अन्त्य वर्ण का लोप होता है ।

(२१) पद—अलः, अन्त्यस्य । **अनुवृत्ति**—षष्ठी (स्थाने) । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—षष्ठी-निर्देश से विधीयमान कार्य अन्त्य अल् के स्थान में हो ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र से षष्ठी व स्थाने की अनुवृत्ति आती हैं । अल् प्रत्याहार के अन्तर्गत सभी वर्ण आ जाते हैं । इस प्रकार 'सूत्र में षष्ठ्यन्त पद का निर्देश कर

यलोपे प्राप्ते । (वा० यणः प्रतिषेधो वाच्यः) सुद्ध्युपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाकृतिः । (२२) एचोऽयवायावः ६।१।७८ । एचः क्रमात् अय्, अव्, आय्, आव्,

---

ह्रियते । अतः स्थाने विधीयमान आदेशः षष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्त्य अल् तस्य स्यादित्यर्थः । **यणः प्रतिषेध** इति । संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य यणो लोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । **सुद्ध्युपास्य** इति । अत्र 'सुधी + उपास्यः' इति स्थिते 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति सूत्रेण सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्यैवेति नियमविधानात् 'स्थानेऽन्तरतमः' इति सूत्रेण च सदृशतमादेशविधान-नियमात् 'इको यणचि' इत्यनेन ईकारस्य स्थाने 'य्' इति यणादेशे 'अनचि च' इति सूत्रेण धकारस्य विकल्पेन द्वित्वे, सु ध् ध् य् + उपास्य इति जाते 'झलां जश् झशि' इति सूत्रेण प्रथमधकारस्य दकारे 'सु द् ध् य्+उपास्यः' इत्यवस्थायाम् 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषैकवाक्यतया 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन यलोपनिषेधे सति 'सुद्ध्युपास्यः' इति रूपं सिद्धम् । मधोः अरिः मद्ध्वरिः = मधुनामकदैत्यस्य शत्रुरिति । 'मधु + अरिः' इति च्छेदः । धातुरंशः धात्त्रंशः । ऌ + आकृतिः = लाकृतिः ।

(२२) **एचोऽयवायावः** । एचः षष्ठ्यन्तम्, अयवायावः प्रथमान्तम् । अय् च अव् च आय् च आव् चेति विग्रहः । 'इको यणची'त्यतोऽचीत्यनुवर्तते ।

जहाँ आदेश का विधान किया गया हो, वह अन्तिम वर्ण को होता है ।' तदनुसार 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र की प्रकृत सूत्र से एकवाक्यता होने पर 'सु द् ध् य् उपास्यः' यहाँ अन्तिम वर्ण 'य्' का लोप प्राप्त हुआ । उसका निषेध वार्तिक द्वारा किया जा रहा है—

(वा०) 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' संयोगान्त पद के अन्तिम यण्=य् व् र् ल् का लोप नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए । इस प्रकार 'सुद्ध्युपास्यः' रूप सिद्ध हुआ । इसका अर्थ है— 'सुधीभिः उपास्यः' अर्थात् विद्वानों द्वारा उपासना करने योग्य ।

'मधु + अरिः' यहाँ उकार को यण् वकार—'म ध् व् अरिः'—ध् का द्वित्व, जश्त्व पूर्व ध् को द् होकर 'मद्ध्वरिः'=मधु नामक दैत्य के शत्रु=विष्णु । 'धातृ + अंशः' ऋकार के स्थान पर यण् 'र्' तथा 'त्' को द्वित्व होकर 'धात्त्रंशः' रूप हुआ । धात्त्रंशः=ब्रह्मा का अंश । 'ऌ + आकृतिः' =लाकृतिः—ऌ के स्थान में 'ल्' होकर 'लाकृतिः' रूप सिद्ध होगा='ऌ की आकृति की तरह स्वरूप वाला' अर्थ है ।

(२२) पद—एचः, अयवायावः । **अनुवृत्ति**—अचि, संहितायाम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—एच् के स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं, अच् परे रहते ।

विमर्श—यहाँ एच्=ए, ओ, ऐ, औ स्थानी है और अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हैं । दोनों की संख्या चार है । 'इको यणचि' सूत्र से 'अचि' पद अनुवृत्त है । तदनुसार यथासंख्य-परिभाषा द्वारा स्थानी तथा आदेश की समान संख्या होने के कारण क्रमशः ए=अय्, ओ= अव्, ऐ=आय् और औ=आव् आदेश होते हैं ।

प्रसङ्गवश उद्देश्य और विधेय के समानसंख्यक होने पर व्यवस्था-निर्देशक सूत्र की व्याख्या की जा रही है ।

एते स्युरचि । (२३) यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१० । समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः । (२४) वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९ । यादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् । (वा० अध्वपरि-

---

(२३) **यथासङ्ख्यमिति** । अत्र समानामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । साम्यञ्चात्र सङ्ख्यातो विवक्षितम् । अनुदिश्यत इत्यनुदेशः । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोः समसङ्ख्यत्वे क्रमात्कार्यं स्यादित्यर्थः । हरे + ए = हरये । विष्णो + ए = विष्णवे । नै + अकः = नायकः । पौ + अकः = पावकः ।

(२४) **यकारादाविति** । अत्र 'यि' इति प्रत्यये इत्यस्य विशेषणम् । सप्तम्यन्ते वर्णग्रहणे यो विधिः सः—तद्वर्णादौ ज्ञेय इत्यर्थक 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषया तदादिलाभेन यकारादावित्यर्थलाभः । **गव्यमिति** । गोशब्दात् 'गोपयसोर्यत्' इत्यनेन विकारार्थे यत्प्रत्यये कृते 'गो + यम्' इति स्थिते, ओकारस्याऽच्परकत्वाभावात् 'एचोऽयवायावः' इत्यनेनावादेशाप्राप्तौ 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यकारादौ

---

(२३) पद—यथासंख्यम् , अनुदेशः, समानम् । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—समान सम्बन्धी विधि क्रमशः संख्यानुसार होती है ।

विमर्श—यह परिभाषा सूत्र है । स्थानी और आदेश की समान संख्या होने पर आदेश की प्रवृत्ति क्रमानुसार प्रथम को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय, तृतीय को तृतीय—इस प्रकार से होती है । यहाँ 'यथासंख्यम्' का अर्थ है (संख्यामनतिक्रम्य-अव्ययीभाव स०)—क्रमानुसार[1] । इस परिभाषा की उपस्थिति से पूर्व सूत्र द्वारा एच्—ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर विधीयमान आदेश क्रमशः होते हैं ।

हरे+ए, विष्णो+ए, नै+अकः, पौ+अकः में क्रमशः ए=अय्—हरये (हरि के लिए) । ओ=अव्—विष्णवे (विष्णु के लिए) । ऐ=आय्—नायकः (नेता) । औ=आव्—पावकः (अग्नि) ।

(२४) पद—वान्तः यि प्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय के परे 'ओ' तथा 'औ' को वान्त (अव्, आव्) आदेश होते हैं । गौ का विकार—गव्यम् (घी, दूध इत्यादि) । यहाँ विकार अर्थ में 'गोपयसोर्यत्' सूत्र से यत्प्रत्यय, विभक्तिकार्य गो+यम् , ओ=अव् आदेश हुआ है । नाव्यम् (नावा तार्यम्=नौका से पार करने योग्य जल)—नौ+यम् ('नौवयोधर्म०' से यत्प्रत्यय), औ=आव् <नाव्यम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अव्' तथा 'आव्' आदेशों के लिए 'वान्त' पद का प्रयोग किया गया है । अतः 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' के अनुसार 'अव्' तथा 'आव्' आदेशों से 'ओ' तथा 'औ' स्थानी का ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सन्धि के विषय में यकारादि परे रहने पर ओ एवम् औ के स्थान में क्रमशः अय् तथा आव् आदेश होते हैं ।

(वा०) अध्व=मार्ग के परिमाण (नाप) अर्थ में गो शब्द को यूति शब्द के परे वान्त आदेश होता है । उदाहरण—गव्यूतिः । गो+यूतिः, ओ=अव्—गव्यूतिः (यूतिः—यु+क्तिन् (ति)

---

१. 'सङ्ख्याशब्देन क्रमो लक्ष्यते । यथासङ्ख्ये यथाक्रममनुदेशो भवति ।' (काशिका)

माणे च) गव्यूतिः । (२५) धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८० । यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । तन्निमित्तस्य

प्रत्यये परेऽवादेशे गव्यमिति रूपम् । नावा तार्यं नाव्यम् । नौ + यम् । 'नौवयोधर्म०' इत्यादिना यत्प्रत्ययः । **अध्वपरिमाणे चेति** । मार्गपरिमाणे गम्यमाने गोशब्दाद् यूतिशब्दे परेऽवादेशो भवतीत्यर्थः । गो + यूतिः = गव्यूतिः, क्रोशयुगमित्यर्थः ।

(२५) **धातोस्तन्निमित्तस्यैवेति** । अत्र एच इति 'वान्तो यि प्रत्यय' इति चानुवर्तते । यादिप्रत्यये परे धातोरेचो भवन् वान्तादेशः यादिप्रत्ययनिमित्तकस्यैव एचो भवति, अन्यस्य नेत्यर्थः । सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव सिद्धे एवकारस्तु विपरीतनियमवारणार्थः । अन्यथा तन्निमित्तस्यैचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि धातोरेवेति नियमः स्यात् तथा च 'बाभ्रव्य' इत्यत्र वान्तादेशो न स्यात् । **लव्यमिति** । लूञ्धातोः 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोरि'ति गुणे 'लो + यम्' इत्यत्र वान्तादेशे लव्यमिति रूपम् । **अवश्यलाव्यमिति** । 'ओरावश्यके' इति लूञो ण्यत् 'अचो ञ्णिति' इत्यनेन ऊकारस्य वृद्धिः औकारः, अवश्यमित्यव्ययम्, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । औकारस्य

'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' से निपातन से उ को दीर्घ ऊ = यूतिः) । अमरकोष के अनुसार 'गव्यूतिः' का अर्थ 'दो कोस' है ।

(२५) पद—धातोः, तन्निमित्तस्य एव । **अनुवृत्ति**—वान्तः, यि प्रत्यये, एचः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—यकारादि प्रत्यय के परे धातु के एच् को यदि वकारान्त आदेश हो तो यकारादि-प्रत्यय-निमित्तक एच् को ही हो; अन्य को नहीं । सूत्र में तन्निमित्तक पद का ग्रहण क्यों किया गया ? ओयते । औयत ।

विमर्श—यह नियमसूत्र है । पूर्व सूत्रों से यहाँ 'वान्तः, यि प्रत्यये तथा 'एचः' पदों की अनुवृत्ति आती है । अतः धातु के अवयव एच् = स्थानी है और वान्त = अव् तथा आव् आदेश हैं । सामान्यतः पूर्व सूत्र से यकारादि प्रत्यय के परे रहते ओ तथा औ को क्रमशः अव् तथा आव् आदेश होते हैं, किन्तु यह सभी धातुओं में नहीं होता । उस सामान्य वचन का यहाँ नियमन किया गया है । नियम की व्यवस्था 'एव' शब्द द्वारा की गई है । तदनुसार य् वर्ण से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय के परे रहते धातु के एच् को वान्तादेश हो तो वह एच् यादि-प्रत्यय-निमित्तक ही होना चाहिए; अन्यथा नहीं । **उदाहरण**—१. लव्यम् । √लू + यत् (य) गुण लो + य्, वान्त = अव् आदेश < लव्य + सु (अम्) = लव्यम् (काटने योग्य) । इस उदाहरण में यकारादि प्रत्यय 'यत्' है, उसी को निमित्त मानकर 'सार्वधातु०' से उ = ओ गुण । अतः ओकार के स्थान पर अव् आदेश हुआ । २. अवश्यलाव्यम्—'अवश्य + √लू + ण्यत् (य) 'अचो ञ्णिति' सूत्र से उ को वृद्धि 'औ' < अवश्य लौ + य औ = अवादेश < अवश्यलाव्य + सु (अम्)—अवश्यलाव्यम् (अवश्य काटने योग्य) । **प्रत्युदाहरण**—'ओयते । औयत ।' प्रकृत सूत्र में तन्निमित्तक पद का ग्रहण होने से 'य्' वर्ण से आरम्भ होने वाले प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाले ओ तथा औ क्रमशः अव् तथा आव् आदेशों का विधान किये जाने से 'ओयते' तथा 'औयत' में वान्त आदेश = (अव् तथा आव्) नहीं होते हैं । इन दोनों प्रत्युदाहरणों में ओ तथा औ यादि-प्रत्यय-निमित्तक नहीं है । यथा—(१) ओयते—आङ् + √वेञ् + लट् (कर्म में प्रत्यय) (ते), यक्—आ + वे +

किम् ? ओयते । औयत । (२६) क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ६।१।८१ । यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् । क्षय्यम् । जय्यम् । शक्यार्थे किम् ? क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः । (२७) क्रय्यस्तदर्थे ६।१।८२ । तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्धया आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः । (२८) अदेङ्गुणः

धात्ववयवत्वाद् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । तन्निमित्तस्यैवेति किम् ? नियमस्य किं प्रयोजनमित्याशयः । **ओयत इति** । आङ्पूर्वाद् वेञ्धातोः कर्मणि लट् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे यकि, सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्' इति दीर्घे, आङा सहोकारस्य गुणे तस्य यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाभावान्न वान्तादेशः । **औयत इति** । वेञः कर्मणि लङ्, यगादि प्राग्वत् आटि 'आटश्चे'ति वृद्धिः ।

(२६) **क्षय्यजय्याविति** । क्षिधातोः जिधातोश्च 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यये गुणे क्षे+यम्, जे+यम्—इत्यत्र अयादेशस्याप्राप्तौ शक्यार्थे निपातनम्, **क्षेयमिति** । 'अर्हे कृत्यतृचश्चे'ति यत् । स च न शक्यार्थ इति नात्र यान्तादेशः ।

(२७) **प्रकृत्यर्थायेति**—प्रकृत्यर्थो द्रव्यविनिमयः ।

य+ते, व=उ (सम्प्रसारण) पूर्वरूप<आ+उ+य+ते गुण<ओयते । (२) औयत—आ+√वेञ्+लङ् (कर्म में) त, यक्—आ+वे+य+त, सम्प्रसारण, पूर्वरूप<आ+उ+य+त, आट् का आगम, दीर्घ, 'आटश्च' से वृद्धि=औयत (बुना गया) ।

(२६) पद—क्षय्यजय्यौ, शक्यार्थे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शक्य अर्थ में क्षय्य और जय्य निपातन[1] से सिद्ध होते हैं । क्षय होने में शक्य=क्षय्यम् । जीतने में समर्थ=जय्यम् । सूत्र में शक्यार्थ पद का ग्रहण क्यों किया ? योग्यता अर्थ में यान्तादेश न हो, अतः 'शक्यार्थ में' कहा गया है । यथा—क्षेयम् (पापम्)=नाश करने योग्य पाप । जेयम् मनः (जीतने योग्य मन) ।

विमर्श—शक्य अर्थ में निपातन (विशेष विधान) करने के लिए प्रकृत सूत्र की रचना की गई है । पूर्व सूत्र से अय् आदेश की अप्राप्ति में यह व्यवस्था की गई है । उदाहरण—१. √क्षि+यम् (यत्), गुण <क्षे+यम्, निपातन से अय् आदेश—क्षय्यम् । २. जय्यम्—जि+यम् (यत्), गुण, जे+यम्, अय् आदेश<जय्यम् ।

(२७) पद—क्रय्यः, तदर्थे । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'ग्राहक खरीदें' इस दृष्टि से जो वस्तु बाजार में फैलाकर रखी जाती है—इस अथ में 'क्रय्यम्' शब्द निपातन से सिद्ध होता है । बेचने योग्य अर्थ में 'क्रेयम्' होता है ।

विमर्श—यहाँ 'तदर्थे' पद से धातु का अर्थ लिया जाता है (तस्मै इदं=तदर्थम्, तस्मिन्) । तदनुसार क्री धातु का अर्थ द्रव्य-विनिमय=खरीदना है । मूल्य देकर खरीदने हेतु प्रसारित वस्तु के लिए 'क्रय्यम्' का प्रयोग होता है । प्रक्रिया इस प्रकार है—√क्री+यम् (यत्), गुण<क्रे+

---

१. जो शब्द लोक में जैसे सुने जाते थे—प्रचलित थे, उनका उसी रूप में आचार्यों ने उल्लेख कर दिया है । ऐसे शब्दों के विषय में उनके अर्थ के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय कल्पित कर दिये जाते हैं—

'धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च ।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम् ॥' —महाभाष्यप्रदीपः ५।२।११४

१।१।२। अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात्। (२९) तपरस्तत्कालस्य १।१।७०। तः परो यस्मात् तात्परो वा उच्चार्यमाणो वर्णः समकालस्यैव संज्ञा स्यात्। (३०) आद् गुणः ६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्। उपेन्द्रः। रमेशः। गङ्गोद-

---

(२८) **अदेङ्गुण इति**। अच्च एङ् चेति समाहारद्वन्द्वः। अत् एङ् इत्युभयत्र तपरकरणम्। तथा च 'अ' इति ह्रस्वाकारस्यैव 'ए, ओ' इति द्विमात्रस्यैव गुणसंज्ञा।

(२९) **तपर इति**। अत्र बहुव्रीहितत्पुरुषसमासद्वयम्, अत आह—**तः परो यस्मादिति**। समकालस्यैव = उच्चार्यमाणसमानकालिकस्यैवेत्यर्थः।

(३०) **आद्गुण इति**—'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारः। 'इको यणचि' इत्यतोऽचि इत्यनुवर्तते। अत आह—**अवर्णादचीत्यादिना**। **उपेन्द्र** इति। 'उप + इन्द्रः' इति स्थितेऽत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः अकार-इकारयोः स्थाने कण्ठतालुस्थानकः

यम्, निपातन से अय् आदेश—क्रय्यम्। 'केवल बेचने योग्य वस्तु, जो घर में या अन्यत्र रखी है' अर्थ में 'क्रेयम्' प्रयोग होता है। यहाँ अय् आदेश नहीं होता।

(२८) पद—अदेङ्, गुणः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व अकार तथा एङ् = ए, ओ की गुणसंज्ञा होती है।

(२९) पद—तपरः तत्कालस्य, **अनुवृत्ति**—सवर्णस्य, स्वं रूपम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—तकार है परे जिससे अथवा तकार से परे (त् से पूर्व अथवा पश्चात्) जो अच्, वह उच्चार्यमाण समान काल का ही बोधक होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्व दो सूत्रों से 'सवर्णस्य' तथा 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति आती है। 'तपरः' पद में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दो समास है—(१) तः परः यस्मात् सः तपरः (बहु०)। (२) तात् परः = तपरः (तत्पुरुषः)। 'तत्कालः' पद में उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि समास है—तत्काल इव कालो यस्य सः। इस प्रकार 'त्' है परे जिससे अथवा 'त्' से परे जो स्वर वर्ण, वह उच्चार्यमाण समानकाल (मात्रा) का बोधक होता है। उदाहरणतः—उक्त सूत्र 'अदेङ् गुणः' में 'अत्' शब्द में उच्चरित अकार केवल ह्रस्व (छह प्रकार का) अकार का बोधक होगा, क्योंकि अ के बाद तकार है। इसी प्रकार 'एङ्' पद में ए तथा ओ केवल द्विमात्रिक एकार तथा ओकार के बोधक होंगे, क्योंकि यहाँ एङ् पद 'त्' के पश्चात् आया है (तात् परः)।

विशेष—'अणुदित्० इत्यादि ग्रहणकशास्त्र के अन्तर्गत समकाल का बोध कराने वाला होने से इस सूत्र को संज्ञासूत्र कहा गया है।

(३०) पद—आत्, गुणः। **अनुवृत्ति**—अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में गुण रूप एकादेश होता है।

विमर्श—सूत्र में दो पद हैं—'आत्' और 'गुणः'। 'आत्' पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। तपरकरण नहीं है। 'इको यणचि' से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। तदनुसार अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान में एक गुण (अ, ए, ओ) आदेश होता है। **उदाहरण**—उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः। यहाँ पकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् अच् वर्ण 'इ' है। अतः दोनों वर्ण अ + इ (स्थान-साम्य होने के कारण मिलकर) गुण 'ए' हो गये। अ (कण्ठ स्थान) + इ (तालु) = ए (कण्ठतालु स्थान)। इसी

कम् । (३१) उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२ । उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञाः । (३२) उरण् रपरः १।१।५१ । ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्, तत्स्थाने

गुणसंज्ञकः एकारो जातः, तेन 'उपेन्द्रः' इति सिद्धम् । रमा + ईशः, गङ्गा + उदकम् इति च्छेदः ।

(३१) **उपदेशेऽजित्** । उपशब्द आद्यर्थकः । दिशिरुच्चारणक्रियायाम् । उपदेशनमुपदेशः, भावे घञिति मनोरमाकारः । अनिर्ज्ञातस्वरूपस्य कार्यार्थं स्वरूपज्ञापनार्थमपूर्वोच्चारणं ह्युपदेशः । **प्रतिज्ञेति** । प्रतिज्ञायत इति प्रतिज्ञा । अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम् । प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषां ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः = पाणिन्यादिप्रोक्ता वर्णाः प्रतिज्ञामात्रबोध्यानुनासिक्यवन्त इत्यर्थः । **लण्सूत्रस्येति** । लण्सूत्रे तिष्ठतीति लण्सूत्रस्थः, स चासौ अवर्णश्च लण्सूत्रस्थावर्णः, तत्र सहोच्चार्यमाणो रेफः 'र्' इत्येवंरूपः रेफलकारयोः संज्ञा = बोधक इत्यर्थः ।

(३२) **उरणिति**—उः अण् रपरः इति च्छेदः । 'उः' इति ऋशब्दस्य षष्ठ्येकवचनम् । 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतः स्थाने ग्रहणमनुवर्तते तदाह—**ऋ इत्यादिना** । रपरः

प्रकार—रमा + ईशः = रमेशः । आ + ई = ए । गङ्गा + उदकम् = गङ्गोदकम् । आ + उ = ओ (गङ्गा का जल) ।

'गुणसन्धि-बोधक चक्र'

स्थानी +	स्थान	आदेश	
अ (कण्ठ) +	इ (तालु) =	ए—(कण्ठतालु)	
अ (कण्ठ) +	उ (ओष्ठ) =	ओ (कण्ठोष्ठ)	
अ (कण्ठ) +	ऋ (मूर्धा) =	अ (अर्—कण्ठमूर्धा)	द्रष्टव्य—
अ (कण्ठ) +	लृ (दन्त) =	अ (अल्—कण्ठदन्त)	'उरण् रपरः'

विशेष—गुण-सन्धि की बाधक दीर्घ तथा वृद्धि सन्धि है ।

(३१) पद—उपदेशे, अच्, अनुनासिक, इत् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—उपदेशावस्था में अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा होती है । गुरु-परम्परा द्वारा निश्चयात्मक कथन से पाणिनि प्रोक्त वर्णों की अनुनासिकता का ज्ञान किया जाता है । 'लण्' सूत्र में इत्संज्ञक अ वर्ण के साथ उच्चरित रेफ 'र्' और 'ल्' का बोधक होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र के अनुसार पाणिनि आदि त्रिमुनि द्वारा संकेतित अनुनासिक अच् वर्ण इत्संज्ञक होते हैं । प्राचीन काल में कोई चिह्न-विशेष अच् वर्णों की अनुनासिकता का द्योतक होता था । अब केवल इत्संज्ञा रूप कार्य से कारण स्वरों की अनुनासिकता जानी जाती है । उदाहरणतः 'लण्' में लकारोत्तरवर्ती 'अ'कार की इत्संज्ञा पाणिनि द्वारा अनुनासिक माने जाने के कारण होती है । परिणामस्वरूप 'हयवरट्' सूत्र का 'र्' 'लण्' के अ के साथ मिलकर 'र' प्रत्याहार के रूप में र् और ल् इन दो वर्णों का बोध कराता है ।

(३२) पद—उः अण्, रपरः । **अनुवृत्ति**—स्थाने । **परिभाषासूत्र** ।

मूलार्थ—ऋकार के तीस प्रकार संज्ञा-प्रकरण में कहे जा चुके हैं । उसके स्थान पर होने वाला अण् रपर होकर ही प्रवृत्त होता है ।

योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः । (३३) लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९ । अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे । (३४) पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१ । अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं

=रप्रत्याहारपर इत्यर्थः । तेन 'ऋ'स्थाने अर् 'ऌ' स्थाने च अल् विधीयते । **कृष्णर्द्धिरिति ।** 'कृष्ण + ऋद्धिः' इत्यत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः अकार-ऋकारयोः स्थाने रेफशिरस्कोऽकारे कृते, जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमने सति 'कृष्णर्द्धिः' इति सिद्धम् । 'तव + ऌकारः' इति च्छेदः ।

(३३) **लोप इति ।** 'झरो झरि' इत्यतः अपूर्वस्येति अशीति चानुवर्तते । 'व्योर्लघु०' इत्यतः व्योरित्यनुवर्तते । अत आह—अवर्णेति ।

(३४) **पूर्वत्रासिद्धमिति ।** अधिकारसूत्रमिदम् । स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा ऋ के स्थान में होने वाले आदेश की विशेष व्यवस्था की जा रही है । ऋ और ऌ के स्थान में गुणादि की प्राप्ति होने पर अ, ए, ओ इत्यादि में से कोई भी उसका अन्तरतम स्थानी नहीं है । अतः प्रकृत सूत्र में स्थाने पद की अनुवृत्ति आने से यह सूत्रार्थ होता है—(उः स्थाने) ऋ के स्थान में होने वाला अण् यदि प्राप्त है तो वह र के साथ ही प्रवृत्त होगा । 'र' से रप्रत्याहार=र् , ल् का ग्रहण होता है । **उदाहरण—**कृष्णर्द्धिः । कृष्ण+ऋद्धिः 'आद् गुणः' से गुण—अ+ऋ+अ, 'उरण् रपरः' सूत्र से रपर—(अर्) कृष्ण् अर् द्धिः=कृष्णर्द्धिः (कृष्ण का ऐश्वर्य) । यहाँ 'कृष्ण+ऋद्धिः' में णकारोत्तरवर्ती अ और ऋ के स्थान में कौन-सा गुण हो ? ऐसी शंका होती है; क्योंकि अ और ऋ में स्थानकृत समानता नहीं मिलती । 'अ' का कण्ठ और ऋ का मूर्धा स्थान है । ऐसा गुणसंज्ञक कोई वर्ण नहीं है, जिसका कण्ठ-मूर्धा स्थान हो, तथापि दग्धाश्वरथन्याय से (दो राजा वन में अपने-अपने रथ से गये । जंगल में आग लगने से एक का रथ जल गया, दूसरे का घोड़ा पलायित हुआ । ऐसी परिस्थिति में दोनों में अभाव की तुल्यता है । दोनों का परस्पर सहायतार्थ संयोजन होता है । तब 'अश्वो नष्टः, मम रथो दग्धः, आवयोः संयोगः' । उसी प्रकार यहाँ अकार गुण को स्थानी की अपेक्षा है और ऋकार को गुण-संज्ञक आदेश की) अ और ऋ परस्पर स्थानाभावरूप आनन्तर्य से जुड़ गये=गुण अकार 'उरण् रपरः' की सहायता से रपर् अर्, जलतुम्बिकान्यायेन रेफ का ऊर्ध्वगमन होने पर 'कृष्णर्द्धिः' सिद्ध हुआ । इसी प्रकार तव+ऌकारः गुण—रपर (अल्) <तव्+अल्+कारः= तवल्कारः (तुम्हारा ऌकार) ।

(३३) पद—लोपः शाकल्यस्य । **अनुवृत्ति—**पूर्वस्य, अशि, व्योः पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवर्णपूर्वक पदान्त यकार, वकार का विकल्प से लोप होता है, अश् परे रहते ।

विमर्श—'शाकल्य के मत में लोप होता है' यह सूत्रगत पदों का अर्थ है । 'किस स्थिति में किन वर्णों का लोप हो' ? इस शङ्का का समाधान पूर्वसूत्रों से अनुवृत्ति किये जाने पर होता है । अतः 'भोभगो०' (८।३।१७) से 'अपूर्वस्य' तथा 'अशि' एवं 'व्योर्लघु०' (८।३।१८) से 'व्योः' की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । इस प्रकार अवर्णपूर्वक पदान्त यकार-वकार का अश् परे रहते शाकल्य के मत में लोप होता है । अन्य आचार्यों के मत में लोप का विधान न होने के कारण विकल्प से लोप कहा गया है ।

(३४) पद—पूर्वत्र, असिद्धम् । **अधिकारसूत्र ।**

प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह। विष्ण इह। हरयिह। विष्णविह। (३५) **वृद्धिरादैच् १।१।१।** आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्। (३६) **वृद्धिरेचि ६।१।८८।** आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौ-

---

उत्तरसूत्रेण सहैकवाक्यतयार्थबोधजनकत्वमधिकारत्वम्। अष्टाध्याय्या द्वितीयपादस्यादिमं सूत्रमिदम्। इतःपरं सर्वत्रैवाधिक्रियत अत एव त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धमिति सङ्गच्छते।

(३६) 'आद् गुणः' इत्यतः आदित्यनुवर्तते। **गुणापवाद** इति। निरवकाशो विधिरपवादः।

मूलार्थ—यह अधिकार सूत्र है। सपादसप्ताध्यायीस्थ (सवा सात अध्यायों के) सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादीस्थ (अष्टमाध्याय के अन्तिम तीन पादों) के सूत्र असिद्ध होते हैं। त्रिपादी में भी पूर्वसूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है।

विमर्श—पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रथम से अष्टमाध्याय के प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी और अष्टम अध्याय के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पादमात्र त्रिपादी कहे जाते हैं।

उदाहरण—हरे+इह, विष्णो+इह। यहाँ 'एचोऽयवायावः' सूत्र से क्रमशः ए=अय्, ओ=अव् आदेश हो जाने पर 'हर् अय् इह, विष्ण् अव् इह' स्थिति में आदेशावयव य् और व् पद के अन्त में हैं; उसके पूर्व 'अ' है। दोनों प्रयोगों में य्, व् के पश्चात् 'इ' (अश्) होने से 'लोपः शाकल्यस्य' से य्, व् का लोप हो गया—हर इह। विष्ण इह। यहाँ इन दोनों उदाहरणों में अ+इ=ए गुणसन्धि प्राप्त है, परन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' के प्रभाव से लोपशास्त्र के असिद्ध होने के कारण स्वरसन्धि नहीं होती। लोप का विकल्प से विधान होने से पक्ष में हरयिह, विष्णविह।

(३५) पद—वृद्धिः आदैच्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—आत् (आ) ऐच् (ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा हो।

विमर्श—सूत्र में 'वृद्धिः' संज्ञा है, 'आदैच्' संज्ञी। संज्ञी होने के कारण 'आदैच्' पद उद्देश्य है तथा संज्ञा होने से 'वृद्धिः' पद विधेय है। अतः 'अदेङ् गुणः' आदि की तरह यहाँ भी उद्देश्य का कथन पूर्व में होना चाहिए। यहाँ इस नियम की अपेक्षा इसलिए की गई है कि अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र होने से 'वृद्धिः' पद यहाँ मङ्गलार्थक है।[1]

(३६) पद—वृद्धिः, एचि। **अनुवृत्ति**—आत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अवर्ण से एच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एक आदेश होता है। 'गुण' सन्धि का अपवाद है।

विमर्श—'आद् गुणः' से अनुवृत्त पद 'आत्' तथा सूत्रस्थ 'एच्' पद स्थानी है। आदेश (वृद्धि) से आ, ऐ, औ वर्णों का ग्रहण होता है। 'आ के बाद एच्=ए, ओ, ऐ, औ वर्णों के रहते हुए पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान पर एक ही वृद्धि रूप आदेश होता है।

(१) 'अ' या 'आ'+ए=ऐ। (२) 'अ' या 'आ'+ऐ=ऐ।

(३) 'अ' या 'आ'+ओ=औ। (४) 'अ' या 'आ'+औ=औ।

उदाहरण—(१) कृष्ण+एकत्वम् (अ+ए=ऐ)=कृष्णैकत्वम्। अर्थ—कृष्ण की एकता।

---

१. 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते'—महाभाष्यम् (सूत्र १।१।१)।

त्कण्ठयम् । (३७) एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९। अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धि-रेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम् ? उपेतः। मा भवान्प्रेदिधत् । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी । स्वैरिणी । (अक्षादूहिन्यामुप-सङ्ख्यानम्) अक्षौहिणी सेना । (प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु) प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । (ऋते च तृतीयासमासे) सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् । परमर्तः ।

---

(३७) एतिश्च एधतिश्च ऊठ् चेति विग्रहः । अत्र 'वृद्धिरेचि' इत्यतः एचीत्य-नुवर्तते । 'एत्येधती' इमौ श्तिप् निर्दिष्टौ । इण् गताविति, एध् वृद्धाविति धातू विवक्षितौ 'यस्मिन्विधिः' इति परिभाषाबलेन एजादाविति लभ्यते । तच्च एत्येधत्योरेव विशेषणम्, न तु ऊठोऽसम्भवात् । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकृतम् । 'आद् गुणः' इत्यतः आदित्यनुवर्तते । तदाह—**अवर्णादित्यादिना** । 'येन नाप्राप्तौ यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवती'ति न्यायेन 'एङि पररूपम्' इति पररूपस्य 'आद् गुणः' इति गुणस्य चापवादोऽयम् ।

---

(२) गङ्गा+ओघः (आ+ओ=औ)=गङ्गौघः । अर्थ—गङ्गा का प्रवाह । (३) देव+ऐश्वर्यम् (अ+ऐ=ऐ)=देवैश्वर्यम् । अर्थ—हे देव ! आपका ऐश्वर्य । (४) कृष्ण+औत्कण्ठ्यम् (अ+औ=औ)=कृष्णौत्कण्ठ्यम् । अर्थ—कृष्ण की उत्कण्ठता ।

(३७) पद—एत्येधत्यूठ्सु । **अनुवृत्ति**—वृद्धिः, एचि, आत् । **विधिसूत्र** ।

अर्थ—अवर्ण से एजादि एति, एधति और ऊठ् परे हो तो पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एक आदेश होता है । पररूप और गुण सन्धि का यह अपवाद-सूत्र है । (१) उपैति—उप+एति (अ+ए=ऐ) वृद्धि=उपैति । अर्थ—समीप जाता है । (२) उपैधते—उप+एधते (अ+ए=ऐ) वृद्धि=उपैधते । अर्थ—समीप में बढ़ता है । इन दोनों उदाहरणों में पररूप (६।१।९४) प्राप्त था, उसके अपवादस्वरूप प्रकृत सूत्र से वृद्धि हुई । (३) प्रष्ठौहः—प्रष्ठ+ऊहः, (अ+ऊ=औ) वृद्धि=प्रष्ठौहः । अर्थ—बैल । यहाँ गुणसन्धि (६।१।८७) प्राप्त थी, उसके अपवादस्वरूप वृद्धि हुई ।

प्रकृत सूत्र में एज् आदि विशेषण क्यों कहा ? उपेतः, मा भवान्प्रेदिधत् । सूत्र में एजादि पद इण् तथा एध् के विशेषण के रूप में न होने पर 'उप+इतः' तथा 'प्र+इदिधत्' में भी वृद्धि प्राप्त होने लगेगी । वृद्धि न हो, इसलिए एजादि पद दोनों धातुओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । अतः दोनों प्रत्युदाहरणों में धातु का पूर्व वर्ण एकार रहित होने से वृद्धि नहीं हुई, किन्तु 'आद् गुणः' से गुण हुआ; उपेतः=समीप गया हुआ । मा भवान्प्रेदिधत्=आप बहुत न बढ़ें ।

(वा०) स्व शब्द के अवर्ण से परे ईर तथा ईरिन् शब्द का अच् हो तो पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि रूप एकादेश होता है । (१) स्वैरम्—स्व+ईरम् (अ+ई=ऐ)=स्वैरम् । अर्थ—स्वच्छन्द । (२) स्वैरी—स्व+ईरी (अ+ई=ऐ वृद्धि)=स्वैरी । अर्थ—स्वेच्छा से गमन करनेवाला । (३) स्वैरिणी—स्व+ईरिणी (अ+ई=ऐ)=स्वैरिणी । अर्थ—स्वेच्छाचारिणी स्त्री । यहाँ 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा की प्रवृत्ति होने से वार्तिक द्वारा वृद्धि हुई ।

(वा०) अक्ष शब्द से ऊहिनी शब्द परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है । यह वार्तिक प्राप्त गुण का बोधक है । उदाहरण—अक्षौहिणी । अक्ष+ऊहिनी (अ+ऊ=औ, न=ण)=अक्षौहिणी सेना । सेना-विशेष ।

(प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे) प्रार्णमित्यादि । (३८) उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९। प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र । परा । अप । सन् । अनु । अव । निस् । निर् । दुस् । दुर् । वि । आङ् । नि । अधि । अपि । अति । सु । उत् । अभि । प्रति । परि । उप । एते प्रादयः । (३९) भूवादयो धातवः १।३।१ । क्रिया-

---

(३८) **उपसर्गा इति** । क्रियासम्बन्धे सतीत्यर्थः ।

(३९) **भूवादय इति** । भूश्च वाश्चेति भूवौ, आदिश्च आदिश्चेति आदी, भूवौ आदी येषान्ते भूवादयः । भू-प्रभृतयो वा सदृशा इत्यर्थः । सादृश्यञ्चात्र क्रियावाचकत्वेन गृह्यते, तदाह—**क्रियावाचिन इत्यादि** ।

(वा०) प्र शब्द से ऊह, ऊठ, ऊढि, एष, एष्य शब्दों के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। **उदाहरण**—(१) प्र+ऊहः (अ+ऊ=औ)=प्रौहः (अच्छा तार्किक)। (२) प्र+ऊढः (अ+ऊ=औ)=प्रौढः (बढ़ा हुआ प्रौढ़)। (३) प्र+ऊढिः (अ+ऊ=औ)=प्रौढिः (प्रौढ़ता)। (४) प्र+एषः (अ+ए=ऐ)=प्रैषः (प्रेरणा)। (५) प्र+एष्यः (अ+ए=ऐं)=प्रैष्यः (नोकर)।

(वा०) अवर्ण के अनन्तर ऋत शब्द के परे रहते पूर्व तथा पर वर्णों के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है, तृतीयातत्पुरुष समास में। **उदाहरण**—सुख+ऋतः (सुखेन ऋतः)। अ+ऋ=आर्=सुखार्तः। अर्थ—सुख से प्राप्त। **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत वार्तिक में 'तृतीयासमासे' पद न रहने पर 'परमश्चासौ ऋतः' इस विग्रह वाले कर्मधारय समास में वृद्धि होने लगेगी, जो इष्ट नहीं है। अतः 'तृतीयासमासे' पद का ग्रहण किया गया है। यहाँ गुण होने पर (अ+ऋ =अर्) 'परमर्तः' हुआ।

(वा०) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण, दश—इन शब्दों के पश्चात् ऋण शब्द के परे रहते पूर्व एवं पर वर्ण के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। **उदाहरण**—(१) प्रार्णम्। प्र+ऋणम् (अ+ऋ=आर्) वृद्धि=प्रार्णम्। अर्थ—अधिक ऋण। इसी प्रकार वत्सतर+ ऋणम्, कम्बल+ऋणम्, वसन+ऋणम्, दश+ऋणम् इत्यादि में वृद्धि होती है।

(३८) पद—उपसर्गाः, क्रियायोगे। **अनुवृत्ति**—प्रादयः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—क्रिया के योग में प्र आदि की उपसर्ग संज्ञा होती है। प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अति, अपि, सु, उद्, अभि, प्रति, पर, उप— ये प्रादि हैं।

विमर्श—प्रादि उपसर्गों की संख्या २२ है। क्रिया से संयोग होने पर ही उपसर्ग संज्ञा होती है। लौकिक संस्कृत में उपसर्ग धातु से पूर्व लगाये जाते हैं तथा वैदिक संस्कृत में धातु के पश्चात् तथा बीच में भी लगते हैं। धातु के साथ उपसर्ग जोड़ने पर अर्थ-परिवर्तन, अर्थ में प्रकृष्टता आदि प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यथा—हरति (चुराता है), प्रहरति (प्रहार करता है)। सूते, प्रसूते आदि।

(३९) पद—भूवादयः, धातवः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—क्रियावाचक भू आदि की धातुसंज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास है। भूश्च वाश्चेति भूवौ, आदिश्च आदिश्च आदी, भूवौ आदी येषान्ते भूवादयः। अतः 'वा' के सदृश अर्थात् क्रियावाची भू आदि धातुसंज्ञक होते हैं।

वाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः । (४०) उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१ । अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति ॥ (४१) वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२ । आदुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् । (४२) अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६ । अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । इति प्राप्ते । (४३) शरोऽचि ८।४।४९ । द्वे न । प्रार्षभीयति ।

---

(४०) 'आद् गुणः' इत्यतः पञ्चम्यन्तमादित्यनुवर्तते । तच्चोपसर्गविशेषणमतस्तदन्तविधिवर्णान्तादिति लभ्यते । ऋतीति तु धातोर्विशेषणत्वाद् यस्मिन्विधिरिति तदादिलाभेन ऋकारादावित्यर्थः । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारादेकादेशलाभः । 'वृद्धिरेची'त्यतो 'वृद्धिरि'त्यनुवर्तते, तेनोक्तार्थलाभ इति । प्रार्च्छतीति । प्र + ऋच्छति इति दशायाम् ऋच्छतीत्यस्य क्रियावाचकत्वाद् 'भूवादयो धातवः' इत्यनेन धातुसंज्ञायां प्र इत्यस्य क्रियायोगात् 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इत्यनेनोपसर्गसंज्ञायाम् 'उपसर्गादृति धातौ' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने (आ) वृद्धौ रपरे च कृते प्रार्च्छतीति निष्पन्नम् ।

(४१) **वा सुपीति** । 'उपसर्गादृति धातावि'ति सूत्रमनुवर्तते 'आद् गुणः' इत्यतः आदिति, 'वृद्धिरेची'त्यतः वृद्धिरिति चानुवर्तते । आदित्युपसर्गविशेषणत्वेन तदन्तविधिः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबित्यनेन सुबन्तप्रकृतिको धातुर्विवक्षितः ।

(४२) **अचो रहाभ्यामिति** । यरोऽनुनासिक इत्यतो यर् इत्यनुवर्तते । अच इति दिग्योगे पञ्चमी, पराभ्यामिति शेषः ।

(४३) अचि परे शरो न द्वित्वमिति भावः ।

पृथ्वी का पर्यायवाचक भूपद की धातुसंज्ञा नहीं होती है । वैसे ही विकल्पार्थक अव्यय 'वा' पद भी धातुसंज्ञक नहीं होता । क्योंकि वह 'वा' क्रियावाची नहीं है (दधाति क्रियामिति धातुः) ।

(४०) पद—उपसर्गाद्, ऋति, धातौ । **अनुवृत्ति**—आत् , वृद्धि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे रहते पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है । उदाहरण—प्रार्च्छति ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में अनुवृत्त 'आत्' शब्द 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । अतः अवर्णान्त उपसर्ग के बाद ऋकारादि धातु के रहने पर पूर्व और पर वर्ण के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश हो जाता है । जैसे—प्रार्च्छति । प्र + ऋच्छति (अ + ऋ = आर्) प्रार्च्छति । अर्थ—अधिक चलता है ।

(४१) पद—वा, सुपि, आपिशलेः । **अनुवृत्ति**—आत्, उपसर्गात्, ऋति, धातौ, वृद्धिः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि सुब्धातु (नामधातु) पर में हो तो विकल्प से वृद्धि होती है । आपिशलि ग्रहण आदर के लिए है ।

(४२) पद—अचः, रहाभ्यां, द्वे । **अनुवृत्ति**—यरः वा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अच् से परे 'र्' तथा 'ह्' उससे परे यर् वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है ।

(४३) पद—शरः, अचि । **अनुवृत्ति**—द्वे न । **विधि (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—अच् परे रहते शर् को द्वित्व नहीं होता । प्रार्षभीयति, प्रर्षभीयति ।

प्रर्षभीयति । (४४) एङि पररूपम् ६।१।९४ । आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः । प्रेजते । उपोषति । **(४५) अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४ ।** अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् । (शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । सीमन्तः केशवेशे । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । सारङ्गः पशुपक्षिणोः । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् ।

---

(४४) 'उपसर्गात्' इति 'धातौ' इति चानुवर्तते । आदित्यनुवृत्तमुपसर्गादित्यस्य विशेषणम् । 'यस्मिन्विधिरि'ति परिभाषाबलेन तदादिलाभः । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारादेकादेशलाभः । प्रेजते—प्र + एजते इति स्थिते 'वृद्धिरेची'त्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां तां प्रबाध्य 'एङि पररूपमि'त्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशे प्रेजते इति रूपम् । एवम् 'उप + ओषति' इत्यत्रापि बोध्यम् ।

(४५) **अच** इति निर्धारणे षष्ठी । जातावेकवचनम् । अन्त्ये भवः अन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादीति विग्रहः ।

शकन्ध्वादिष्विति । शकन्ध्वादि विषये तत्सिध्यर्थं पूर्वपरयोः पररूपं वाच्यमित्यर्थः । **तच्च टेः ।** अर्थाट्टेः पररूपं भवति । 'शक + अन्धुः' इति स्थिते सवर्णदीर्घे प्राप्तेऽनेन वार्तिकेन टेः पररूपे कृते 'शकन्धुः' इति । कर्क + अन्धुः । कुल + अटा । **सीमन्त इति ।** केशानां रचनाविशेषे गम्यमाने 'सीमन् + अन्तः' इत्यत्रानः पररूपं भवती-

---

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अचो रहाभ्यां द्वे' (८।४।४६) से द्वे तथा 'नादिन्या क्रोशे०' (८।४।४८) से 'न' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार स्वर वर्णों के अनन्तर शर् = श् ष् स् को द्वित्व नहीं होता। **उदाहरण**—प्र + ऋषभीयति (ऋषभमात्मानमिच्छतीत्यर्थे क्यच्) (अ + ऋ = आर्—वृद्धि) < प्र् आर् षभीयति = प्रार्षभीयति । यहाँ 'अचो रहाभ्यां द्वे' से ष् को द्वित्व प्राप्त है। परन्तु 'शरोऽचि' सूत्र के द्वारा निषेध होने से द्वित्व नहीं हुआ। पक्ष में अर्थात् वृद्धि के अभाव में गुण (अ + ऋ = अर्) प्रर्षभीयति ।

(४४) पद—एङि, पररूपम् । **अनुवृत्ति**—आत्, उपसर्गात्, धातौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से एङ् आदि धातु परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। प्रेजते, उपोषति ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'आद् गुणः' से 'आत्', 'उपसर्गादृति०' से 'उपसर्गात्' एवं 'धातौ' की अनुवृत्ति आती है। तब सूत्र का पूर्वोक्त अर्थ होता है। पररूप सन्धि वृद्धि का बाध करती है। **उदाहरण**—(१) प्र + एजते (अ + ए = ए) प्र् एजते = प्रेजते । अर्थ—अधिक काँपता है। (२) उप + ओषति (अ + ओ = ओ) उप् ओषति = उपोषति । अर्थ—उपवास करता है।

(४५) पद—अचः, अन्त्यादि, टि । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके, उस समुदाय की टिसंज्ञा होती है। (वा०)—'शकन्ध्वादिगणपठित शब्दों की सिद्धि के लिए पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश हो और वह भी टिसंज्ञक वर्णों का हो' ऐसा कहना चाहिए। शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । (वा०)—केशप्रसाधन अर्थ वाच्य हो तो 'सीमन्तः', भिन्न अर्थ में सीमान्तः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । (वा०)—पशु-पक्षी अर्थ वाच्य हो तो 'सारङ्गः', भिन्न अथ में

मार्तण्डः । (एवे चानियोगे) । क्वेव भोक्ष्यसे । अनियोगे किम् । तवैव । (ओत्वोष्ठयोः समासे वा) स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समासे किम् ।

त्यर्थः । मनस् + ईषा । हल + ईषा । लाङ्गल + ईषा । पतत् + अञ्जलिः । सार + अङ्गः । 'मृत + अण्डः' इत्यत्र पररूपे कृते मृतण्डादागत इत्यर्थे अण् प्रत्ययः । **एवे चेति ।** नियोगोऽवधारणम्—अन्ययोगव्यवच्छेदः, अनियोगे = अनिर्धारणेऽर्थे य 'एव' शब्दस्तस्मिन्नकारात् परे पूर्वपरयोः पररूपमेकादेशः स्यादित्यर्थः । क्व + एव = क्वेव । **ओत्वोष्ठयोरिति ।** अवर्णात् ओतुशब्दे ओष्ठशब्दे च परे पूर्वपरयोरचोः विकल्पेन पररूपं वक्तव्यमित्यर्थः । स्थूल + ओतुः । स्थूलश्चासौ ओतुरिति विग्रहः 'ओतु-बिडालो मार्जारः' इत्यमरः । बिम्ब + ओष्ठः ।

साराङ्गः । यह आकृतिगण है । मार्तण्डः । (वा०)—अवर्ण के अनन्तर 'एव' शब्द रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है, अनिश्चय अर्थ में । क्वेव भोक्ष्यसे । अनियोग क्यों कहा ? तवैव । (वा०)—अवर्ण के अनन्तर ओतु या ओष्ठ शब्द का अच् परे हो तो पूर्व-पर के स्थान में समास में विकल्प से पररूप होता है । स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समास में क्यों कहा ? तवौष्ठः ।

विमर्श—सूत्र में 'अचोऽन्त्यादि' पद संज्ञी तथा 'टि' संज्ञा है । सूत्रार्थ स्पष्ट है । यथा—अच् वर्णों में जो अन्तिम अच् वह है आदि में जिसके, ऐसे शब्द-समुदाय की टिसंज्ञा होती है । जैसे 'पतत्' शब्द में अन्तिम अच् तकारोत्तरवर्ती अकार है, वह द्वितीय तकार के आदि में है । अतः उसके सहित शब्द 'अत्' हुआ । उसकी 'टि' संज्ञा हुई । जहाँ अन्तिम अच् के बाद कोई हल् वर्ण नहीं होगा, वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से उसी वर्ण को 'टि' जानना चाहिए । यथा—'शक' में ककारोत्तरवर्ती अकार 'टि' संज्ञक है । (वा०) पद—शकन्ध्वादिषु, पररूपं वाच्यम् । अनुवृत्ति—अचि । अर्थ—शकन्धु आदि शब्दों की सिद्धि हेतु अच् परे रहते पररूप एकादेश होता है; वह टिसंज्ञक वर्णसमुदाय के अनन्तर अच् परे रहते हो तो । **उदाहरण**—(१) शक+अन्धुः (अ+अ=अ), शक्+अन्धुः=शकन्धुः । अर्थ—शकों का कुआँ । (२) कर्क+अन्धुः (अ+अ=अ), कर्क्+अन्धु=कर्कन्धुः । अर्थ—कर्क द्वारा बनाया हुआ कुआँ । (३) कुल+अटा (अ+अ=अ) कुल्+अटा=कुलटा । अर्थ—दुराचारिणी स्त्री । सीमन्तः केशवेशे । केशप्रसाधन अर्थ में पररूप होता है, अन्यत्र नहीं । (४) सीमन्+अन्तः ('अन्' टि+अ=अ)=सीमन्तः । अर्थ—केशों का संस्कार-विशेष । इससे भिन्न सीमा (मर्यादा) अर्थ में सीम+अन्तः=सीमान्तः, सवर्णदीर्घ । (५) मनस्+ईषा (अस् 'टि'+ई=ई)—मनीषा । अर्थ—बुद्धि । (६) हल+ईषा (अ+ई=ई)—हलीषा । अर्थ—हल की मूठ । (७) पतत्+अञ्जलिः (अत् 'टि'+अ=अ) पतञ्जलिः । अर्थ—महाभाष्यकार ऋषि । (८) (वा०) पशु-पक्षी अर्थ में सार+अङ्गः (अ+अ='अ' पररूप)=सारङ्गः । अर्थ—हिरन (पशु) चातक (पक्षी) । भिन्न अर्थ में सार+अङ्गः (अ+अ='आ' दीर्घ)=साराङ्गः । अर्थ—शक्तिशाली । शकन्ध्वादि गण आकृति गण है । इसका तात्पर्य यह है कि जो शब्द इस गण में नहीं पढ़े गये तथा शिष्टप्रयुक्त पररूप से निष्पन्न हैं तो उनका पाठ भी शकन्ध्वादि गण में कल्पित कर लेना चाहिए । अतः 'मार्तण्ड' पद में भी पररूप की कल्पना की जाती है । (९) 'मृतण्डस्यापत्यम्' इस अर्थ में अण् प्रत्यय होने से पूर्व मृत+

तवौष्ठः। (४६) **ओमाङोश्च ६।१।९५। ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव आ इहि इति स्थिते। शिव एहि। शिवेहि। (४७) अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१। अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः।**

---

(४६) **ओमाङोश्च**। 'आदि'ति, 'पररूपमि'ति, 'एकः पूर्वपरयोरि'ति चानुवर्तते। 'शिवाय+ओंनमः' इति स्थिते वृद्धिं बाधित्वा पररूपैकादेशे साधु। **शिवेहि इति**। 'शिव+आ+इह' इति स्थिते दीर्घे गुणे च प्राप्ते 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गमि'ति परिभाषया पूर्वम् आ+इह इत्यत्र 'आद् गुणः' इत्यनेन गुणे 'शिव+एहि' इत्यवस्थायाम् 'अन्तादिवच्चे'ति पूर्वान्तवद्भावे 'ओमाङोश्चे'ति पररूपे कृते 'शिवेहि' इति रूपसिद्धिः।

(४७) 'इको यणची'त्यतोऽचीत्यनुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकारः। सावर्ण्यञ्च स्थानतः प्रयत्नतश्च। 'अकोऽकि दीर्घः' इत्येव सुवचम्। **दैत्यारिरिति**।

अण्डः (अ+अ='अ' पररूप)=मृतण्डः। पश्चात् अण् प्रत्यय तथा आदि वृद्धि होने पर 'मार्तण्डः' रूप होता है।

(वा०) एवे च अनियोगे। **अनुवृत्ति**—आत्। अकार के अनन्तर अनिश्चयार्थक 'एव' शब्द परे रहने पर पररूप एकादेश होता है। **उदाहरण**—(१०) क्व+एव (अ+ए='ए' पररूप) क्वेव भोक्ष्यसे। अर्थ—कहाँ भोजन करोगे? यहाँ भोजन के विषय में कोई निश्चय नहीं है। **प्रत्युदाहरण**—'अनियोग' पद के ग्रहण से अनिश्चयार्थक 'एव' शब्द में ही पररूप होने से तव+एव='तवैव' में वृद्धि हुई। अर्थ—तुम्हारे ही यहाँ (भोजन करूँगा)। यहाँ 'एव' निश्चयार्थक है। (वा०) अवर्ण के बाद 'ओतु' और 'ओष्ठ' शब्द परे रहते विकल्प से पररूप होता है समास में। पक्ष में वृद्धि होकर दो रूप बनेंगे। **उदाहरण**—(११) स्थूल+ओतुः (अ+ओ='ओ' पररूप) स्थूलोतुः (पररूप), पक्ष में स्थूलौतुः (वृद्धिः), विग्रह—स्थूलश्चासौ ओतुश्च। अर्थ—मोटी बिल्ली। (१२) बिम्ब+ओष्ठः (अ+ओ=ओ)—बिम्बोष्ठः (पररूप) पक्ष में बिम्बौष्ठः (वृद्धि) विग्रह—बिम्बवद् ओष्ठौ यस्य। अर्थ—बिम्बफल के समान होंठ। **प्रत्युदाहरण**—समास ग्रहण न करने पर तव+ओष्ठ=तवौष्ठः (वृद्धि)। यहाँ भी पररूप हो जाता, क्योंकि यहाँ समास नहीं है; अतः केवल वृद्धि हुई।

(४६) पद—ओमाङोः च। **अनुवृत्ति**—आत्, पररूपम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अवर्ण से ओम् और आङ् परे रहते पररूप एकादेश होता है। (यह वृद्धि तथा दीर्घ का बाध करता है।)

विमर्श—सूत्रार्थ स्पष्ट है। **उदाहरण**—(१) शिवाय+ओंनमः (अ+ओं='ओ' पररूप) शिवायों नमः। अर्थ—शिव को नमस्कार। (२) 'शिव+आ+इह' इस स्थिति में (अ+आ) दीर्घ तथा (आ+इ) गुण दोनों की प्राप्ति है। परन्तु अन्तरङ्ग होने से दीर्घ को बाधकर प्रथम गुण (आ+इ=ए) पश्चात् 'शिव+ए हि' में पूर्वान्तवद्भाव से आङ् का आरोप होने से (अ+ए=ए) पररूप=शिवेहि। अर्थ—हे शिव! रक्षार्थ आओ।

(४७) पद—अकः, सवर्णे, दीर्घः। **अनुवृत्ति**—अचि। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अक् से सवर्ण अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में दीर्घ रूप एकादेश होता है।

श्रीशः । विष्णूदयः । (ऋति सवर्णे ऋ वा) । होतृकारः । होतॄकारः । (४८) एङः पदान्तादति ६।१।१०९ । पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव । (४९) सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२ । लोके वेदे चैङन्तस्य गोरिति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् । पदान्ते

दैत्यानामसुराणामरिः=शत्रुः 'दैत्यारिः' । 'दैत्य+अरिः' इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घे कृते 'दैत्यारिः' इति । **ऋति सवर्ण इति** । अकः सवर्णे ऋति परे पूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशो विकल्पेन भवतीत्यर्थः ।

(४८) 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । अतः पदान्तादेङोऽति परे पररूपमित्यर्थः ।

(४९) 'एङः पदान्तादति' इत्यतः 'एङः' इति 'पदान्तादि'ति चानुवर्तते । 'प्रकृत्यान्तः पादमि'त्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते । प्रकृत्या स्वरूपेण—निर्विकाररूपेणाऽवतिष्ठत इत्यर्थः ।

दैत्यारिः, श्रीशः, विष्णूदयः । (वा०) ऋत् से परे सवर्ण ऋत् रहे तो पूर्व-पर के स्थान में ह्रस्व ऋ आदेश विकल्प से होता है । होतृकारः, होतॄकारः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इको यणचि' सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । अक् (=अ इ उ ऋ ऌ) तथा इनके पश्चाद्वर्ती अच् (सवर्ण स्वर वर्ण) परस्पर मिलकर दीर्घ रूप में परिणत हो जाते हैं । **उदाहरण**—(१) दैत्य+अरिः (अ+अ='आ' दीर्घ) दैत्य् आ रिः—दैत्यारिः । अर्थ—विष्णु । (२) श्री+ईशः (ई+ई='ई' दीर्घ) श्+ईशः=श्रीशः । अर्थ—विष्णु । (३) विष्णु+उदयः (उ+उ='ऊ' दीर्घ) विष्ण् ऊदयः—विष्णूदयः । अर्थ—**विष्णु** का अवतार ।

(वा०) अक् के अनन्तर सवर्ण ऋ के होने पर पूर्व-पर वर्णों के स्थान पर 'ऋ' आदेश विकल्प से होता है । **उदाहरण**—(४) होतृ+ऋकारः (ऋ+ऋ=ऋ)=होतृकारः पक्ष में दीर्घ (ऋ+ऋ=ॠ) होकर होतॄकारः ।

(४८) पद—एङः, पदान्ताद्, अति । **अनुवृत्ति—**पूर्वं । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पदान्त एङ् से अत् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । हरेऽव । विष्णोऽव ।

विमर्श—'अमि पूर्वः' सूत्र से यहाँ पूर्व (पूर्वरूपम्) की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार होने से—पद के अन्त में विद्यमान ए, ओ के अनन्तर ह्रस्व अकार रहे तो पूर्व-पर दोनों वर्णों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । **उदाहरण**—(१) हरे+अव (ए+अ='ए' पूर्वरूप)=हरेऽव[1] । अर्थ—हे हरे ! रक्षा करो । (२) विष्णो+अव (ओ+अ='ओ' पूर्वरूप)=विष्णोऽव । अर्थ—हे विष्णो ! रक्षा करो ।

(४९) पद—सर्वत्र, विभाषा, गोः । **अनुवृत्ति**—एङः, पदान्ताद्, अति, प्रकृत्या । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लोक और वेद में एङन्त गो शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है । गो अग्रम्, गोऽग्रम् । एङन्त क्यों कहा ? चित्रग्वग्रम् । पदान्त क्यों कहा ? गोः ।

---

१. पूर्वरूपसन्धि में लुप्त अकार को 'ऽ' चिह्न द्वारा दिखलाया जाता है ।

किम् ? गोः । (५०) अनेकाल्शित्सर्वस्य १।१।५५ । इति प्राप्ते । (५१) ङिच्च १।१।५३ । ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् । (५२) अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३ । पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । पदान्ते किम् । गवि । (५३)

---

(५१) **ङिच्च इति** । अलोऽन्त्यस्येत्यनुवर्तते । ङिदपि अन्त्यस्यैवादेश इति भावः ।

(५२) **अवङ् स्फोटायनस्य** । पदान्तादिति, गोरिति, अचीति चानुवर्तते । स्फोटायनस्य महर्षेः मतेऽवङ् नान्यस्येति विकल्पः **गवाग्रमिति**—'गो + अग्रम्' इत्यत्र 'अनेकाल् शित्सर्वस्ये'ति सूत्रापवादभूतेन 'ङिच्चे'ति परिभाषाबलेन गोशब्दघटकौकारस्य 'अवङ् स्फोटायनस्य' इति सूत्रेणावङादेशेऽनुबन्धलोपे दीर्घे कृते 'गवाग्रमि'ति ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' सूत्र से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति आती है। अतः प्रकृतिभाव का प्रकरण है। 'एङः पदान्तादति' से एङः तथा 'पदान्तात्' पदों का अनुवर्तन आता है। ये दोनों पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'गोः' के विशेषण बन जाते हैं। तदनुसार लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के प्रयोगों में पद के अन्त में विद्यमान एङन्त गो शब्द के आगे ह्रस्व अकार रहने पर विकल्प से प्रकृतिभाव होता है। प्रकृतिभाव होने से सन्धि जन्य कार्य (पूर्वरूप आदि) नहीं होते हैं।

उदाहरण—गो+अग्रम् (ओ+अ=ओ अ)—यथास्थिति रूप—गो अग्रम् । विकल्प होने के कारण पक्ष में 'गोऽग्रम्' 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप । अर्थ—गायों में उत्तम । **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में एङन्त गो कहने से 'चित्रगु+अग्रम्' यहाँ प्रकृतिभाव नहीं हुआ प्राप्त यणादेश होकर चित्रग्वग्रम् । अर्थ—चितकबरी गायों का श्रेष्ठ स्वामी । (चित्रा गावः यस्य सः, बहुव्रीहिः) । (२) सूत्रार्थ में पदान्त पद का समावेश होने से 'गो+अस्' में प्रकृतिभाव **नहीं** हुआ । यहाँ भसंज्ञा होने से 'ओ' पदान्त नहीं है । अतः 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप हुआ गोः ।

(५०) पद—अनेकाल्, शित्, सर्वस्य । **अनुवृत्ति**—षष्ठी । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—अनेकाल् और शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में हों ।

विमर्श—एकश्चासौ अल् च एकाल् (कर्मधारय) न एकाल्—अनेकाल् (नञ्तत्पुरुष)= अनेक वर्णों वाला तथा श् इत् यस्य सः शित्=शकार इत्संज्ञक आदेश सम्पूर्ण पद के स्थान पर होते हैं ।

(५१) पद—ङित्, च । **अनुवृत्ति**—अलः, अन्त्यस्य (षष्ठी) । **परिभाषासूत्र ।**

मूलार्थ—ङित् आदेश यदि अनेकाल् भी हो तो अन्त्य के ही स्थान में होता है ।

विमर्श—यह सूत्र 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' का अपवाद है । यहाँ अनुवृत्त 'षष्ठी' पद ङित् का विशेषण है । अतः सूत्रार्थ इस प्रकार होगा—षष्ठी निर्दिष्टो यो ङिदादेशः, सः अन्त्यस्य अलः स्थाने भवति । अर्थात् षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट ङकारेत्संज्ञक आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान में होता है । अतः 'गो+अग्रम्' में ङकार—इत्संज्ञक होने के कारण गो शब्द के अन्तिम वर्ण 'ओ' को 'अवङ्' आदेश हुआ ।

(५२) पद—अवङ्, स्फोटायनस्य । **अनुवृत्ति**—पदान्ताद्, गोः, अचि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त में एङन्त गो शब्द को अच् परे रहते 'अवङ्' आदेश विकल्प से होता है । गवाग्रम् । पदान्त में क्यों कहा ? गवि । व्यवस्थित विभाषा होने से गवाक्षः ।

इन्द्रे च ६।१।१२४। गोरवङिन्द्रे। गवेन्द्रः। व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः। (५४) दूराद्धूते च ८।२।८४। दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

अथ प्रकृतिभावः

(५५) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५। एतेऽचि प्रकृत्या स्युः।

पक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन विभाषया प्रकृतिभावे 'गो अग्रमि'ति। प्रकृतिभावाऽभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति सूत्रेण पूर्वरूपे गोऽग्रमिति रूपम्।

(५३) **इन्द्रे च**। गोशब्दादिन्द्रशब्दे परतो नित्यमवङ् स्यादित्यर्थः। **व्यवस्थितविभाषयेति**। लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थायां प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषेत्युच्यते। यथा क्वचिद् भवत्यंश एव प्रवर्त्तते, क्वचिन्न भवत्यंश एव, क्वचिदुभयम्। 'गवाक्षः' इत्यत्र तु नित्यमवङ् बोध्यम्।

(५५) 'प्रकृत्यान्तः पादमि'त्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते। **आगच्छ कृष्ण** इति। अत्र 'दूराद्धूते च' इति सूत्रेण टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतत्वं विधाय 'प्लुतप्रगृह्या०' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्रे'ति। तेन नात्र सवर्णदीर्घः।

विमर्श—'गो' शब्द के ओकार के स्थान में (ङित् होने से) अवङ् आदेश स्वर वर्ण परे रहते केवल स्फोटायन आचार्य के मत में ही होता है। अन्य आचार्यों के मत में नहीं। अतः यहाँ विकल्प माना जाता है।

उदाहरण—गो+अग्रम् (ओ=अवङ्—अव) ग् अव+अग्रम् (दीर्घ अ+अ=आ) गवाग्रम्। अर्थ—गायों में उत्तम।

प्रत्युदाहरण—पदान्त में कहने से गो+इ (ङि) में ओकार पदान्त में न रहने से अवङ् आदेश नहीं हुआ। 'अव्' आदेश होकर 'गवि' रूप बना।

व्यवस्थित विभाषा का तात्पर्य है कि कहीं-कहीं विकल्प विधान में भी भावात्मक कार्य की ही प्रवृत्ति होती है। अतः व्यवस्थित विभाषा होने के कारण 'गो+अक्षः' में नित्य अवङ् आदेश हुआ। गो+अक्षः (ओ=अव)—गव+अक्षः (दीर्घ)=गवाक्षः। अर्थ—झरोखा।

(५३) पद—इन्द्रे, च। **अनुवृत्ति**—गो, अवङ्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—गो शब्द को अवङ् आदेश होता है इन्द्र शब्द के परे रहते।

विमर्श—गो शब्द के ओकार के स्थान में इन्द्र शब्द परे हो तो 'अवङ्' आदेश होता है। **उदाहरण**—गो+इन्द्रः (अवङ्) ओ=अव—गव+इन्द्रः (अ+इ='ए' गुण)=गवेन्द्रः।

(५४) पद—दूराद्, हूते च। **अनुवृत्ति**—वाक्यस्य, टेः, प्लुतः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—दूर से सम्बोधन में (पुकारने पर) वाक्य की टि को प्लुत होता है, विकल्प से।

(५५) पद—प्लुतप्रगृह्याः, अचि, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—प्रकृत्या। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञक को नित्य प्रकृतिभाव होता है, अच् परे रहते।

स्वरसन्धि का विवेचन करने के अनन्तर विशेष स्थिति में शब्द के स्वाभाविक रूप की साधुता का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृतिभाव के नियमों का उल्लेख किया जा रहा है।

आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति। (५६) ह्रस्वं लघु १।४।१०। (५७) संयोगे गुरुः १।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात्। (५८) दीर्घं च १।४।१२। गुरु स्यात्। (५९) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८।२।८६। प्लुतो वा। दे३वदत्त ३। गुरोः किम्? वकारादकारस्य मा भूत्। अनृतः किम्? कृष्ण ३। एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्। (६०) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११। ईदूदेदन्तं

---

(५९) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्येति। 'दूराद्धूते चे'त्यनुवर्तते। 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यधिकृतम्। दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत्पदं तदवयवस्य ऋकारभिन्नस्यानन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात्। अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्चापि स्यादित्यर्थः। अपिना टेः समुच्चयात्।

(६०) ईदूदेदिति। ईच्च ऊच्च एच्चेति समाहारद्वन्द्वः। ईदूदेदिति द्विवचन-

---

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' (६।१।१५) सूत्र से 'प्रकृत्या' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार प्लुत या प्रगृह्यसंज्ञक पदों के पश्चात् किसी अच् वर्ण के रहने पर प्रकृतिभाव होता है। प्लुतसंज्ञक का निरूपण अच् सन्धि के अन्त में किया जा चुका है। प्रगृह्य संज्ञा का निरूपण आगे किया जायेगा। प्रकृतिभाव होने से सन्धि कार्य नहीं होता। **उदाहरण**—'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति'। यहाँ प्लुतसंज्ञक 'कृष्ण ३' के पश्चात् आने वाले 'अत्र' के अकार के साथ प्रकृतिभाव होने से दीर्घ नहीं हुआ।

(५६) पद—ह्रस्वं लघु। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व की लघुसंज्ञा होती है। (ह्रस्व का तात्पर्य एकमात्रिक स्वर से है)।

(५७) पद—संयोगे, गुरु। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—संयोग (संयुक्ताक्षर) के परे ह्रस्व की गुरु संज्ञा होती है।

(५८) पद—दीर्घ च। **अनुवृत्ति**—गुरु। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—दीर्घ अच् की भी गुरु संज्ञा होती है।

(५९) पद—गुरोः, अनृतः, अनन्त्यस्य, अपि, एकैकस्य, प्राचाम्। **अनुवृत्ति**—दूरात् हूते, वाक्यस्य, टेः, प्लुतः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—दूर से सम्बोधन विषयक वाक्य में सम्बोध्यमान वाचक पद के अवयव ऋकारेतर अन्त्यभिन्न गुरुसंज्ञक स्वरवर्णों को वैकल्पिक प्लुत पर्याय से होता है। (सूत्र में 'प्राचाम्' पद होने से सभी प्लुत प्राचीन आचार्यों के मत में विकल्प से होते हैं)।

विमर्श—उपर्युक्त प्लुतविधान प्राचीन आचार्यों को मान्य है, अन्य को नहीं। अतः विकल्प से प्लुत होता है। पक्ष में वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है। **उदाहरण**—(१) 'दे३वदत्त' यहाँ आदि के एकार को गुरु होने के कारण प्लुत हुआ। (२) 'देवद३त्त' यहाँ संयुक्ताक्षर 'त्त' के पूर्व में होने से दकारोत्तरवर्ती अकार गुरुसंज्ञक होने से प्लुत। (३) 'देवदत्त ३' विकल्प होने के कारण पक्ष में 'टि' (अन्तिम अकार) को प्लुत हुआ। **प्रत्युदाहरण**—(१) 'देवदत्त' पद में वकारोत्तरवर्ती अकार को प्लुत न हो, इसलिए सूत्र में गुरु पद का ग्रहण किया गया है 'व' लघु वर्ण है, अन्यथा उसको भी प्लुत हो जाता। (२) इसी प्रकार सूत्र में अनृतः (ऋकार भिन्न) पद विद्यमान होने से 'कृष्ण ३' में ऋकार के गुरुसंज्ञक वर्ण होने पर भी प्लुत नहीं हुआ।

(६०) पद—ईदूदेद्, द्विवचनम् प्रगृह्यम्। **संज्ञासूत्र।**

द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। मणीवोष्ट्रस्येति तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः। (६१) अदसो मात् १।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशा। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्। अमुकेऽत्र।

विशेषणत्वात् तदन्तविधिः, तदाह—ईदूदेदन्तमित्यादिना। हरी एतौ। अत्र 'ईदूदेद्-द्विवचनमि'त्यादिना प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमि'त्यनेन प्रकृतिभावे 'हरी एतौ' इति निष्पन्नम्। एवं विष्णू + इमौ, गङ्गे + अमू। ननु 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इति भारतश्लोके 'मणीव' इत्यत्र 'मणी + इव' इति दशायाम् ईकारस्य प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह— **मणीवोष्ट्रस्येति।** 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः। वृत्तिकारस्तु—'मणीवादीनाम्प्रतिषेधो वक्तव्यः' इत्याह। रूपमालायामपि 'मणीवादौ सन्धिरिष्यते' इत्युक्त्वा सन्धिरङ्गीकृतः।

(६१) अदसो मादिति। अदसः षष्ठ्यन्तम्, मादिति पञ्चम्यन्तम्। अदस इत्यत्रावयवषष्ठी तथा च अदश्शब्दावयवमकारादित्यर्थः। 'ईदूदेदि'ति प्रगृह्यमिति चानुवर्तते। मादिति दिग्योगे पञ्चमी। तेन अदश्शब्दावयवमकारात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ

मूलार्थ—ईकारान्त, ऊकारान्त एवं एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। 'मणीव' में इव के अर्थ में 'व' अथवा 'वा' शब्द जाना जाय।

विमर्श—'प्लुतप्रगृह्या०' इत्यादि सूत्रक्रमानुसार 'प्लुत' के पश्चात् 'प्रगृह्य' संज्ञा का निरूपण किया जा रहा है—

'ईदूदेद्०' सूत्र में ईदूदेद्द्विवचनम्' संज्ञी है तथा 'प्रगृह्य' संज्ञा है। यहाँ तपरकरण होने से द्विमात्रिक 'ई', 'ऊ' तथा 'ए' का ग्रहण होता है। तदनुसार द्विवचन में विद्यमान ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। **उदाहरण**—(१) 'हरी + एतौ' यहाँ हरि शब्द के प्रथमा द्विवचन में दीर्घ से 'हरी' उसके पश्चात् एकार होने से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ। अर्थ—ये सिंह हैं। (२) इसी प्रकार विष्णू + इमौ। इन दोनों उदाहरणों में यण् नहीं हुआ। अर्थ—ये दो विष्णु हैं। (३) 'गङ्गे + अमू' में एकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव हुआ। 'अय्' आदेश नहीं हुआ। अर्थ—ये दो गङ्गा के रूप हैं।

'मणीव' इत्यादि महाभारतोक्त प्रयोगों की सिद्धि के लिए काशिकादि वृत्तिकारों ने प्रगृह्यसंज्ञा का प्रतिषेध स्वीकार किया है। परन्तु महाभाष्यकार तथा वार्तिककार ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है। अतः 'मणीवोष्ट्रस्य' इत्यादि शब्दों में सन्धि नहीं है, अपितु उपमानार्थक 'व' अथवा 'वा' शब्द से उनकी साधुता निर्बाध है।

(६१) पद—अदसः मात्। **अनुवृत्ति**—ईदूत्, प्रगृह्यम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अदस् शब्द सम्बन्धी मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अमी ईशाः। रामकृष्णावम् आसाते। सूत्र में 'मात्' पद का ग्रहण क्यों किया? अमुकेऽत्र। 'मात्' ग्रहण न करने पर एकार की भी अनुवृत्ति आने लगेगी।

विमर्श—सूत्रस्थ 'अदसः' पद में अवयवार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। पूर्व सूत्र से 'ईत्' 'ऊत्' तथा 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'अदस्' शब्दावयव मकार से परे

असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत । (६२) चादयोऽसत्त्वे १।४।५७ । अद्रव्यार्था-श्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः । (६३) प्रादयः १।४।५८ । एतेऽपि तथा ।

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते ।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ।।

लिङ्गसङ्ख्यान्वययोग्यं द्रव्यम् । (६४) निपात एकाजनाङ् १।१।१४ । एकोऽज्

स्तः । अमी ईशा इति । 'अमी + ईशाः' इत्यत्र 'अदसो मादि'त्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे 'अमी ईशाः' इति । एवम् 'अमू आसाते' इत्यत्रापि प्रगृह्यसंज्ञा कृत्वा प्रकृतिभावो ज्ञेयः । मात्किमिति । असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत । तेन च 'अमुकेऽत्र' इत्यत्र प्रगृह्यसंज्ञापूर्वकप्रकृतिभावः स्यात् ।

(६३) **वस्तूपलक्षणं यत्रेति ।** द्रव्यपदं वस्तूपलक्षणम् । वस्तूपलक्ष्यते परामृश्यते =ज्ञायते येन तत्सर्वनाम यत्र परामर्शाय=ज्ञानाय प्रयुज्यते सोऽर्थो द्रव्यमित्युच्यते अथवा भेद्यत्वेन लिङ्गसङ्ख्यानिरूपितविशेष्यत्वेन विवक्षित इत्यर्थः ।

(६४) **निपात इति ।** प्रगृह्यमित्यनुवर्तते पुँल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते

'ई' तथा 'ऊ' की प्रगृह्य संज्ञा होती है । **उदाहरण**—(१) (अदस्+जश, —अद+ई=अमी अमी+ईशाः प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव, दीर्घ नहीं हुआ । (२) अमू आसाते । यहाँ भ प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव होने से यण् नहीं हुआ । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में यदि 'मात्' पद क ग्रहण न होता तो एकार की भी अनुवृत्ति आने से अदश्शब्दावयव 'ई', 'ऊ' तथा 'ए' की प्रगृ संज्ञा होने के फलस्वरूप 'अमुकेऽत्र' में भी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने लगेगी । प्रकृतिभाव होने पूर्वरूप नहीं होगा । 'मात्' पद के ग्रहण से अदस् शब्दावयव मकार के अनन्तर 'ई' तथा 'ऊ के ही मिलने से एकार की अनुवृत्ति नहीं आती ।

(६२) पद—चादयः, असत्त्वे । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अद्रव्यार्थक चादि निपातसंज्ञक होते हैं ।

विमर्श—'प्रागीश्वरान्निपाताः' सूत्र 'निपात' का अधिकार होने से' संज्ञा' का लाभ होता है सूत्र में चादयः (च वा ह इत्यादि गणपठित शब्द) संज्ञी हैं । 'सत्त्व' शब्द का अर्थ पदार्थ है जिसमें लिङ्ग, संख्या का अन्वय होता है ।[1] अद्रव्य में लिङ्ग, संख्या की प्रतीति नहीं होती । अत अद्रव्यार्थक चादिगणपठित शब्द निपातसंज्ञक होते हैं ।

(६३) पद—प्रादयः । **अनुवृत्ति**—असत्त्वे, निपाताः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—अद्रव्यार्थक प्र आदि शब्दों की भी निपातसंज्ञा होती है ।

विमर्श—सूत्र के अन्तर्गत 'प्रादयः' संज्ञी है । (प्र आदिर्येषां ते प्रादयः-बहुव्रीहि) पू सूत्र से 'असत्त्वे' और 'निपाताः' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार द्रव्य से भिन्न अर्थ वाले परा आदि २२ शब्दों की निपातसंज्ञा होती है ।

द्रव्य का लक्षण—वस्तूपलक्षमित्यादि । जहाँ किसी वस्तु के ज्ञान के लिए सर्वनाम (स अयम्, इदम् इत्यादि) का प्रयोग किया जाता है । विशेष्यत्वेन विवक्षित वह वस्तु 'द्रव्य कहलाती है । (लिङ्ग संख्याद्यन्वयोग्य द्रव्य होता है) ।

(६४) पद—निपात, एकाच्, अनाङ् । **अनुवृत्ति**—प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र ।**

---

१. सत्त्वमिति द्रव्यमुच्यते । लिङ्गसङ्ख्यान्वितं द्रव्यम् ।

निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । (वाक्यस्मरणयोरङित्) । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम् । ओष्णम् । (६५) ओत् १।१।१५ । ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः । (६६) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६ । सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ

एकश्चासावच्चेति कर्मधारयः । चादित्वात् 'इ' निपातः । स चाश्चर्येऽस्ति । 'उ' वितर्के । इ + इन्द्रः । उ + उमेशः । उभयत्राप्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे सन्ध्यभावः । **वाक्यस्मरणयोरिति ।** ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमात्रं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥' **अन्यत्रेति ।** वाक्यस्मरणार्थकभिन्ने इत्यर्थः । तेन आ + उष्णमित्यत्र गुणः । ईषदुष्णमित्यर्थनिर्देशः ।

(६६) **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येति ।** सम्बुद्धाविति । निमित्तसप्तमी अनुवृत्तेन आदित्य-

---

मूलार्थ—'आङ्' को छोड़कर एक अच् रूप निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है । इ इन्द्रः । उ उमेशः । (वाक्य और स्मरण में 'आ' ङकारेत्संज्ञक नहीं होता) आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । वाक्य और स्मरण अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में 'आ' ङित् होता है । ईषत् (थोड़ा) उष्णम्=ओष्णम् ।

विमर्श—सूत्र में 'अनाङ्, एकाच्, निपातः' संज्ञी हैं । 'प्रगृह्य' संज्ञा है । तदनुसार 'आङ्' से भिन्न (न आङ्=अनाङ्) एक अच् रूप (एकश्चासौ अच्च एकाच्, कर्मधारय) निपात प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा का फल 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' सूत्र से प्रकृतिभाव होना है । **उदाहरण**—(१) 'इ+इन्द्रः' (यहाँ विस्मयार्थक इ निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव होकर दीर्घसन्धि नहीं हुई । अर्थ—अरे ! इन्द्र हैं । (२) 'उ+उमेशः' (यहाँ वितर्कार्थक उ निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव) दीर्घसन्धि नहीं हुई । अर्थ—क्या यह शिव हैं ।

ईषत् अर्थ (थोड़ा) में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में 'आ' ङकारेत्संज्ञक है । अन्यत्र—अर्थात् वाक्य और स्मरण अर्थ में 'आ' ङित् नहीं है ।[1] अतः (३) 'आ एवं नु मन्यसे' में 'आ' को प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव । वृद्धि सन्धि नहीं हुई । अर्थ—आप, ऐसा समझने लगे । (४) 'आ एवं किल तत्' यहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा तथा प्रकृतिभाव होने से वृद्धि सन्धि नहीं हुई । अर्थ—मुझे स्मरण है कि यह बात ऐसी ही है । वाक्य और स्मरण के अतिरिक्त अन्य अर्थों में 'आ' के 'ङित्' होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती । अतः 'ईषत्' अर्थ में प्रयुक्त आ+उष्णम्='ओष्णम्' में गुणसन्धि हुई । अर्थ—थोड़ा गरम है ।

(६५) पद—ओत् । **अनुवृत्ति**—निपातः, प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ओदन्त निपात प्रगृह्य संज्ञक होता है ।

विमर्श—सूत्र में 'ओत्, निपातः' संज्ञी हैं तथा 'प्रगृह्य' संज्ञा । सूत्रस्थ 'ओत्' पद अनुवृत्त पद 'निपातः' का विशेषण है । अतः तदन्त विधि होने से ओकारान्त निपातसंज्ञक शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । **उदाहरण**—'अहो+ईशाः' यहाँ 'अहो' ओकारान्त निपात होने से प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव होकर अहो ईशाः । अय् आदेश नहीं हुआ । अर्थ—अहो ! देवगण हैं ।

(६६) पद—सम्बुद्धौ, शाकल्यस्य, इतौ, अनार्षे । **अनुवृत्ति**—ओत्, प्रगृह्यम् । **संज्ञासूत्र ।**

---

१. ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादादभिविधौ च यः । एतमात्रं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

परे। विष्णो इति। विष्णविति। विष्ण इति। अनार्षे इति किम्? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। **(६७) मय उञो वो वा ८।३।३३।** मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्। **(६८) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७।**

नेनान्वेति। प्रगृह्यमनुवर्त्य पुंल्लिङ्गतया विपरिणम्यते। **विष्णो इति।** 'विष्णो + इति' इति स्थितौ 'सम्बुद्धौ शाकल्येतावनार्षे' इत्यनेन सम्बुद्धिनिमित्तकस्योकारस्य अवैदिके इतौ परे विकल्पेन प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमि'त्यनेन प्रकृतिभावे 'विष्णो इति' रूपम्। प्रगृह्यसंज्ञाभावे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन वकारस्य विकल्पेन लोपे 'विष्ण इति' रूपम्, लोपाभावे च 'विष्णविति' रूपम्।

(६७) 'ङमो ह्रस्वादचि०' इत्यत अचीत्यनुवर्तते तदाह—**मय** इत्यादि।

(६८) **इकोऽसवर्ण इति।** इकः' इति षष्ठ्यन्तम्। 'एङः पदान्तादि'त्यतः

मूलार्थ—सम्बुद्धि निमित्तक ओकार की विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अवैदिक 'इति' शब्द के परे रहते।

विमर्श—'सम्बुद्धौ' शब्द में सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में हुई है। पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में सम्बोधन के एकवचन को 'सम्बुद्धि' कहते हैं।[1] तदनुसार सम्बोधन के एकवचन को मानकर होने वाले (सम्बुद्धिनिमित्तक) ओकार के पश्चात् वैदिक प्रयोग से भिन्न 'इति' शब्द के होने पर आचार्य शाकल्य के मत में प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अन्य आचार्यों के मत में नहीं। **उदाहरण**—(१) विष्णो+इति। यहाँ विष्णु शब्द का सम्बोधन के एकवचन में 'ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र से गुण होकर 'विष्णो' रूप बना है। इस प्रकार सम्बुद्धि-निमित्तक 'ओ' होने से प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव हुआ। (२) विकल्प होने से पक्ष में—अवादेश (ओ=अव्)—विष्णव् इति, 'लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प से वकार का लोप होने से विष्ण इति। (३) व् का लोप न होने पर—विष्णविति। अर्थ—हे विष्णो! इस प्रकार। **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'अनार्षे' (वेद से भिन्न) पद होने के कारण 'ब्रह्मबन्धो+इति' में प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई। क्योंकि यहाँ 'इति' वैदिक पद परे है। अतः ओ=अव् आदेश ब्रह्मबन्ध् अव् इत्यब्रवीत्=ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। वैदिक पद होने के कारण यहाँ वकार का लोप भी नहीं हुआ। अर्थ—हे ब्रह्मबन्धो! ऐसा कहा।

(६७) पद—मयः, उञः, वः, वा। **अनुवृत्ति**—अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मय से परे 'उञ्' के स्थान में वकार आदेश विकल्प से होता है, अच् वर्ण परे रहते। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (८।३।३२) सूत्र से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। 'मयः' पञ्चम्यन्त पद है। 'उञ्' अव्यय है। तदनुसार मय प्रत्यहारस्थ वर्ण के अनन्तर 'उञ्' (उ) के स्थान पर अच् परे रहते 'व्' आदेश विकल्प से होता है। **उदाहरण**—किमु+उक्तम् (उ=व्)—किम् व् उक्तम्=किम्वुक्तम्। पक्ष में किमु उक्तम्। (पक्ष में 'निपात एकाजनाङ्' से प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव)।

(६८) पद—इकः, असवर्णे, शाकल्यस्य, ह्रस्वः च। **अनुवृत्ति**—पदान्तात्, अचि। **विधिसूत्र।**

---

१. 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (पा० सू० २।३।४९)

पदान्ता इको ह्रस्वाः प्रकृत्या च वा स्युरसवर्णेऽचि । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ताः किम् ? गौर्यौ । (न समासे) वाप्यश्वः । (६९) ऋत्यकः ६।१।१२८ । ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वत् । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ? आर्च्छत् । इति स्वरसन्धिः ।

पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । अचीत्यनुवर्तते । चकारात् 'प्रकृत्यान्तः पादमि'त्यतः प्रकृत्येत्यनुकृष्यते । तदाह—पदान्ता इत्यादि । अत्र 'ह्रस्व-विधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्यः इति भाष्यकारः । **वाप्यश्व इति ।** वाप्यामश्वः 'वाप्यश्वः' । अत्र 'वापी + अश्वः' इत्यवस्थायां 'इकोऽसवर्णे०' इत्यनेन ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावे प्राप्ते 'न समासे' इति वार्तिकेन तन्निषेधे यणि कृते 'वाप्यश्वः' इति ।

(६९) **ऋत्यक इति ।** ऋति सप्तम्यन्तम्, अकः षष्ठ्यन्तम् । 'एङः पदान्तादि'त्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते । 'असवर्णे' इति निवृत्तम् । तदाह ऋति परे इत्यादि । ब्रह्म ऋषि

सूत्रार्थ—पदान्त 'इक्' को असवर्ण अच् परे रहते विकल्प से प्रकृतिभाव और ह्रस्व होता है । यहाँ ह्रस्व-विधान सामर्थ्य से सन्धिकार्य (यण्) नहीं होता । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । 'पदान्ताः' क्यों कहा ?—गौर्यौ । समास में नहीं होता । वाप्यश्वः ।

विमर्श—यहाँ 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) सूत्र से 'पदान्तात्' पद की अनुवृत्ति आती है, वह षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'इकः' का विशेषण हो जाता है । 'च' से 'प्रकृत्या' पद का अनुकर्षण होता है । अतः पदान्त में विद्यमान 'इक्' (इ, उ, ऋ, ऌ) वर्णों के अनन्तर सवर्ण भिन्न अच् वर्णों के रहने पर आचार्य शाकल्य के मत में 'इक्' वर्ण को ह्रस्व हो जाता है तथा प्रकृतिभाव भी । अर्थात् इन ह्रस्व वर्णों को सन्धिकार्य नहीं होता । **उदाहरण**—(१) चक्री + अत्र = चक्रि अत्र—यहाँ पद के अन्त में दीर्घ ईकार के पश्चात् 'ई' से भिन्न अच् 'अ' होने के कारण ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव हुआ । पक्ष में (अन्य आचार्यों के मत में) यण्—चक्र्यत्र । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'पदान्त इक्' कहने से 'गौरी + औ' में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं हुआ । क्योंकि यहाँ ईकार पद के अन्त में नहीं है । यण् होकर 'गौर्यौ' बना ।

(वा०)—समास में ह्रस्व और प्रकृतिभाव नहीं होता । **उदाहरण**—'वापी + अश्वः' = वाप्यश्वः । यण् हुआ ।

(६९) पद—ऋति, अकः । **अनुवृत्ति**—पदान्तात्, शाकल्यस्य, ह्रस्वः, प्रकृत्या । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व ऋकार परे रहते पदान्त 'अक्' को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्प से होता है । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । 'पदान्त में होता है' ऐसा क्यों कहा ? आर्च्छत् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र से 'शाकल्यस्य' 'ह्रस्वः' तथा 'प्रकृत्या' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'एङः पदान्तात्०' से अनुवृत्त 'पदान्तात्' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'अकः' का विशेषण हो जाता है । अतः ह्रस्व ऋकार परे रहने पर पदान्त अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) को शाकल्य के मत में ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव हो जाता है । अर्थात् ह्रस्व हो जाने पर कोई सन्धि कार्य नहीं होता । **उदाहरण**—ब्रह्मा + ऋषिः = ब्रह्म ऋषिः । यहाँ 'आ' के स्थान पर ह्रस्व तथा

अथ हल्सन्धिः

(७०) स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४० । सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जयः । (७१) शात् ८।४।४४ । शात्परस्योक्तं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः । (७२) ष्टुना ष्टुः

इति । 'ब्रह्मा + ऋषिः' इति स्थितौ गुणं प्रबाध्य 'ऋत्यकः' इत्यनेन ह्रस्वसमुच्चित-प्रकृतिभावे 'ब्रह्म ऋषिः' इति । तदभावपक्षे गुणे रपरे च कृते 'ब्रह्मर्षिः' इति रूपम् ।

इति स्वरसन्धिः ।

---

(७०) **स्तोः श्चुना श्चु इति ।** श्चुनेत्यत्र सहार्थे तृतीया । अत्र स्थान्यादेशानां यथासङ्ख्यं भवति । ततश्च सकारस्य स्थाने शकारः, तवर्गस्य चवर्गः । निमित्तकार्यि-णोस्तु न 'शात्' इति ज्ञापकात् । **हरिशेश्त इति ।** 'हरिस् + शेते' इति स्थिते शकारेण योगात् सकारस्य शकारः । तमस् + चिनोति । सत् + चित् । शार्ङ्गिन् + जयः ।

(७१) **विश्नः, प्रश्न इति ।** 'विश् + नः, प्रश् + न' इत्यत्र पूर्वसूत्रेण नकारस्य श्चुत्वे प्राप्ते 'शात्' इत्यनेन तन्निषिध्यते । अत्र विच्छप्रच्छधातुभ्यां 'यजयाच्०'

प्रकृतिभाव हुआ । गुण नहीं हुआ । पक्ष में (अन्य आचार्यों के मत में) गुण तथा रपर (आ + ऋ = अर्)—ब्रह्म् अर् षिः = ब्रह्मर्षिः । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'पदान्तात्' पद की अनुवृत्ति आने से पदान्त भिन्न 'अक्' के स्थान में उक्त कार्य नहीं होता । अतः आर्च्छत् में 'आ + ऋच्छत्' स्थिति में वृद्धि ('आटश्च' से आ + ऋ = आर्) = आर्च्छत् । यहाँ आकार के पदान्त में न होने से ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव नहीं हुआ । अर्थ—गया ।

इति स्वरसन्धिः ।

---

(७०) पद—स्तोः, श्चुना श्चुः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सकार—तवर्ग के स्थान में शकार अथवा चवर्ग का योग रहने पर सकार के स्थान में शकार और तवर्ग के स्थान में चवर्ग होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सकार तथा तवर्ग (त् थ् द् ध् न्) स्थानी हैं तथा शकार और चवर्ग आदेश हैं । इस प्रकार स्थानी और आदेशों की संख्या समान होने के कारण 'यथासंख्य' परिभाषा के द्वारा क्रमशः स् = श्, त् = च्, थ् = छ्, द् = ज्, ध् = झ्, न् = ञ् हो जाते हैं' । योग (साहचर्य) में रहने वाले वर्णों में यथासंख्य परिभाषा का नियम प्रवृत्त नहीं होता । **उदाहरण**—(१) हरिस् + शेते (स् = श्—'श्' के योग में)—हरिश्शेते । अर्थ—हरि सोता है । (२) रामस् + चिनोति (स् = श्—'च्' के योग में)—रामश्चिनोति । अर्थ—राम चुनता है । (३) सत् + चित् (त् = च्—'च्' के योग में)—सच्चित् । अर्थ—सत् और चित् रूप । (४) शार्ङ्गिन् + जय (न् = ञ्—'ज्' के योग में)—शार्ङ्गिञ्जयः । अर्थ—हे विष्णु, तुम्हारी जय हो ।

(७१) पद—शात् । **अनुवृत्ति**—न, तोः, चुः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—शकार से परे तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता ।

८।४।४१ । स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे । (७३) न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२ । 'अनामि'ति लुप्तषष्ठीकम्पदम् । पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् ? ईट्टे । टोः किम् ? सर्पिष्टमम् । अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् । षण्णाम् ।

इति नङ्प्रत्यये 'च्छ्वोः शूडनुनासिके चे'ति शत्वम् । 'गृहिज्ये'ति सम्प्रसारणन्तु न भवति 'प्रश्ने चासन्नकाले' इति निर्देशात् ।

(७२) **ष्टुना ष्टुरिति** । अत्र 'स्तोः' इत्यनुवर्तते । 'रामस् + षष्ठः' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन षकारयोगेन सकारस्य षकारादेशे 'रामष्षष्ठः' इति । एवम् रामस् + टीकते, पेष् + ता, तत् + टीका, चक्रिन् + ढौकसे ।

(७३) अनामिति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदम् । स्तोः ष्टुरित्यनुवर्तते । षट् + सन्तः, षट् + ते इत्यत्र टवर्गस्य पदान्ते वर्तमानत्वान्न ष्टुत्वम् । पदान्तादित्यस्याभावे तु— 'ईट् + ते' इत्यत्रापि ष्टुत्वनिषेधः स्यात् । **टोः किमिति** । 'सर्पिष् + तमम्' इत्यत्र ष्टुत्वे 'नपदान्तादि'ति सूत्रेण निषेधो न भवति, पदान्ताट्टवर्गात्परत्वाभावात् । टोः ग्रहणाभावे तु सन्नियोगशिष्टानामि'ति परिभाषया ष्टुरिति समुदायस्यानुवृत्तौ

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (८।४।४२) से 'न', 'तोः षि' (८।४।४३) से 'तोः' और 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से 'श्चुः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार शकार के अनन्तर विद्यमान तवर्ग के स्थान पर च वर्ग नहीं होता है। **उदाहरण**—(१) विश्+नः (यहाँ 'श्' के बाद 'न्' के स्थान पर पूर्वसूत्र से प्राप्त चुत्व ('ञ्') नहीं हुआ)—विश्नः । (२) प्रश्+नः (यहाँ भी श्चुत्व निषेध होकर)—प्रश्नः ।

(७२) पद—ष्टुना ष्टुः । **अनुवृत्ति**—स्तोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सकार—तवर्ग के स्थान में षकार टवर्ग का योग रहने पर षकार—टवर्ग होते हैं ।

विमर्श—'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) सूत्र से 'स्तोः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार सकार तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान में क्रमशः षकार तथा टवर्ग (ट् ठ् ड्, ढ्, ण्) आदेश होते हैं। ष् और टवर्ग में से किसी वर्ण का योग पूर्व या पर में रहे तो भी ष्टुत्व होता है। **उदाहरण**—(१) रामस्+षष्ठः (स्=ष्—'ष्' के योग में)=रामष्षष्ठः । अर्थ—राम छठवाँ है। (२) रामस्+टीकते (स्=ष्—'ट्' के योग में)=रामष्टीकते । अर्थ—राम जाता है। (३) पेष्+ता (त्=ट्—'ष्' के योग में)=पेष्टा । अर्थ—पीसने वाला । (४) तत्+टीका (त्=ट्—'ट' के योग में)=तट्टीका । अर्थ—उसकी टीका । (५) चक्रिन्+ढौकसे (न्=ण्—'ढ्' के योग में)=चक्रिण्ढौकसे । अर्थ—हे चक्रधारी (कृष्ण) तुम जाते हो ।

(७३) पद—न, पदान्तात्, टोः, अनाम् । **अनुवृत्ति**—स्तोः, ष्टुः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—पदान्त टवर्ग से परे नाम् भिन्न सकार तथा तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता । (वा०)—पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति, नगरी भिन्न सकार तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता, ऐसा कहना चाहिए ।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'स्तोः' तथा 'ष्टुः' पदों की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'अनाम्' पद में षष्ठीविभक्ति का लोप स्वीकार किया जाता है। अर्थात् 'नाम्' के विषय में निषेध नहीं होता ।

षण्णवतिः । षण्णगर्यः । (७४) तोः षि ८।४।४३ । तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्षष्ठः । (७५) झलां जशोऽन्ते ८।२।३९ । पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

पदान्ताभ्यां षकारटवर्गाभ्यां परस्येत्याद्यर्थे 'सर्पिष्टममि'त्यत्रापि ष्टुत्वनिषेधः स्यादिति तद्वारणाय टोर्ग्रहणम् । **अनामिति ।** नाम्–नवति–नगरीभिन्नानां ष्टुत्वनिषेध इत्यर्थः । षण्णामिति । 'षष्+नाम्' इत्यत्र पदान्तत्वात् षस्य जश्त्वेन डकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यनेन णकारे टवर्गयोगात् नकारस्य ष्टुत्वम्, 'नपदान्तादि'ति निषेधस्तु न 'अनामि'ति पर्युदासात् ।

(७४) तवर्गस्य सकारे परे ष्टुत्वं न भवतीत्यर्थः, तेन 'सन्+षष्ठः' इत्यत्र नकारस्य सकारे परे न ष्टुत्वमिति ।

(७५) **झलां जशोऽन्त इति ।** पदस्येत्यधिकृतम्, तच्चान्त इत्यस्य विशेषणम् ।

इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—पद के अन्त में टवर्ग के अनन्तर स् तथा तवर्ग के स्थान पर पूर्वसूत्र से प्राप्त क्रमशः ष् तथा टवर्ग (ष्टुत्व) नहीं होता । **उदाहरण**—(१) षष्+सन्तः—(ष्=ड्, ड्=ट्)—षट्+सन्तः (ट् के पश्चात् स् को षत्व निषेध)=षट् सन्तः । अर्थ—छः सज्जन । (२) षट्+ते (ट् के पश्चात् 'त्' को ट् नहीं हुआ) षट् ते । अर्थ—वे छः हैं । **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में 'पदान्तात्' पद होने के कारण पदान्त भिन्न टवर्ग के अनन्तर आने वाले स् तथा तवर्ग के स्थान पर क्रमशः षकार तथा टवर्ग होते हैं । अतः 'ईड्+ते' (ड्=ट्)=ईट्+ते प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध न किये जाने पर ष्टुत्व (त=ट) हो गया । ईट्टे । (२) सूत्र में 'टोः' पद का ग्रहण न करने पर 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से 'ष्टुना' पद की अनुवृत्ति आती । तदनुसार पदान्त ष् तथा टवर्ग के अनन्तर स् एवं तवर्ग को ष्टुत्व निषेध होने लगता । 'सर्पिष्+तमम्' में भी ष्टुत्व निषेध होता, जो अभीष्ट नहीं है । अतः 'टोः' पद का ग्रहण किया गया है । इस प्रकार सर्पिष्+तमम् (ष् के अनन्तर 'त' को ष्टुत्व—त=ट्)=सर्पिष्टमम् ।

(वा०)—सूत्रकार पाणिनि ने केवल 'नाम्' के न् को ण् (ष्टुत्व) होने का विधान किया था परन्तु वार्तिककार ने 'नाम्' के अतिरिक्त 'नवति' तथा 'नगरी' शब्द के भी पदान्त टवर्ग के अनन्तर 'न्' को 'ण्' होने का विधान किया है । **उदाहरण**—(१) षड्+नवति ('न्'='ण्', पुनः 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से 'ड्'='ण्')=षण्णवतिः । पक्ष में षड् नवतिः । अर्थ—छियानबे । (२) षड्+नगर्यः । ('न'=ण्, पूर्ववत् 'ड्'=ण्)=षण्णगर्यः । पक्ष में षड् नगर्यः । अर्थ—छह नगरी) । (३) षड्+नाम् ('न्'=ण् पुनः पूर्ववत् 'ड्'=ण्)=षण्णाम् ।

(७४) पद—तोः षि । **अनुवृत्ति**—न, ष्टुः । **विधिसूत्र** (निषेध) ।

मूलार्थ—षकार परे रहने पर तवर्ग को ष्टुत्व नहीं होता ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'नपदान्तात्०' से 'न' तथा 'ष्टुना ष्टुः' से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार षकार परे रहने पर तवर्ग को टवर्ग नहीं होता । **उदाहरण**—सन्+षष्ठः (ष्टुत्व निषेध होने से तवर्ग (न्) के अनन्तर 'ष्' होने से 'ण्' नहीं हुआ)=सन् षष्ठः ।

(७५) पद—झलां, जशः, अन्ते । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पद के अन्त में झल् वर्णों के स्थान पर जश् आदेश होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' का अधिकार होने से पद के अन्त में विद्यमान झल् प्रत्याहार

चिद्रूपम् । (७६) यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५ । यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । एतद्मुरारि । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते । चतुर्मुखः । (प्रत्यये भाषायां नित्यम्) । तन्मात्रम् ।

वागीश इति । 'वाक्+ईशः' इत्यत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन 'क्' इत्यस्य स्थाने गकारादेशे (जश्त्वे) वागीश इति ।

(७६) न पदान्तादित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । **स्थानप्रयत्नाभ्यामिति** । ननु 'चतुर्मुखः' इत्यत्रापि रेफस्यानुनासिको णकारः स्यात् स्थानसाम्यादिति चेन्न, स्थानप्रयत्नाभ्यां सदृशतमे 'षण्मुखः' इत्यत्र चारितार्थ्यात् । केवलं स्थानसादृश्यमादाय 'चतुर्मुखः' इत्यत्र न प्रवर्तत इति । अथवा 'अनुस्वारस्य ययि' इत्यतः सवर्णपदमपकृष्य सवर्णोऽनुनासिको भवतीति सूत्रार्थः । 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ती'ति भाष्यानुसारेण रेफस्य कश्चित्सवर्णो नास्तीति नात्र

बोध्य वर्णों के स्थान में जश् (वर्गों के तृतीय व्यञ्जन वर्ण—ज् ब् ग् ड् द्) आदेश होता है। **उदाहरण**—(१) वाक्+ईशः (क्=ग्)—वागीशः । अर्थ—बृहस्पति । (२) चित्+रूपम् (त्=द्)—चिद्रूपम् । अर्थ—ज्ञान स्वरूप ।

(७६) पद—यरः, अनुनासिके, अनुनासिकः, वा । **अनुवृत्ति**—पदान्तात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त 'यर्' को विकल्प से अनुनासिक होता है (अपने वर्ग का पञ्चम वर्ण) यदि उसके बाद कोई अनुनासिक वर्ण हो तो ।

विमर्श—'न पदान्तात्०' से अनुवृत्त पदान्तात् पद को 'यरः' स्थानी के अनुसार षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है। तदनुसार पद के अन्तिम यर् प्रत्याहार बोध्य वर्ण के अनन्तर वर्गों के पञ्चम वर्ण (अनुनासिक) रहने पर स्थानी का सजातीय पञ्चम वर्ण (अनुनासिक) होता है। **उदाहरण**—एतद्+मुरारिः ('द्'-यर् के अनन्तर अनुनासिक (म्) रहने पर द्=न्)—एतन्मुरारिः । विकल्प होने से पक्ष में एतद् मुरारिः । अर्थ—यह मुरारि हैं ।

यह अनुनासिक विधि स्थान और प्रयत्न सादृश्य से अत्यन्त सदृश स्पर्श वर्णों में (ट, ठ, ड इत्यादि में) चरितार्थ हो चुकी है। अतः रेफ में प्रवृत्त नहीं होती, तदनुसार 'चतुर्मुखः' में णकार नहीं हुआ ।

आशय यह है कि 'चतुर्+मुखः' में प्रकृत सूत्र से 'र्' के स्थान में अनुनासिक ण् की प्राप्ति होती है, क्योंकि यहाँ यर् (र्) के अनन्तर अनुनासिक 'म्' वर्ण है। इन दोनों वर्णों का मूर्धा स्थान भी समान है। इस शङ्का के समाधानार्थ 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र में सप्तमी विभक्ति युक्त पाठ स्वीकार करने से सदृशतम स्थानी में ही आदेश स्वीकार किया जाता है। अतः स्थान और प्रयत्न दोनों का ही सादृश्य अपेक्षित है। ऐसा अत्यन्त सादृश्य 'षड्+नाम्' में है। जैसे—'ड्' का मूर्धा स्थान और 'स्पृष्ट' आभ्यन्तरप्रयत्न है, वैसा ही अनुनासिक वर्णों में 'ण्' का है। अतः 'ड्' के स्थान में 'ण्' होकर 'षण्णाम्' की सिद्धि हुई। इस प्रकार सूत्र की चरितार्थता में सदृशतम उदाहरणों के मिलने से केवल मूर्धा स्थान की समानता होने पर 'र्' के स्थान में अनुनासिक 'ण्' नहीं होता । **अथवा**—'अनुस्वारस्य ययि' सूत्र से स्वरितत्व प्रतिज्ञा बल से एकदेश सवर्ण का अपकर्षण कर 'यर् के स्थान में सवर्ण अनुनासिक विकल्प से होता है अनुनासिक परे रहते'

चिन्मयम् । (७७) तोर्लि ८।४।६० । तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः विद्वाँल्लिखति । नस्याऽनुनासिको लः । (७८) उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१ । उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । (७९) तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७ । पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् । (८०) आदेः

काचिदापत्तिः, प्रकृतसूत्राप्राप्तेः । **प्रत्यये भाषायामिति** । अनुनासिकादौ प्रत्यये परे लोके नित्यमनुनासिकः स्यादित्यर्थः । तद् + मात्रम् । चित् + मयम् ।

(७७) **तोर्लीति** । 'अनुस्वारस्य ययि' इत्यतः परसवर्ण इत्यनुवर्तते ।

(७८) **उद इति** । 'अनुस्वारस्ये'त्यतः सवर्णमिह सम्बध्यते, एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् । 'उदः' इति पञ्चम्यन्तत्वेन 'तस्मादित्युत्तरस्ये'ति परिभाषया उदः-परयोरिति लभ्यते ।

अर्थ किया जाता है। चूँकि रेफ का कोई सवर्ण नहीं है।[1] अतः 'चतुर्मुखः' में प्रकृत सूत्र की प्राप्ति नहीं होती।

(वा०)—प्रत्यय के अवयव अनुनासिक वर्ण परे रहते पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक होता है, भाषा (अवैदिक प्रयोग) में। **उदाहरण**—(१) तद्+मात्रम् ('द्'='न'—यहाँ तद् शब्द के पश्चात् मात्रच् प्रत्यय का प्रथम वर्ण 'म्' अनुनासिक होने से नित्य अनुनासिक हुआ।) तन्मात्रम्। अर्थ—उतना ही। (२) चित्+मयम् ('त्'='न्'—चित् शब्द के अनन्तर मयट् प्रत्यय होने से नित्य अनुनासिक) चिन्मात्रम्। अर्थ—चेतनस्वरूप।

(७७) पद—तोः लि। **अनुवृत्ति**— परसवर्णः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तवर्ग को लकार परे रहते परसवर्ण होता है। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नकार के स्थान पर अनुकासिक लकार हुआ।

विमर्श—'अनुस्वारस्य ययि' (८।४।५८) सूत्र से 'परसवर्णः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार तवर्ग=त, थ्, द्, ध्, न् के स्थान पर लकार परे रहने पर लकार का सजातीय वर्ण होता होता है। **उदाहरण**—(१) तद्+लयः (द्=ल्)—तल्लयः। अर्थ—उसका लय। (२) विद्वान्+लिखति (अनुनासिक 'न्' के स्थान पर सानुनासिक 'लँ्' होने से)= विद्वाँल्लिखति। अर्थ—विद्वान् लिखता है।

(७८) पद—उदः, स्थास्तम्भोः, पूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—सवर्णः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उद् से परे 'स्था' और 'स्तम्भ्' को पूर्व सवर्ण होता है।

(७९) पद—तस्माद्, इति, उत्तरस्य। **अनुवृत्ति**—निर्दिष्टे। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—पञ्चमी विभक्ति के निर्देश से किये जाने वाला कार्य वर्णान्तर के व्यवधान से रहित परवर्ण के स्थान में होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्रस्थ 'तस्मात्' पद से शब्दस्वरूप का ग्रहण न होकर पञ्चमी विभक्ति रूप अर्थ लिया जाता है। 'तस्मिन्निति०' (१।१।६६) सूत्र से 'निर्दिष्टे' पद की अनुवृत्ति आने पर अव्यवहित पद की उपस्थिति होती है। अतः विधिसूत्रों में पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट जो पद हो, उससे परवर्ण को कार्य होता है।

---

१. 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति'—महाभाष्यम्।

परस्य १।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्याऽऽदेर्बोध्यम्। अत्राघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य श्वासस्य सस्य तादृश एव थः, इति सस्य थः। (८१) झरो झरि सवर्णे ८।४।६५। हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि। (८२) खरि च ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम्, उत्तम्भनम्। (८३) झयो

---

(८२) **उत्थानमिति**। 'उद्+स्थानम्' इति स्थिते 'तस्मादित्युत्तरस्य' 'आदेः परस्ये'ति परिभाषयोः सहकारेण 'उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्ये'ति सूत्रेण विवारश्वासाघोषमहाप्राणवतः सकारस्य स्थाने विवारश्वासाघोषमहाप्राणवति थकारे कृते उद् थ् थानम् मिति जाते 'झटो झरि सवर्णे' इत्यनेन पूर्वथकारस्य विकल्पेन लोपे

---

(८०) **पद**—आदेः, परस्य। **अनुवृत्ति**—अलः। **परिभाषासूत्र**।

मूलार्थ—पर को विधान किया गया कार्य पर के आदि वर्ण को होता है।

विमर्श—उक्त दोनों परिभाषासूत्रों का आशय यह है कि पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट पर के स्थान में होने वाला कार्य (आदेश) पर के आदि वर्ण के स्थान में होता है। **उदाहरण**—उद्+स्थानम्' में 'उद्' से परे 'स्थानम्' को पूर्व सवर्ण विधान किया गया है। वह इस परिभाषा के बल से 'स्थानम्' के आदि वर्ण 'स्' के स्थान में होता है। तदनुसार यहाँ 'स्' से पूर्व वर्ण 'द्' है। अतः उसका सवर्ण 'थ्' विधान किया जायेगा, क्योंकि 'स्' और 'थ्' का विवार, श्वास, अघोष और महाप्राणप्रयत्न समान है।

(८१) **पद**—झरः, झरि, सवर्णे। **अनुवृत्ति**—अन्यतरस्याम्, हलः, लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'हल्' से परे 'झर्' का विकल्प से लोप होता है, यदि उसके अनन्तर सवर्ण 'झर्' परे हो तो।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (८।४।६८) से 'अन्यतरस्याम्' तथा 'हलो यमाम्०' (८।४।६४) से 'हलः' और 'लोपः' पदों की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार हल् वर्णों के पश्चाद्वर्ती झर् वर्णों का विकल्प से लोप होता है यदि इसके पश्चात् भी अन्य सवर्ण 'झर्' वर्ण रहे।

पूर्वोक्त उदाहरण में पूर्वसवर्ण होने पर 'उद् थ् थानम्' स्थिति हुई। प्रकृत सूत्र द्वारा 'थ्' का विकल्प से लोप होने से 'उद् थानम्'।

(८२) **पद**—खरि, च। **अनुवृत्ति**—झलां, चर्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'खर्' परे रहते 'झल्' के स्थान में 'चर्' आदेश हो।

विमर्श—यहाँ 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) सूत्र से झल् (स्थानी) की तथा 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५४) सूत्र से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार 'खर्' परे रहने पर झल वर्ण के स्थान में 'चर्' आदेश होते हैं। आदेशों में स्थान कृत सादृश्य लिया जाता है। यथा—

स्थानी 'झल्' वर्ण	सादृश्य (स्थान)	आदेश (चर्)
क्, ख्, ग्, घ्	कण्ठ	क्
च्, छ्, ज्, झ्	तालु	च्
ट्, ठ्, ड्, ढ्	मूर्धा	ट्
त्, थ्, द्, ध्	दन्त	त्
प्, फ्, ब्, भ्	ओष्ठ	प्

अतः 'खरि च' सूत्र से 'उद् थानम्' में 'द्' को चर्त्व होकर 'त्' होता है। **उदाहरण**—

होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२ । झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात् । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः । वाग्हरिः । (८४) **शश्छोऽटि ८।४।६३ ।** पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तच्छिवः । तच् शिवः । पदान्तात्किम् । विरप्शम् । छत्वममीति वाच्यम् । तच्छ्लोकेन । तच्

'खरि चे'ति सूत्रेण चर्त्वे दकारस्य तकारे उत्थानमिति पक्षे उत्थ्थानमिति । एवं उद् + स्तम्भनम् ।

(८३) **झय इति ।** 'उदः स्थास्तम्भोः०' इत्यतः पूर्वस्येति 'अनुस्वारस्य ययि' इत्यतः सवर्ण इति चानुवर्तते । 'वाक् + हरिः' इति स्थिते 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे गकारे कृते 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण पूर्वसवर्णे हकारस्य स्थाने विकल्पेन घकारे कृते 'वाग्घरिः' इति । पक्षे 'वाग्हरिः' इति । (अत्र संवारनादघोषमहाप्राणवता हकारेण संवारनादघोषमहाप्राणवान् घकारे तुल्य इत्यवधेयम्) ।

(८४) **तच्छिव इति ।** 'तद् + शिवः' इत्यवस्थायाम् 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन श्चुत्वे दकारस्य जकारे कृते 'खरि चे'ति जकारस्य चकारे कृते 'तच् शिवः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इति सूत्रेण झय्प्रत्याहारबोध्यवर्णचकारात्परस्य शस्य अट्-

---

(१)—उत्थानम् । पक्ष में ('थ्' का लोप न होने पर) उत्थ्थानम् । अर्थ—उठना । (२) उद् + स्तम्भनम् (स्=थ्), उद् थ् तम्भनम् (थ् का विकल्प से लोप)—उद् तम्भनम् ('द्'= 'त्'—'खरि च')=उत्तम्भनम् । पक्ष में (थ् का लोप न होने पर)—उत्थ्तम्भनम् ।

(८३) पद—झयः, हः, अन्यतरस्याम् । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, सवर्णः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'झय्' से परे हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है । संवार, नाद, घोष और महाप्राण प्रयत्न वाले 'ह्' वर्ण के स्थान पर उसी के समान 'घ्' होता है । वाग्घरिः । वाग्हरिः ।

विमर्श—सूत्र में स्थानी 'ह्' का निर्देश किया गया है । परन्तु आदेश का उल्लेख नहीं किया गया । अतः 'उदः स्था०' (८।४।६१) सूत्र से 'पूर्वस्य' तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' (८।४।५८) से 'सवर्णः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार पूर्वसवर्ण आदेश होता है । स्थानी से पूर्व भी झय् प्रत्याहारबोध्य वर्ण होना आवश्यक है । पूर्वसवर्ण में 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा द्वारा गुण कृत साम्य ग्रहण किया जाता है । प्रस्तुत उदाहरण में स्थानकृत साम्य होने से 'ह्' के स्थान पर क्, ख्, ग्, घ्—वर्णों की प्राप्ति होती है, परन्तु संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्न वाला केवल 'घ्' ही है । अतः 'ह्' के स्थान पर पूर्व सवर्ण 'घ्' ही होगा । **उदाहरण**—'वाग् + हरिः' (ह्=घ—विकल्प से पूर्वसवर्ण)=वाग्घरिः । पक्ष में वाग्हरिः । अर्थ—वाणी में चतुर ।

(८४) पद—शः, छः, अटि । **अनुवृत्ति**—पदान्तस्य, झयः, अन्यतरस्याम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त झय् के अनन्तर 'श्' के स्थान पर विकल्प से 'छ्' आदेश होता है । यदि उस 'श्' के बाद 'अट्' हो तो ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झयो०' (८।४।६२) सूत्र से 'झयः' तथा 'अन्यतरस्याम्' एवं 'वापदान्तस्य' सूत्र से 'पदान्तस्य' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'पदान्तस्य' की षष्ठी विभक्ति पञ्चमी में परिवर्तित होकर 'झयः' की विशेषण बन जाती है । तदनुसार पदान्त में विद्यमान झय् प्रत्याहारबोध्य वर्ण के बाद श् के स्थान में छ् आदेश विकल्प से होता है, यदि उसके आगे अट् वर्ण रहें तो । **उदाहरण**—तद् + शिवः ('द्'='ज्'—श्चुत्व)—'तज् + शिवः'—('ज्'='च्'

श्लोकेन । अमि किम् ? वाक् श्च्योतति । (८५) **मोऽनुस्वारः ८।३।२३ ।** मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि । हरिं वन्दे । पदस्य किम् ? गम्यते । (८६) **नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४ ।** नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात् । यशांसि ।

प्रत्याहारबोध्यघटके इकारे परे छत्वे 'तच्छिवः' इति । छत्वाभावे तु 'तच्शिवः' इति । पदान्तत्वाभावे तु 'विरप्शमि'त्यत्र शकारे छत्वापत्तिः स्यात् । **छत्वममीति ।** 'शश्छोऽटि' इति सूत्रे 'अटी'ति पदं विहाय अमीति वाच्यमित्यर्थः ।

(८५) **मोऽनुस्वार इति ।** पदस्येत्यधिकृतम्, म इति पदस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । 'हलि सर्वेषामि'त्यतो हलीत्यनुवर्तते । 'हरिम् + वन्दे' इत्यत्र अलोऽन्त्यपरिभाषया मकारस्यानुस्वारे 'हरिं वन्दे' इति ।

—'खरि च' से चर्त्व)—तच् शिवः ('श्'='छ्'—विकल्प से)=तच्छिवः । पक्ष में तच्शिवः । अर्थ—उसका शिव ।

सूत्र में पदान्त ग्रहण न करने पर एकपद—'विरप्शम्' में 'श्' के स्थान पर 'छ्' हो जाता, अतः 'पदान्त' पद का ग्रहण किया गया है । (वा०) पदान्त झय् से परे 'श्' के स्थान पर छत्व-विधायक उक्त सूत्र 'अटि' के स्थान पर 'अमि' कहा जाय । **उदाहरण**—'तद्+श्लोकेन' (द्=ज्—श्चुत्व) ज्=च्—चर्त्व—तच्+श्लोकेन (श्=छ्—'अम्' परे रहने से) तच्छ्लोकेन । छत्व के अभाव पक्ष में तच् श्लोकेन । **प्रत्युदाहरण**—प्रकृत वार्तिक में 'अम्' पद के अभाव में 'वाक्+श्च्योतति' में 'क्' के अनन्तर 'श्' के स्थान पर 'छ्' आदेश की प्राप्ति होती है । वह न हो इसलिए वार्तिक में 'अमि' पद ग्रहण किया गया है । क्योंकि 'श्' के बाद 'च्' वर्ण अम् प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता ।

(८५) पद—मः, अनुस्वारः । **अनुवृत्ति**—हलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—मान्त पद को हल् परे रहते अनुस्वार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'हलि सर्वेषाम्' सूत्र से 'हलि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' का अधिकार होने से तदन्तविधि होती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा पद के अन्तिम वर्ण 'म्' के स्थान पर अनुस्वार होता है; उस मकार के बाद यदि कोई 'हल्' वर्ण हो तो । **उदाहरण**—'हरिम्+वन्दे' (म्=ं)=हरिं वन्दे । अर्थ—हरि को प्रणाम । **प्रत्युदाहरण**—इस सूत्र में 'पद' ग्रहण न करने पर (गम्यते) 'गम्+य+ते' 'म्' के स्थान पर 'हल्' वर्ण परे रहते अनुस्वार हो जाता; वह न हो, इसलिए 'पद' ग्रहण किया गया है । यहाँ 'म्' पद के अन्त में न होने से अनुस्वार नहीं होगा ।

(८६) पद—नः, च, अपदान्तस्य, झलि । **अनुवृत्ति**—मः, अनुस्वारः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'झल्' परे रहते अपदान्त नकार और मकार के स्थान पर अनुस्वार होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मोऽनुस्वारः' (८।२।२३) से 'मः' तथा 'अनुस्वारः' की अनुवृत्ति आती है । यह सूत्र पदान्त से भिन्न स्थान में अनुस्वार का विधान करता है । तदनुसार अपदान्त 'न्' और 'म्' के स्थान में आगे झल् वर्ण परे होने पर अनुस्वार होता है । **उदाहरण**—(१) 'यशान्+सि' (अपदान्त 'न्' का अनुस्वार होने से)—यशांसि । (२) 'आ+क्रम्+स्यते' (झल् 'स' परे रहने पर अपदान्त 'म्' को अनुस्वार)—आक्रंस्यते । **प्रत्युदाहरण**—सूत्र में 'झल्' पद का

आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यते । (८७) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८ । अङ्कितः । अञ्चितः । शान्तः । गुम्फितः । (८८) वा पदान्तस्य ८।४।५९ । पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि(परे)परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि । (८९) मो राजि समः क्वौ ८।३।२५ । क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् ।

---

(८७) अपदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे नित्यं परसवर्णः स्यादित्यर्थः । **अङ्कित इति ।** 'अङ्क पदे लक्षणे चे'ति स्वार्थिकण्यन्तात् क्तः, इट् 'निष्ठायां सेटि' इति णिलोपः 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति सूत्रेणानुस्वारे तस्य 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यनेन नासिकास्थानसाम्यात् परसवर्णे ङकारे 'अङ्कितः' इति । एवम्—अञ्चितः, शान्तः, गुम्फित इत्यादि ।

(८८) पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे वा परसवर्णः स्यादिति सूत्रार्थः । **त्वङ्करोषि इति ।** 'त्वम् + करोषि' इत्यत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्ये'त्यनेन विभाषया परसवर्णे कृते त्वङ्करोषि इति । पक्षे त्वं करोषि इति ।

(८९) **मो राजीति ।** अत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यतो म इति स्थानषष्ठ्यन्तमनु-

---

ग्रहण न होने पर 'मन्यते' में अपदान्त 'न्' को 'य्' परे रहते (झल् न होने पर भी) अनुस्वार होने लगेगा । वह न हो, इसलिए 'झल्' पद का ग्रहण किया गया है । अर्थ—मानता है ।

(८७) पद—अनुस्वारस्य, ययि, परसवर्णः । **अनुवृत्ति**—अपदान्तस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अपदान्त अनुस्वार के स्थान में यय् परे रहते परसवर्ण होता है ।

विमर्श—'परसवर्ण' का अर्थ है कि अनुस्वार का अपने परवर्ती वर्णों के पञ्चम वर्ण में परिवर्तित हो जाना । प्रकृत्र सूत्र द्वारा अपदान्त न्, म् के स्थान पर हुए अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण होता है । **उदाहरण**—(१) अन्क+क्त (त)—('त' से पूर्व इट् का आगम)—अ न् क्+इ+त (न्=ं अनुस्वार)—अंक्+इत परसवर्ण 'ङ्'=अङ्कित+सु विभक्ति (स्=र्= :)=अङ्कितः । अर्थ—चिह्नित । (२) अन्च्+क्त (त)—अ न् च्+इत—अन्+चितः (न्=ं अनुस्वार) अंचितः (ं=परसवर्ण 'ञ्')-अञ्चितः । अर्थ—पूजित । (३) शम्+क्तः (त) (दीर्घ) शाम्+त (अनुस्वार)=शांतः अनुस्वार से 'त्' परे रहते परसवर्ण 'न्')= शान्तः । (४) गुम्फ्+क्तः (त) गुम्फ्+इत (अनुस्वार)—गुंफ्+इत=गुंफितः (अनुस्वार से 'फ्' परे रहते 'म्' परसवर्ण)=गुम्फितः । अर्थ—गूँथा हुआ ।

(८८) पद—वा पदान्तस्य । **अनुवृत्ति**—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त अनुस्वार के स्थान में यय् परे रहते विकल्प से परसवर्ण होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सम्पूर्ण पूर्वसूत्र (८७) की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार 'यय्' परे रहते पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण होता है । **उदाहरण**—'त्वम्+करोषि' (म्=ं अनुस्वार)—(ं='ङ्' परसवर्ण)=त्वङ्करोषि । पक्ष में त्वं करोषि । अर्थ—तू करता है ।

(८९) पद—मः, राजि, समः क्वौ । **अनुवृत्ति**—मः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे रहते सम् के 'म्' को 'म' ही रहता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मोऽनुस्वारः' से 'मः' पद की अनुवृत्ति आती है । प्रत्ययग्रहण

सम्राट्। (९०) हे मपरे वा ८।३।२६। मपरे हकारे मस्य मो वा स्यात्। किम् ह्मलयति। किं ह्मलयति। * यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् *। कियँ ह्यः। किं ह्यः। किवँ ह्वलयति। किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति। किं ह्लादयति। (९१) नपरे नः ८।३।२७। नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते। किं ह्नुते। (९२) ङः सि

वर्तते। समः इत्यवयवषष्ठी। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया क्विप्प्रत्ययान्तलाभः। तदाह—**क्विबन्त इति।**

(९०) किम् + ह्मलयति पक्षेऽनुस्वारः। **कियँ ह्य इति।** 'किम् + ह्यः' इति स्थिते 'यवलपरे यवला वा' इति वार्तिकेन यपरके हकारे परे 'मोऽनुस्वारः' इति प्राप्तमनुस्वारं प्रबाध्य मकारस्यानुनासिके यकारे विकल्पेन कृते 'कियँ ह्यः' इति। पक्षेऽनुस्वारे किं ह्य इति।

(९१) किम् + ह्नुते।

परिभाषा से तदन्तविधि होने से क्विप्प्रत्ययान्त राज् धातु परे रहते 'सम्' उपसर्ग के अवयव मकार के स्थान पर **'म्'** ही होता है। **उदाहरण**—सम् + राज् + क्विप् (लोप, सुलोप)—सम्राज् ('व्रश्च०' से ज्'='ष्')—सम्राष् (ष्=ड्—जश्त्व)—सम् + राड्) (ड्=ट्—चर्त्व)—सम् + राट् ('म्'='म्')=सम्राट् (अनुस्वार का अभाव)। अर्थ—चक्रवर्ती राजा।

(९०) पद—हे, मपरे, वा। **अनुवृत्ति**—मः (षष्ठी), मः प्रथमा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—मपरक हकार परे रहते 'म्' को 'म्' विकल्प से होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ करने के लिए 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से 'मः' (षष्ठी विभक्ति) की तथा 'मो राजि०' (८९) 'मः' (प्रथमान्त) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'म्' परक हकार परे रहने पर 'म्' के स्थान में विकल्प से 'म्' ही होता है। पक्ष में अनुस्वार होता है। **उदाहरण**—किम् + ह्मलयति (म्=म्)=किम् ह्मलयति। पक्ष में (ं-अनुस्वार)—किं ह्मलयति। अर्थ—क्या चलाता है।

(वा०)—य्, व्, ल् परक हकार परे रहते 'म्' के स्थान में विकल्प से क्रमशः य्, व्, ल् होते हैं। यह वार्तिक अनुस्वार विधि का बाधक है। 'म्' के स्थान पर सानुनासिक यँ्, वँ्, लँ् होते हैं) **उदाहरण**—(१) किम् + ह्यः (म्=यँ्—अनुनासिक विकल्प से)=कियँ् ह्यः। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्यः। अर्थ—कल क्या ? (२) किम् + ह्वलयति (म्=वँ् विकल्प से)=किवँ् ह्वलयति। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्वलयति। अर्थ—क्या चलाता है ? (३) किम् + ह्लादयति (म्=लँ् विकल्प से)=किलँ् ह्लादयति। पक्ष में—किं ह्लादयति। अर्थ—क्या प्रसन्न करता है ?

(९१) पद—नपरे, नः। **अनुवृत्ति**—हे, मः (षष्ठी)। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नकार-परक हकार परे रहते 'म्' को 'न्' विकल्प से होता है।

विमर्श—यहाँ स्थानी को स्पष्ट करने के लिए 'मोऽनुस्वार' से 'मः' पद की अनुवृत्ति आती है। **उदाहरण**—किम् + ह्नुते (म्=न्—ह्न् परे होने के कारण)=किम् ह्नुते। पक्ष में अनुस्वार—किं ह्नुते। अर्थ—क्या छिपाता है ?

(९२) पद—ङः, सि, धुट्। **अनुवृत्ति**—वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'ङ्' के अनन्तर 'स्' को धुट् का आगम विकल्प से होता है।

धुट् ८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा। **(९३) आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६।** टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। षट्त्सन्तः। षट् सन्तः। **(९४) ङ्णोः कुक् टुक् शरि ८।३।२८।** ङकारणकारयोः कुकटुकावागमौ वा स्तः शरि। कुक्टुकोरसिद्धत्वान्न जश्त्वम्। * **चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** *। प्राङ्ख् षष्ठः। प्राङ् क्षष्ठः। प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ् षष्ठः। सुगण्ट् षष्ठः। सुगण् षष्ठः।

---

(९३) **षट्त्सन्त इति।** 'षड्+सन्तः' इत्यत्र 'आद्यन्तौ टकिताविति' परिभाषायाः सहकारेण 'डः सि धुडि'त्यनेन विकल्पेन सकारस्याद्यवयवे धुडागमेऽनुबन्धलोपे 'खरि चे'ति चर्त्वेन धकारस्य तकारे डकारस्य टकारे च कृते षट्त्सन्त इति। धुडभावपक्षे चर्त्वे सति 'षट् सन्तः' इति च रूपम्।

(९४) **ङ्णोः कुगिति।** 'हे मपरे वे'त्यतो वेत्यनुवर्तते। कुक् टुक् चेति समाहारद्वन्द्वः। यथासङ्ख्यपरिभाषाबलेन ङकारस्य कुक्, णकारस्य टुगागमौ भवतः। उभयत्र ककार इत्, उकार उच्चारणार्थः। **चय इति।** पौष्करसादिराचार्यस्तस्य मते चय्प्रत्याहारघटितवर्णानां (कचटतपाम्) स्थाने शरि परे क्रमशः खयः (खछठथफाः) स्युरिति वक्तव्यमित्यर्थः। 'प्राङ्+षष्ठः' इत्यत्र 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' इत्यनेन ङकारस्य कुगागमे तस्य 'आद्यन्तौ टकितौ' इति परिभाषया ङकारस्यान्तावयवेऽनुबन्ध-

---

विमर्श—'हे मपरे वा' (८।३।२६) सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आने से यह धुट् का आगम विकल्प से होता है। 'ट्' तथा 'उ' की इत्संज्ञा होकर केवल 'ध्' शेष रहता है।

(९३) पद—आद्यन्तौ टकितौ। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—टित्, कित् आगम जिसको विधीयमान हों, उसके क्रमशः आदि और अन्त अवयव होते हैं।

विमर्श—द्विपद सूत्र है—टकितौ आद्यन्तौ। टश्च कश्च टकौ। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ—(इतरेतरद्वन्द्व)। अर्थात् टकारेत्संज्ञक विधान यथासंख्य परिभाषा की सहायता से जिसका विधान किया गया हो, उसके आदि में तथा ककार इत्संज्ञक विधान उसके अन्त अवयव के रूप में स्थित रहता है। **उदाहरण**—षड्+सन्तः ('ध्'—धुट् का आगम विकल्प से)—षड् ध् सन्तः (चर्त्व ध्=त् औ ड्=ट्—'खरि च' से)=षट्त्सन्तः। पक्ष में (धुट् का आगम न होने पर 'ड्'='ट्'=चर्त्व)—षट् सन्तः। अर्थ—छः सज्जन।

(९४) पद—ङ्णोः, कुक्, टुक्, शरि। **अनुवृत्ति**—वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ङ्कार और णकार को 'कुक्' और 'टुक्' का आगम विकल्प से होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'हे मपरे वा' सूत्र से 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है। यहाँ उद्देश्य ङकार और णकार एवं विधेय—कुक् और टुक् समान संख्या वाले होने से यथासंख्य परिभाषा के बल से क्रमशः होते हैं। कुक् और टुक् के अन्तिम वर्ण 'क्' और 'उ' की इत्संज्ञा होकर केवल क और ट् शेष रहता है। यहाँ 'क्' की इत्संज्ञा होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा के अनुसार यह आगम स्थानी का अन्तावयव होता है। इस प्रकार 'ङ्' तथा 'ण्' के बाद यदि शर् (श् ष् स्) वर्ण रहें तो क्रमशः 'ङ्' तथा 'ण्' के अन्त में विकल्प से कुक् (क्) तथा टुक् (ट्) का आगम होता है। **उदाहरण**—(१) प्राङ्+षष्ठः (क्—कुक् का आगम विकल्प से)—प्राङ्क् षष्ठः ('क्'='ख'—वार्तिक से द्वितीय वर्ण)=प्राङ्ख् षष्ठः। वर्ग का द्वितीय वर्ण न होने

(९५) नश्च ८।३।३०। नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा। सन्त्सः। सन्सः। **(९६) शि तुक् ८।३।३१।** पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा। सञ्च्छम्भुः। सञ्छम्भुः। सञ्च्शम्भुः। सञ्शम्भुः।

'ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात्॥'

लोपे 'प्राङ्क् षष्ठः' इति जाते 'चयो द्वितीया' वार्तिकेन ककारस्य स्थाने खकारे 'प्राङ्ख् षष्ठः' इति। द्वितीयाक्षराऽभावे क् ष् संयोगे 'प्राङ्क्षष्ठः' इति। कुगागमाभावे च 'प्राङ् षष्ठः' इति। सुगण् + षष्ठः।

(९५) **सन्त्स इति।** 'सन् + सः' इति स्थिते 'नश्चे'ति सूत्रेण विभाषया सस्याद्यावयवे धुटचनुबन्धलोपे चर्त्वे 'सन्त्सः' इति। धुडागमाभावे 'सन् सः' इति।

(९६) 'नश्चे'ति सूत्राद् न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह षष्ठ्यन्तमाश्रीयते, शब्दाधिकारात्। 'पदस्ये'त्यधिकृतम्, अवयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते। 'हे मपरे वे'त्यतो वेत्यनुवर्तते। **सञ्च्छम्भुरिति।** 'सन् + शम्भुः' इत्यत्र 'शि तुक्' इत्यनेन तस्य विकल्पेन तुगागमेऽनुबन्धलोपे 'सन्त् + शम्भुः' इति स्थिते 'शश्छोऽटि' इति शस्य वा छत्वे 'सन्त्छम्भुः' इति, 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तकारस्य श्चुत्वेन चकारे, पुनस्तेनैव

पर (क्+ष्=क्ष्)=प्राङ्क्षष्ठः। कुक् के आगम के अभाव में—प्राङ्षष्ठः। अर्थ—छठा प्राग्देशवासी। (२) सुगण्+षष्ठः (ट्–टुक् का आगम विकल्प से)=सुगण्ट् षष्ठः (ट्=ठ्—वर्ग का द्वितीयाक्षर विकल्प से)=सुगण्ठ् षष्ठः। द्वितीय वर्ण न होने के कारण पक्ष में—सुगण्ट् षष्ठः। टुक् आगम के अभाव में—सुगण् षष्ठः। अर्थ—छठा अच्छा गणक।

(९५) पद—नः, च। **अनुवृत्ति**—सि, धुट्, वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नकारान्त पद से परे 'स्' को धुट् का आगम विकल्प से होता है।

विमर्श—इस सूत्र में 'डः सि धुट्' (८।३।२९) सूत्र से 'सि' और 'धुट्' एवं 'हे मपरे वा' (८।३।२६) सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। अनुवृत्त सप्तम्यन्त 'सि' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। तदनुसार 'न्' के अनन्तर 'स्' को 'धुट्' का आगम विकल्प से होता है। 'धुट्' में 'टकार' और उकार की इत्संज्ञा होकर 'ध्' शेष रहता है। टित् होने से यह सकार के आदि में स्थित रहता है। **उदाहरण**—सन्+सः ('ध्'—धुट् का विकल्प से आगम)—सन् ध् सः ('ध्' ='त्'—चर्त्व)=सन्त्सः। धुट् आगम के अभाव पक्ष में—सन् सः। अर्थ—वह सज्जन।

(९६) पद—शि, तुक्। **अनुवृत्ति**—नः, वा, पदान्तस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त नकार को 'श्' परे रहते तुक् का आगम विकल्प से होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ पूर्ण करने के लिए 'नश्च' (८।३।३०) सूत्र से पञ्चम्यन्त 'नः' तथा 'हे मपरे' से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है। अनुवृत्त 'नः' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित होकर 'पदस्य' का विशेषण बन जाता है। तदन्तविधि होने से—शकार परे रहने पर नकारान्त पद को विकल्प से 'तुक्' का आगम होता है। ककारेत्संज्ञक होने से यह न् का अन्तावयव होगा। **उदाहरण**—'सन्+शम्भुः' ('त्'—तुक् का आगम विकल्प से)—सन् त् शम्भुः ('त्'='च्'— श्चुत्व पुनः 'न्'='ञ्' श्चुत्व)—सन् च् शम्भुः ('श्'='छ्'=शश्छोऽटि से विकल्प से)—सञ्च्-

(९७) ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदं, तस्मात्परस्याऽचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः। **(९८) समः सुटि ८।३।५।** समो रुः स्यात् सुटि। **(९९) अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२।** अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्।

नकारस्य ञकारे 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन विकल्पेन चकारलोपे 'सञ्छम्भुरि'ति। चलोपाभावे 'सञ्च्छम्भुः' इति। छत्वाभावे तकारस्य चुत्वे 'सञ्चशम्भुः' इति। तुगभावे च 'सञ्शम्भुः' इति।

(९७) **ङमो ह्रस्वादिति।** ङमः ङमुट् इत्युभयत्रापि प्रत्याहारग्रहणम्। उडिति प्रत्येकं ङकारादिभिः सम्बध्यते। **प्रत्यङ्ङात्मेति।** 'प्रत्यङ् + आत्मा' इत्यत्र 'आद्यन्तौ टकितौ' इति परिभाषाबलेन 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इति आकारस्याद्यावयवे ङुटि अनुबन्धलोपे 'प्रत्यङ्ङात्मा' इति। एवं सुगण् + ईशः, सन् + अच्युतः।

छम्भुः, ('च्' लोप विकल्प से 'झरो झरि सवर्णे')—सञ्छम्भुः 'च्' का लोप न होने पर पक्ष में—सञ्च्छम्भुः। 'च्' लोप और छत्व न होने पर पक्ष में सञ्चशम्भुः। 'तुक्' आगम न होने पर—सञ्शम्भुः। इस प्रकार यहाँ तुक्, छत्व और 'च्' लोप प्रत्येक कार्य विकल्प से होने के कारण चार रूप बनते हैं। अर्थ—विद्यमान शिव।

(९७) पद—ङमः, ह्रस्वाद्, अचि, ङमुण्, नित्यम्। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व वर्ण से परे ङम्, तदन्त पद से परे अच् को नित्य 'ङमुट्' का आगम होता है।

विमर्श—पदस्य का अधिकार है, वह पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित होकर 'ङम्' का विशेष्य बन जाता है, विशेषण 'ङम्' में तदन्तविधि होती है। 'अचि' पद भी षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। 'ङमुट्' में 'उ' तथा 'ट्' इत्संज्ञक है। ङम् प्रत्याहार के अन्तर्गत ङ्, ण्, न् वर्ण आते हैं। 'ङमुट्' के अनुबन्धों का सम्बन्ध सभी 'ङम्' वर्णों के साथ होने से ङुट्, णुट् तथा नुट् का आगम होता है। **उदाहरण**—(१) प्रत्यङ्+आत्मा (आ से पूर्व 'ङ्' (ङुट्) का आगम) प्रत्यङ्ङात्मा। अर्थ—अन्तरात्मा। (२) 'सुगण्+ईशः' (ई से पूर्व 'ण्' (णुट्) का आगम) सुगण्णीशः। अर्थ—अच्छा गणितज्ञ। (३) 'सन्+अच्युतः' ('अ' से पूर्व 'न्' (नुट्) का आगम) सन्नच्युतः। अर्थ—सत्स्वरूप विष्णु।

(९८) पद—समः, सुटि। **अनुवृत्ति**—रुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सम्' को 'रु' होता है, सुट् परे रहते।

विमर्श—सूत्र में स्थानी—'सम्' तथा निमित्त—'सुट्' का निर्देश किया गया है। आदेश का निर्देश नहीं है। अतः पूर्वसूत्र 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' से प्रसङ्गवशात् 'रु' की अनुवृत्ति आती है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति होने से सम् के अन्तिम वर्ण 'म्' के स्थान में सुट् परे रहते 'रु' होता है।

(९९) पद—अत्र, अनुनासिकः, पूर्वस्य, तु वा। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इस 'रु' प्रकरण में 'रु' से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है।

विमर्श—यहाँ रु प्रकरण का तात्पर्य 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ' (८।३।१) के प्रसङ्ग में होने वाले रु से है। 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) का ग्रहण नहीं होता।

(१००) अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् । **(१०१) खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५।** खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् । इति प्राप्ते । * संपुंकानां सो वक्तव्यः * । सँस्स्कर्ता । संस्स्कर्ता । **(१०२) पुमः खय्यम्परे ८।३।६।** अम्परे खयि पुमो रुः

---

(१००) **अनुनासिकात्पर इति।** रोः पूर्वस्मात्वर्णात्परः अर्थात् रोः पूर्वस्य स्वरवर्णस्योपरि (अनुस्वारः) इत्यर्थः । **संस्स्कर्तेति।** 'सम् + कर्ता' इत्यत्र 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सम् स् कर्ता' इति जाते 'समः सुटि' इति सुट्सम्बन्धिनि सकारे परे सर्वस्य रुत्वे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषयान्त्यस्य मकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'स र् स्कर्ता' इत्यवस्थायाम् 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन विभाषया रोः पूर्वमनुनासिके 'सँर् स्कर्ता' इति जाते 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति सूत्रेण पक्षेऽनुस्वारे संर् स्कर्ता इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्यापवादेन 'वा शरि' इत्यनेन पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे कृते 'सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता' इति रूपद्वयं निष्पन्नम् ।

(१०२) **पुम इति।** 'मतुवसो रुः' इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते । पुम् + कोकिलः = पुँस्कोकिलः ।

---

(१००) पद्—अनुनासिकात्, परः, अनुस्वारः । **अनुवृत्ति**—रुः, पूर्वस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अनुनासिक पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण के परे अनुस्वार का आगम होता है ।

विमर्श—'मतुवसो रु०' (८।३।१) तथा 'अत्रानुनासिक०' (८।३।२) से क्रमशः 'रु' तथा 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार अनुनासिक पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्व वर्ण के पश्चात् अनुस्वार (ं) का आगम होता है ।

(१०१) पद्—खरवसानयोः, विसर्जनीयः । **अनुवृत्ति**—रः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—खर् परे रहते अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग होता है ।

विमर्श—'पदस्य' का अधिकार है । 'रो रि' से 'रः' पद की अनुवृत्ति आती है । वह 'पदस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इस प्रकार—खर्-प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण परे रहते अवसान के विषय में पदान्त 'र्' के स्थान में विसर्ग होता है ।

(वा०)—सम्, पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश होता है ।

उदाहरण—'सम्+कर्ता' (स् (सुट्) का आगम—'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे')—'सम् स् कर्ता' ('म्'='र्')—स र् स्कर्ता ('र्' से पूर्व अनुनासिक विकल्प से) 'सँ र्+स्कर्ता' (पक्ष में अनुस्वार होकर द्वितीय रूप)—संर्+स्कर्ता । ('र्'= : —विसर्ग) सँः स्कर्ता, संः स्कर्ता (विसर्ग के स्थान में 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) के अपवाद 'वा शरि' (८।३।३६) सूत्र से पाक्षिक विसर्ग की प्राप्ति होने पर 'संपुंकानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से विसर्ग के स्थान पर नित्य 'स्' होता है) (: =स्)=सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता ।

(१०२) पद्—पुमः, खयि, अम्परे । **अनुवृत्ति**—रु । **विधिसूत्र।**

स्यात् । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः । पुँस्पुत्रः । पुंस्पुत्रः । अम्परे किम् ? पुंक्षीरम् । खयि किम् ? पुँदासः । पुंसः संयोगान्तलोपेऽवशिष्टभागस्येदमनुकरणम् । * ख्याञादेशे न * । पुंख्यानम् । (१०३) नश्छव्यप्रशाम् ८।३।७ । अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः । (१०४) विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४ । खरि परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चक्रिं-

---

(१०३) **नश्छव्यप्रशानिति** । अम्परे इत्यनुवर्तते रु इति च । तदाह—**अम्पर** इति ।

(१०४) **चक्रिँस्त्रायस्वेति** । 'चक्रिन्+त्रायस्व' इति स्थिते 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषायाः सहकारेण 'नश्छव्यप्रशान्' इति नकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'चक्रि र्

मूलार्थ—अम्परक 'खय्' परे रहते 'पुम्' के मकार को रु होता है।

विमर्श—प्रसङ्गतः 'रु' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार खय्-प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण के अनन्तर अम् प्रत्याहारस्थ वर्ण हो तो 'पुम्' के 'म्' के स्थान पर 'रु' होता है। **उदाहरण**—पुम्+कोकिलः' (म्=र्—यहाँ 'क्' खय् वर्ण है और उसके अनन्तर 'ओ' अम् प्रत्याहारस्थ वर्ण है) रु प्रकरण में होने वाला अनुनासिक होकर—'पुँर् कोकिलः' ('र्'='स्'—वार्तिक से)= पुँस्कोकिलः। पक्ष में अनुस्वार—पुंस्कोकिलः। अर्थ—नर कोयल। इसी प्रकार पुम्+पुत्रः (पूर्ववत्)=पुँस्पुत्रः, पुंस्पुत्रः। अर्थ—वीर पुत्र। **प्रत्युदाहरण**—(१) प्रकृत सूत्र में 'खय्' के अनन्तर 'अम्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का होना न स्वीकार किया जाय तो 'पुंक्षीरम्' में भी 'म्' को 'रु' होने लगेगा। 'अम्' ग्रहण होने से 'क्' के बाद 'ष्' वर्ण 'अम्' के अन्तर्गत न होने से 'रु' नहीं हुआ। (२) इसी प्रकार इस सूत्र में 'खय्' पद के न रखने पर 'पुंदासः' 'पुम्+दासः' में केवल अम् परे रहने पर 'म्'='रु' होने लगेगा। 'खय्' पद के ग्रहण करने पर 'र्' नहीं होगा, क्योंकि 'द्' खय् प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता।

(वा०) चक्षिङ् (धातु) के स्थान में 'ख्याञ्' आदेश होने पर 'पुम्' के 'म्' के स्थान पर 'रु' (र्) नहीं होता। **उदाहरण**—पुंख्यानम्। पुम्+चक्ष् (चक्षिङ्)+ल्युट् (यु) (यु=अन)-पुम्+चक्ष्+अन चक्ष्=ख्या—'चक्षिङः ख्याञ्' (२।४।५४) सूत्र से)—पुम्+ख्या+अन (दीर्घ)—पुम्+ख्यान (विभक्तिकार्य)—पुम्+ख्यानम् (प्राप्त रुत्व का प्रकृत वार्तिक से निषेध) अनुस्वार होकर—पुंख्यानम्। अर्थ—पुरुष का वर्णन।

(१०३) पद—नः, छवि, अप्रशान्। **अनुवृत्ति**—अम्परे, रुः, पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अम्परक छव् परे रहने पर प्रशान् भिन्न नान्त पद को रु आदेश होता है।

विमर्श—पदस्य का अधिकार है। 'नः' विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। 'पुमः खय्यम्परे' से 'अम्परे' तथा 'मतुवसो रु०' से 'रु' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार अम्=(स्वर, अन्तःस्थ, ह तथा वर्गों के पञ्चमवर्ण) परक छव्=(च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्) वर्णों के परे रहने पर प्रशान् शब्द से भिन्न नकारान्त पदों के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा अन्तिम वर्ण 'न्' के स्थान पर 'रु' (र्) होगा।

(१०४) पद—विसर्जनीयस्य, सः। **अनुवृत्ति**—खरि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—खर् परे रहते विसर्ग के स्थान में स् आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।४५) से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है। **उदाहरण**—'चक्रिन्+त्रायस्व' ('न्'='र्' यतः उसके बाद छव्-'त्' है तथा उसका पश्चाद्-

स्त्रायस्व । चक्रिस्त्रायस्व । अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति । पदस्य किम् ? हन्ति । अम्परे किम् ? सन्त्सरुः खड्गमुष्टिः । (१०५) नॄन्पे ८।३।१० । नॄनित्यस्य रुर्वा पे । (१०६) कुप्वोः ≍क≍ पौ च ८।३।३७ । कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍ पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍ पाहि । नॄं≍ पाहि । नॄँः पाहि । नॄंः पाहि । नॄन्पाहि ।

त्रायस्व' इति जाते विकल्पेन 'अत्रानु०' इत्यनेनानुनासिके पक्षे 'अनुनासिकात्परः०' इत्यादिना अनुस्वारे कृते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वे चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्वे'ति रूपद्वयम् ।

(१०५) **नॄन्पे इति** । 'मतुवसो रु' इत्यतः रु इत्यनुवर्तते । 'नॄन्' इत्यस्य रु स्याद्वा पकारे पर इत्यर्थः ।

(१०६) **'नॄँ≍पाही'ति** । 'नॄन्+पाही'ति स्थिते नकारस्य अलोऽन्त्यपरिभाषया रुत्वे पाक्षिकानुनासिके पक्षेऽनुस्वारे च कृते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'कुप्वोः≍क≍पौ च' इत्युपध्मानीये 'नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि' इति । उपध्मानीयाभावे विसर्गे सति नॄँः पाहि, नॄंः पाहि' इति । रुत्वाऽभावपक्षे च 'नॄन्पाही'ति पञ्चरूपाणि ।

वर्ती वर्ण 'अम्' 'र्' है)—चक्रि र् त्रायस्व, (अनुनासिक) चक्रिँर्त्रायस्व, (र्=:, विसर्ग) चक्रिँः त्रायस्व, (:=स्—विसर्जनीयस्य सः) चक्रिँस्त्रायस्व । पाक्षिक अनुनासिक होने से पक्ष में अनुस्वार—चक्रिंस्त्रायस्व । अर्थ—हे चक्रधारी कृष्ण ! रक्षा करो । **प्रत्युदाहरण**—(१) सूत्र में 'अप्रशान्' पद का ग्रहण होने से 'प्रशान् तनोति' में 'न्' को प्रशान् शब्द के अन्तर्गत होने के कारण 'रु' नहीं हुआ । (२) पद के अन्त में 'न्' के न होने से 'हन्ति' में 'रु' नहीं हुआ । (३) 'अम्परे' पद का ग्रहण होने से 'सन्त्सरुः' 'न्' के अनन्तर 'त्'-छ्व् होने पर भी उसके पश्चात् रहने वाला 'स्' वर्ण अम् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से 'न्' के स्थान पर 'रु' नहीं हुआ । अर्थ—तलवार की मूँठ ।

(१०५) पद—नॄन्, पे । **अनुवृत्ति**—रु, उभयथा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नॄन् के नकार को पकार परे रहने पर रु विकल्प से होता है ।

विमर्श—यहाँ आदेश वाचक पद 'रु' की अनुवृत्ति 'मतुवसो०' से आती है । 'उभयथर्क्षु:' (८।३।८) से विकल्पार्थक 'उभयथा' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के बल से 'नॄन्' के 'न्' के स्थान पर पकार परे रहते 'रु' आदेश होता है ।

(१०६) पद—कुप्वोः, ≍क≍पौ, च । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विसर्ग के स्थान पर कवर्ग, पवर्ग परे रहते क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते हैं । पक्ष में विसर्ग भी होता है ।

विमर्श—सूत्र में स्थानी का सङ्केत नहीं किया गया है । अतः 'विसर्जनीयस्य सः' (१०४) से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति आती है । 'कुप्वोः'[1] निमित्त वाचक पद है । इस प्रकार विसर्ग के अनन्तर कवर्ग, पवर्ग परे रहने पर विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय (≍क) और उपध्मानीय (≍प≍फ) आदेश क्रमशः होते हैं । पक्ष में 'च्' पद से विसर्ग भी । **उदाहरण**—नॄन्+पाहि

---

१. कुश्च पुश्च कुपू, तयोः कुप्वोः । कपावुच्चारणार्थौ ।

(१०७) सोऽपदादौ ८।३।३८ । विसर्गस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः । *पाश-कल्पक-काम्येष्विति वाच्यम्* । पयस्पाशम् । पयस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । *अनव्ययस्येति वाच्यम्* । प्रातःकल्पम् । *काम्ये रोरेवेति वाच्यम्* । नेह—गीः काम्यति । (१०८) इणः षः ८।३।३९ । इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिष्कल्पम् ।

---

(१०७) **सोऽपदादाविति** । कुप्वोरित्यनुवर्तते, तस्याऽपदादाविति विशेषणम् । **पयस्पाशमिति** । 'पयस्+पाशम्' इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे विसर्गे च कृते 'पयः पाशमि'ति जाते प्राप्तमुपध्मानीयं प्रबाध्य 'सोऽपदादौ' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे पयस्पाशमिति । एवं पयस्कल्पमित्यादयः ।

(१०८) **इणः ष इति** । सूत्रेऽस्मिन् कुप्वोरिति, अपदादाविति, पाशकल्पकेत्यादि,

---

('नृ'='ऱ्')—नॄ ऱ् पाहि, (पाक्षिक अनुनासिक)—नॄँ ऱ् पाहि, (पक्ष में अनुस्वार)—नॄं ऱ् पाहि, (ऱ्=: विसर्ग)—नॄँ: पाहि, पकार परे रहते उपध्मानीय)—नॄँ ⌣पाहि, नॄं ⌣पाहि । पक्ष में विसर्ग—नॄँ: पाहि, नॄं: पाहि । 'नॄन्पे' सूत्र से रुत्व के अभावपक्ष में नॄन्पाहि ।

(१०७) पद—सः, अपदादौ । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, कुप्वोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—विसर्ग के अनन्तर अपदादि क वर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

(वा०) इस सन्दर्भ में पाशप्, कल्पप्, क तथा काम्यच् प्रत्ययों के परे रहने पर ही स् आदेश होता है, ऐसा कहना चाहिए ।

विमर्श—यहाँ अनुवृत्त 'विसर्जनीयस्य' पद स्थानी है तथा सूत्रस्थ 'सः' आदेश । 'कुप्वोः०' (८।३।३७) से 'कुप्वोः' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार विसर्ग के पश्चात् पदादिभिन्न कवर्ग-पवर्ग परे रहने पर विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

(वा०) 'यह आदेश प्रायः पाशप्, कल्पप्, क और काम्यच् प्रत्ययों के परे रहने पर ही हो ।' यह वार्तिककार का अभिप्राय है ।

उदाहरण—(१) पयः+पाशम् (कुत्सित अर्थ में 'पयस्' शब्द से 'पाशप्' प्रत्यय—'याप्ये पाशप्' ५।३।४७) अतः (:=स्)=पयस्पाशम् । अर्थ—खराब दूध । (२) पयः+कल्पम् (कम अर्थ में पयस् शब्द से 'कल्पप्' प्रत्यय—'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' अतः विसर्ग=स्)=पयस्कल्पम् । अर्थ—कम दूध । (३) यशः+कम् (न्यून अर्थ में 'क' प्रत्यय—'अज्ञाते' अथवा 'कुत्सिते' (५।३।७४) अतः 'विसर्ग=स्')=यशस्कम् । अर्थ—अप यशस्वी । (४) यशः+काम्यति (अपने यश की इच्छा करने वाले अर्थ में 'काम्यच्' प्रत्यय—'काम्यच्च' (३।१।९) अतः विसर्ग=स्)=यशस्काम्यति । अर्थ—अपने यश का इच्छुक ।

(वा०) 'अनव्ययस्य इति वाच्यम्' । पूर्व वार्तिक का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वार्तिककार का कथन है कि—अव्यय से भिन्न विसर्ग के स्थान पर 'स्' आदेश हो । अत एव 'प्रातः+कल्पम्' में (:) विसर्ग को 'स्' नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'प्रातः' अव्यय पद है ।

(वा०) काम्ये, रोः, एव, इति वाच्यम् । 'काम्यच्' प्रत्यय परे रहने पर रु के स्थान में हुए विसर्ग को ही 'स्' होता है । अतः 'गीः+काम्यति' में विसर्ग को 'स्' नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ विसर्ग 'रु' के स्थान पर नहीं हुआ है । अर्थ—वाणी का इच्छुक ।

सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति । (१०९) कस्कादिषु च ८।३।४८ । एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यस्य तु सः । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालमित्यादि । आकृतिगणोऽयम् । (११०) तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२ ।

अनव्ययस्येति, काम्ये रोरेवेति च सम्बध्यते । परस्येत्यध्याहार्यम्, 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्मात् 'विसर्जनीयस्ये'त्यनुवर्तते । **सर्पिष्कल्पमिति ।** 'सर्पिः + कल्पम्' इत्यत्र 'कुप्वोः≍क≍पौ च' इत्यनेन प्राप्तं जिह्वामूलीयं प्रबाध्य 'इणः षः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे 'सर्पिष्कल्पमि'ति ।

(१०९) **कस्कादिषु चेति ।** अत्र 'इणः षः' इत्यत इण इति, 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्मात् 'विसर्जनीयस्ये'ति, 'सोऽपदादावि'त्यतः 'सः' इति चानुवर्तते । सूत्रे कस्कादिष्विति विषयसप्तमी । तेन कस्कादिगणे इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात्, अन्यस्य विसर्गस्य इण्परत्वाभावान्न षत्वम्, किन्तु सत्वं भवतीत्यर्थः फलितः ।

---

(१०८) पद—इणः षः । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पूर्वोक्त विषय में इण् से परे विसर्ग को 'ष्' होता है ।

विमर्श—यहाँ 'विसर्जनीयस्य सः' से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अनुवृत्त विसर्ग स्थानी है और 'ष्' आदेश । पूर्व वार्तिक सम्बन्धी प्रत्ययों के विषय में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । अतः 'इण्'=इ, उ के अनन्तर विसर्ग के पश्चात् पूर्व वार्तिकोक्त पाशप्, कल्पक्, क तथा काम्यच् प्रत्यय परे रहने पर विसर्ग के स्थान में 'ष्' आदेश होता है । **उदाहरण**—(१) सर्पिः+पाशम् (इ के बाद विसर्ग=ष्)=सर्पिष्पाशम् । अर्थ—खराब घी । (२) सर्पिः+कल्पम् (इ के पश्चाद्वर्ती :=ष्)=सर्पिष्कल्पम् । अर्थ—घी के समान । (३) सर्पिः+कम् (विसर्ग : =ष्)=सर्पिष्कम् । अर्थ—कम घी । (४) सर्पिः+काम्यति (विसर्ग=ष्)= सर्पिष्काम्यति । अर्थ—घी का इच्छुक ।

(१०९) पद—कस्कादिषु, च । **अनुवृत्ति**—सः, षः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कस्कादिगणपठित शब्दों में इण् से परे विसर्ग को 'ष्' होता है । इण् भिन्न से परे (यदि इण् से परे विसर्ग न रहे तो) विसर्ग के स्थान में 'स्' होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सोऽपदादौ' सूत्र से 'सः' तथा 'इणः षः' सूत्र की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार उक्त गणपठित शब्दों के अवयव इण्=इ, उ के पश्चाद्वर्ती विसर्ग को ष् होता है । इण् के अनन्तर विसर्ग न रहने पर विसर्ग को 'स्' आदेश होता है । **उदाहरण**—(१) 'कः+कः' (इण् से परे विसर्ग न होने के कारण विसर्ग=ष् नहीं हुआ, अपितुः='स्')=कस्कः । अर्थ—कौन-कौन । (२) कौतः+कुतः ('कुतः' से आगत अर्थ में अण् आदिवृद्धिः) (विसर्ग=स्)= कौतस्कुतः । अर्थ—कहाँ-कहाँ से । (३) 'सर्पिः+कुण्डिका' (इण् से परे विसर्ग होने से :=ष्) =सर्पिष्कुण्डिका । अर्थ—घी का पात्र । (४) 'धनुः+कपालम्' (विसर्ग=ष्)=धनुष्कपालम् । अर्थ—धनुष की डोरी । कस्कादि आकृतिगण है ।

(११०) पद—तस्य, परम्, आम्रेडितम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—द्विरुक्त (जो दो बार कहा गया हो) के दूसरे रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है ।

विमर्श—'सर्वस्य द्वे' का अधिकार होने से सूत्रपठित 'तस्य' पद से द्वित्व का संकेत किया गया है । इस प्रकार किसी शब्द को दो बार कहने पर दूसरी बार उच्चरित शब्द 'आम्रेडित' संज्ञक होगा ।

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्। **(१११) कानाम्रेडिते ८।३।१२।** कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्। कांस्कान्। **(११२) छे च ६।१।७३।** ह्रस्वस्य छे तुक्। स्वच्छाया। शिवच्छाया। **(११३) आङ्माङोश्च ६।१।७४।** तुक् छे। आच्छादयति मा च्छिदत्। **(११४) दीर्घात् ६।१।७५।** तुक् छे। म्लेच्छति। **(११५) पदान्ताद्वा ६।१।७६।** दीर्घात्पदान्तात् छे परे तुग्वा स्यात्। लक्ष्मीच्छाया। लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।

---

(१११) **कानाम्रेडित इति।** 'रु' इत्यनुवर्तते। 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषया कान्शब्दान्तस्य नस्येति लभ्यते। काँस्कानिति। 'कान्+कान्' इति स्थिते 'तस्य परमाम्रेडितम्' इत्यनेन द्वितीयस्य कान्नित्यस्याम्रेडितसंज्ञायां 'कानाम्रेडिते' इति आम्रेडिते परे प्रथमनकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः०' इत्यनेन विकल्पेनानुनासिके 'काँर् कान्' इति जाते रेफस्य विसर्गे 'सम्पुंकानामि'ति सत्वे काँस्कान् इति। पक्षेऽनुस्वारे 'कांस्कान्' इति।

(११२) **छे च इति।** 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यतः 'ह्रस्वस्य' 'तुक्' इति चानुवर्तते। **स्वच्छायेति।** 'स्व+छाया' इत्यत्र 'छे च' इति तुगागमेऽनुबन्धलोपे 'स्वत्

---

(१११) पद—कान्, आम्रेडिते। **अनुवृत्ति**—रुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'कान्' के नकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है, आम्रेडित परे रहते।

विमर्श—यहाँ 'मतुवसो०' सूत्र से आदेशवाचक पद 'रु' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार 'कान्' शब्द को द्वित्व (द्विरावृत्ति) होने पर पूर्व नकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है। **उदाहरण**—कान्+कान् (प्रथम 'न्'='र्')—'का र् कान्', (पाक्षिक अनुनासिक)—'काँ र् कान्' (र्=विसर्ग)—काँः कान् (ः=स्—'संपुंकानां सो वक्तव्यः') काँस्कान्। पक्ष में अनुस्वार—कांस्कान्। अर्थ—किन्हें-किन्हें।

(११२) पद—छे, च। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वस्य, तुक्, संहितायाम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व वर्ण के पश्चात् 'छ्' परे रहने पर संहिता के विषय में तुक् का आगम होता है।

विमर्श—यहाँ 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) से 'तुक्' तथा 'ह्रस्वस्य' पदों की अनुवृत्ति आती है। संहितायाम् (६।१।७२) का अधिकार है। अतः यह आगम सन्धि के विषय में ही प्रवृत्त होगा। **उदाहरण**—(१) 'स्व+छाया' (तुक्—त्) का आगम—कित् होने से ह्रस्व वर्ण (वकारोत्तरवर्ती अकार) का अन्तावयव)—'स्वत् छाया' (त्=द्—'श्चुत्व असिद्ध होने से 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व)—'स्वद् छाया', (द्=ज्—'खरि च' के असिद्ध होने से श्चुत्व)—'स्वज् छाया' (ज्=च्—'खरि च' से चर्त्व)=स्वच्छाया। अर्थ—अपनी छाया। (२) शिव+छाया (तुक् होकर पूर्ववत्)=शिवच्छाया। अर्थ—शिव की छाया।

(११३) पद—आङ्माङोः, च। **अनुवृत्ति**—छे तुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'आङ्' तथा 'माङ्' अव्ययों को तुक् का आगम होता है 'छ्' परे रहते।

विमर्श—यहाँ 'छे च' (६।१।७३) से 'छे' तथा 'ह्रस्वस्य पिति०' (६।१।७१) से 'तुक्' की

अथ विसर्गसन्धिः

(११६) **विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४।** खरि परे विसर्जनीयस्य सः। विष्णु-स्त्राता। (११७) **शर्परे विसर्जनीयः ८।३।३५।** शर्परे खरि विसर्गस्य विसर्गो, न

छाया' इति जाते श्चुत्वस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वं 'झलां जश् झशि' इत्यनेन जश्त्वेन तकारस्य दकारे, ततश्च श्चुत्वापेक्षया 'खरि चे'ति चर्त्वस्याऽसिद्धतया पूर्वं 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन दकारस्य जकारे ततः 'खरि च' इति चर्त्वेन चकारे कृते स्वच्छायेति।

(११५) **पदान्ताद्वेति**। अत्र तुक्, छे, दीर्घात् इत्यनुवर्तते। तदाह—**दीर्घादि-त्यादिना। लक्ष्मीच्छायेति**। 'लक्ष्मी + छाया' इति स्थिते 'पदान्ताद्वा' इत्यनेन विभाषया तुकि उको लोपे श्चुत्वेन तकारस्य चकारे 'लक्ष्मीच्छाया' इति। तुगागमाऽभावे च 'लक्ष्मीछाया' इति।

(११६) एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यतो मण्डूक-प्लुत्या 'खरी'त्यनुवर्तते। तदाह—**खरि पर इत्यादि**।

अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ङकारेत्संज्ञक 'आङ्' तथा 'माङ्' को 'छ्' परे रहते 'तुक्' (त्) का आगम होता है।

उदाहरण—(१) 'आ+छादयति' ('त्' का आगम)—'आ त् छादयति' (त्=द्—('झलां जशोऽन्ते')—आ द् छादयति, द्=ज्—श्चुत्व)—आ ज् छादयति (ज्=च्-चर्त्व)= आच्छादयति। अर्थ—ढकता है। (२) मा+छिदत् (तुक्-त् का आगम)—मा+त्+छिदत् (त्=द्—जश्त्व)—मा द् छिदत् (द=ज्—श्चुत्व)—मा ज् छिदत् (ज्=च्—चर्त्व)= माच्छिदत्। अर्थ—मत ढंको।

(११४) पद—दीर्घात्। **अनुवृत्ति**—छे, तुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—दीर्घ को तुक् का आगम होता है, छकार परे रहते।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'छे' तथा 'तुक्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः दीर्घ को 'छ्' परे रहने पर उसका अन्तावयव (तुक्) 'त्' होता है।

उदाहरण—म्ले+छति (तुक् (त्)—दीर्घ का अन्तावयव)—म्ले त् छति, (त्=द्) म्ले द् छति (द्=ज्, ज्=च्) म्लेच्छति।

(११५) पद—पदान्ताद्, वा। **अनुवृत्ति**—दीर्घात्, छे, तुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त दीर्घ को 'छ्' परे रहते विकल्प से तुक् का आगम होता है।

विमर्श—पूर्व सूत्र 'दीर्घात्' यहाँ अनुवृत्त होता है तथा 'छे' और 'तुक्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार पद के अन्त में विद्यमान दीर्घ स्वर की विकल्प से 'त्' का आगम होगा, आगे 'छ्' वर्ण के परे रहते। **उदाहरण**—'लक्ष्मी+छाया' (तुक्-त्)—ईकार का अन्तावयव विकल्प से—'लक्ष्मी त्+छाया' (त्=द्)—लक्ष्मी द्+छाया (द्=ज—श्चुत्व)—लक्ष्मी ज्+छाया (ज्=च्—चर्त्व)=लक्ष्मीच्छाया। 'तुक्' के अभाव पक्ष में—लक्ष्मीछाया। अर्थ—लक्ष्मी की कान्ति।

हल्सन्धिप्रकरण समाप्त।

---

(११६) पद—विसर्जनीयस्य, सः। **अनुवृत्ति**—खरि। **विधिसूत्र।**

त्वन्यत् । कः त्सरुः । 'घनाघनः क्षोभणः' । (११८) वा शरि ८।३।३६ । शरि परे विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते । हरिश्शेते । *खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः* । हरि स्फुरति । हरिः स्फुरति ।

इति विसर्गसन्धिः ।

---

(११७) **शर्परे इति ।** विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते, खरि च । शर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः ।

(११८) **वा शरि इति ।** पूर्ववत् विसर्जनीयस्येति, विसर्जनीय इति चानुवर्तते । विसर्गस्य पाक्षिकं विसर्गविधानम् । **हरिःशेते इति ।** 'हरिः + शेते' इत्यवस्थायाम् 'वा शरि' इत्यनेन विकल्पेन विसर्गस्य विसर्गे कृते 'हरिःशेते' इति । पक्षे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे श्चुत्वेन सकारस्य शकारे कृते 'हरिश्शेते' इति । **खर्परे शरीति ।** खर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । खर्परके शरि परे विसर्गस्य विकल्पेन लोपो वक्तव्य इत्यर्थः ।

इति विसर्गसन्धिः ।

मूलार्थ—'खर्' परे रहते विसर्ग के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

विमर्श—विसर्ग के साथ अन्य वर्णों के मिलने से पदों में जो परिवर्तन होते हैं, उनका विवेचन इस प्रकरण में किया जा रहा है--

प्रकृत सूत्र में 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'विसर्ग' स्थानी है, 'स्' आदेश है और अनुवृत्त 'खर्' निमित्त है ।

(११७) पद्—शर्परे, विसर्जनीयः । **अनुवृत्ति**—विसर्जनीयस्य, खरि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शर् परक खर् परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग ही होता है, और कुछ नहीं ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र से 'विसर्जनीयस्य' तथा 'खरवसानयो०' से 'खरि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार विसर्ग के पश्चात् खर् प्रत्याहारस्थ वर्णों के पश्चाद्वर्ती शर् प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण हों तो विसर्ग के स्थान में विसर्ग ही होता है । **उदाहरण**--(१) 'कः+त्सरुः'=कः त्सरुः (विसर्ग के अनन्तर 'त्' खर है, उसके बाद 'स्'-शर् प्रत्याहारान्तर्गत आता है, अतः विसर्ग=:) । अर्थ—कौन-सी तलवार की मूँठ । (२) घनाघनः+क्षोभणः (: = :)=घनाघनः क्षोभणः । अर्थ—अरिघातक इन्द्र ।

यह सूत्र कुप्वोः≍क≍पौ च' का अपवाद है ।

(११८) पद्—वा शरि । **अनुवृत्ति**--विसर्जनीयस्य, विसर्जनीयः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शर् (श्, ष्, स्) परे रहते विसर्ग के स्थान में विसर्ग विकल्प से होता है ।

विमर्श--प्रकृत सूत्र में 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) से स्थानीवाचक—'विसर्जनीयस्य' तथा 'शर्परे विसर्जनीयः' (११७) से आदेशवाचक 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति आती है । विसर्ग के अनन्तर शर् का होना निमित्त है । **उदाहरण**--(१) 'हरिः+शेते (: = : —विसर्ग के पश्चात् 'श्' रहने से विकल्प से विसर्ग)=हरिः शेते । पक्ष में (:=स्)—हरिस् शेते (स्=श्) —श्चुत्व=हरिश्शेते । अर्थ—हरि शयन करते हैं ।

अथ स्वादिसन्धिः

(११९) ससजुषो रुः ८।२।६६। पदान्तस्य सस्य सजुष्शब्दस्य च रुः स्यात्। **(१२०) अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३।** अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः। अतः किम्? देवा अत्र। अतीति किम्? श्व आगन्ता।

---

(११९) **ससजुषो रु इति।** सश्च सजूश्च ससजुषौ तयोरिति विग्रहः। 'पदस्ये'-त्यधिकारः। स च सकारेण सजुष्शब्देन च विशेष्यते। तदन्तविधिः। सकारान्तं सजुष्शब्दान्तं च यत्पदं, तस्यान्त्यस्य रुः स्यादिति फलितोऽर्थः।

(१२०) 'ऋत उत' इत्यस्मात् सूत्रात् उदित्यनुवर्तते। 'एङः पदान्तादति' इत्यतः अतीत्यनुवर्तते। तदाह—**अप्लुतादित्यादिना। शिवोऽर्च्य इति।** शिवस्+अर्च्यः इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यनेन रोरुत्वे 'शिव+उ+अर्च्यः' इति जाते 'आद् गुणः' इत्यनेन गुणे (अ+उ=ओ) 'शिवो+अर्च्यः'

(वा०) खर् परक शर् परे रहते विसर्ग का विकल्प से लोप होता है। **उदाहरण**—हरिः+स्फुरति, (विसर्ग का वार्तिक से विकल्प से लोप) हरि स्फुरति। लोप के न होने पर पक्ष में 'वा शरि' से पाक्षिक : = : =हरिः स्फुरति। विसर्ग के न होने पर :=स्=हरिस्स्फुरति। अर्थ—हरि चलते हैं।

विसर्गसन्धि-प्रकरण समाप्त।

---

(११९) पद—ससजुषोः, रुः। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त सकार और 'सजुष्' शब्द के षकार के स्थान में 'रु' आदेश होता है।

विमर्श—प्रातिपदिकसंज्ञक शब्दों से प्रथमादि सात विभक्तियों से सु, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्ययों का विधान किया जाता है। इन विभक्तियों के जोड़ने से जो सन्धि-विषयक परिवर्तन होते हैं, उनका विवेचन स्वादिसन्धि के अन्तर्गत किया गया है—

प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' का अधिकार होने से 'ससजुषोः' विशेषण है और विशेषण में तदन्त विधि होती है। अतः पद के अन्त में विद्यमान 'स्' तथा 'सजुष्' शब्द के अन्तिम वर्ण 'ष्' के स्थान में रु (र्) आदेश होता है।

(१२०) पद—अतः, रोः, अप्लुतात्, अप्लुते। **अनुवृत्ति**—उत्, अति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अप्लुत (प्लुतभिन्न) अकार से परे रु के स्थान पर उ होता है, यदि रु के पश्चात् भी अप्लुत अत् (ह्रस्व अकार) परे हो तो।

विमर्श—यहाँ 'ऋत उत्' (६।१।१११) से आदेशवाचक 'उत्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) से 'अति' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अप्लुत ह्रस्व अकार से परे 'रु' के स्थान में अप्लुत अकार के परे रहने पर उत् (उकार) होता है। **उदाहरण**—शिवस्+अर्च्यः (स्=रु (र)—'ससजुषो रुः')—शिव र् अर्च्यः, ('र' के पूर्व एवं पर में ह्रस्व 'अ' होने से र्=उ) शिव+उ+अर्च्यः, (उ+उ='ओ' गुण) शिवो+अर्च्यः (पूर्वरूप—पदान्तादति)=शिवोऽर्च्यः। अर्थ—शिवजी पूज्य हैं।

अप्लुतात्किम् ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्याऽसिद्धत्वादतः परोऽयम् । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नाऽसिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम्, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । अप्लुत इति किम् ? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त । (१२१) हशि च ६।१।११४ । अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः । (१२२)

इति जाते 'एङः पदान्तादति' इत्यनेनाकारस्य पूर्वरूपे कृते 'शिवोऽर्च्यः' इति । **अप्लुतादिति** । अत इति तपरकरणस्य दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वेन प्लुतनिवृत्तौ सामर्थ्याभावात् प्लुतेऽपि रुत्वं मा भूदित्यर्थम् अप्लुतादिति ग्रहणमित्याशयः । न च 'एहि सुस्रोत३ अत्र स्नाहि' इत्यत्र अतः परत्वाभावात् 'अतो रो०' इति सूत्रस्य प्राप्तिरेव नास्तीति वाच्यम्; प्लुतस्य त्रैपादिकत्वेनाऽसिद्धत्वादतः परत्वमस्त्येव । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् ।

(१२१) **हशि चेति** । 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यतः पदत्रयमनुवर्तते । 'ऋत उदि'त्यतः उदिति चानुवर्तते । तदाह—**अप्लुतादित्यादिना** । **शिवो वन्द्य इति** । 'शिवस् + वन्द्यः' इत्यवस्थायाम् 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'हशि चे'त्यनेन रोरुत्वे 'शिव + उ + वन्द्यः' इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे शिवो वन्द्य इति ।

प्रत्युदाहरण—(१) प्रकृत सूत्र में 'अतः' पद न रखने पर 'देवास् + अत्र' यहाँ स् = रु (र) होकर 'देवा र् अत्र' यहाँ र् = उ होने लगेगा, वह न हो इसलिए 'अतः' पद ग्रहण किया गया है। प्रक्रिया—देवा र् अत्र, (र् = य्—'भो भगो०') देवाय् अत्र ('य्' लोप—लोपः शाकल्यस्य) = देवा अत्र ।

(२) 'र्' के अनन्तर भी ह्रस्व अकार होने पर 'उ' होता है। अतः सूत्र में 'अति' का सन्निवेश किया गया है। 'अति' ग्रहण न करने पर 'श्वस् + आगन्ता'—(स् = रु-र्) श्वर् आगन्ता में र् के बाद दीर्घ आकार होने पर भी 'र् = उ' होने लगेगा। वह न हो इसलिए सूत्र में 'अति' पद सन्निविष्ट है।

(३) सूत्र में प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार से परे र् को उ होने से 'सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि' में प्लुत-विधान असिद्ध होने से 'सुस्रोतस् + सु' में विभक्तिलोप होकर 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) से टि (अस्) को प्लुत होने के अनन्तर 'सुस्रोत ३ र्' इस दशा में र् = उ प्राप्त होगा। 'अप्लुतात्' विशेषण ग्रहण करने पर उस पद की उपयोगिता से असिद्ध विधान नहीं माना जाता। अतः र् = य् होकर उसका लोप हो जाता है—सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । क्योंकि केवल 'अतः' पद के तपरकरण से प्लुतभिन्न अर्थ नहीं लिया जा सकता। क्योंकि वह तपर तो दीर्घ की निवृत्ति में चरितार्थ हो चुका है। अतः 'अप्लुतात्' विशेष प्लुत के असिद्ध होने के कारण प्लुतयुक्त प्रयोगों में 'उ' प्राप्ति के निवारण के लिए आवश्यक है।

(४) 'र्' के अनन्तर भी 'अप्लुतेऽति' प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार की स्थिति अपेक्षित होने से 'तिष्ठतु पयस् + अ३ग्निदत्त' में स् = र् होने पर 'र्' के पश्चात् प्लुत अकार होने के कारण र् = उ की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ 'अ३ग्निदत्त' में 'गुरोरनृतो०' (८।२।८६) से अकार प्लुत हुआ है।

(१२१) पद—हशि च । **अनुवृत्ति**—अतः, रः, अप्लुतात् , उत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अप्लुत 'अत्' (ह्रस्व अकार) से परे रु (र्) के स्थान में 'उ' होता है, 'हश्' वर्ण परे रहते।

भोभगोअघो-अपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७ । एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि । देवा इह । देवायिह भोस्-भगोस्-अघोस् इति सान्ता निपाताः । तेषां रुत्वे, यत्वे च कृते । **(१२३) व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८ ।** पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे । यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं

---

(१२२) भो-भगो-अघो अ इत्येतेषां पदानां द्वन्द्वः, एते पूर्वे यस्मादिति बहुव्रीहिः । 'रोः सुपि' इत्यतो रोरित्यनुवर्तते । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमात् पूर्वपदं प्रत्येकं सम्बध्यते । तदाह—**एतत्पूर्वस्येत्यादिना ।**

(१२३) **लघुप्रयत्न इति ।** लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः । अतिशयितः लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो रो०' (६।१।११३) से 'अतः, रः, अप्लुतात्' पदों की तथा 'ऋत उत्' से 'उत्' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार के अनन्तर विद्यमान 'र्' के पश्चाद्वर्ती हश् वर्ण रहने पर 'र्' के स्थान में 'उ' आदेश होता है ।

उदाहरण—'शिवस्+वन्द्यः' (स=रु (र्)—'ससजुषो रुः')—शिव र् वन्द्यः, (र्=उ) शिव+उ+वन्द्यः, (अ+उ='ओ'—गुण)=शिवो वन्द्यः ।

(१२२) पद—भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य, यः, अशि । **अनुवृत्ति**—रोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक रु के स्थान में अश् परे रहते यकार आदेश होता है । भोस्, भगोस्, अघोस्—ये सकारान्त निपात हैं । इनके रु को 'य्' होने पर—

विमर्श—'रोः सुपि' (८।३।१६) सूत्र से यहाँ 'रु' पद की अनुवृत्ति आती है । भोश्च, भगोश्च, अघोश्च, अश्चेति भोभगोअघोआः—द्वन्द्वसमास है, तदनन्तर बहुव्रीहि—एते पूर्वे यस्मात्, तस्य भोभगोअघोअपूर्वस्य । द्वन्द्वसमास के अन्त में रहने वाले 'पूर्व' पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है । इस प्रकार भोस्, भगोस्, अघोस् तथा अवर्णपूर्वक 'रु' के स्थान पर अश् प्रत्याहारस्थ वर्ण परे रहते 'य्' आदेश होता है ।

उदाहरण—देवास्+इह (स्=रु (र), देवा र्+इह (अवर्णपूर्वक र्=य्—अश् (इ) परे रहते) देवाय्+इह, ('लोपः शाकल्यस्य' से 'य्' का विकल्प से लोप)=देवा इह । य् लोप न होने पर पक्ष में—देवायिह ।

(१२३) पद—व्योः, लघुप्रयत्नतरः, शाकटायनस्य । **अनुवृत्ति**—अशि, पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त यकार वकार (य्, व्) के स्थान में अश् परे रहते क्रमशः विकल्प से लघूच्चारण य्, व् होते हैं । जिसके उच्चारण में जिह्वा (जीभ) के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भाग की शिथिलता होती है, उसे लघु-उच्चारण कहते हैं ।

विमर्श—पदस्य का अधिकार है । य्, व् का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर पदान्त य्, व् स्थानी हैं । पूर्वसूत्र (१२२) से 'अशि' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार अश् प्रत्याहारस्थ वर्ण परे रहते पदान्त य्, व् के स्थान में लघुप्रयत्नवान् य् व् होते हैं । इस मत के उद्भावक आचार्य शाकटायन हैं । अतः अन्य आचार्यों का समर्थन न होने से विकल्प होता है ।

'लघुप्रयत्नतरः' का अर्थ है—विशेष शीघ्रता से उच्चारण, जिसमें चौथाई मात्रा का समय अपेक्षित रहता है । इस प्रकार य् व् के उच्चारण करने में जीभ के अग्र, उपाग्र मध्य एवं मूलभाग में कुछ शिथिलता होती है ।

जायते स लघूच्चारणः । (१२४) ओतो गार्ग्यस्य ८।३।२० । ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः स्यात् । भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे— भोयच्युत । पदान्तस्य किम् ? तोयम् । (१२५) हलि सर्वेषाम् ८।३।२२ । भो-भगो-अघो अपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यस्य नित्यं लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो

---

(१२४) गार्ग्यग्रहणस्य पूजार्थत्वेन लोपस्य नित्यत्वं ज्ञेयम् । **तोयमिति** । अत्र यकारस्य पदान्तत्वाभावात् यलोपो न भवति । यतो ह्यत्र पदान्तो मकारो न तु यकारः ।

(१२५) **हलि सर्वेषामिति** । पूर्वसूत्रात् 'भोभगोअघो अपूर्वस्ये'त्यनुवर्तते 'व्योर्लघुप्रयत्ने'त्यतः वकारग्रहणञ्च । सर्वाचार्यसम्मततया नित्यो लोप इति भावः ।

---

(१२४) पद—ओतः, गार्ग्यस्य । **अनुवृत्ति**—व्योः, लोपः, अशि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ओकार से परे (अनन्तर) पदान्त अलघूच्चारण य्, व् का अश् परे रहते नित्य लोप होता है । अलघुप्रयत्न पक्ष में—भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्ष में—भोयच्युत ।

विमर्श—पूर्वसूत्र से 'व्योः' तथा 'भभोगो०' से 'अशि' की अनुवृत्ति आ रही है । 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार पदान्त में विद्यमान य्, व् से पूर्व ओकार होना आवश्यक है । य्, व् के पश्चात् अश् प्रत्याहारस्थ वर्ण रहने पर ही लोप होता है । सूत्र में 'गार्ग्य' पद का ग्रहण आचार्य के सम्मान के लिए है ।

उदाहरण—भोस्+अच्युत (स्=र्)—भो र्+अच्युत (र्=य्—भोभगो०') भो य्+अच्युत (य् का नित्य लोप—'ओतो गार्ग्यस्य')=भो अच्युत । शाकटायन के मतानुसार लघुप्रयत्नवान् (लघूच्चारण) 'य्' की स्थिति रहने पर य् लोप के अभाव पक्ष में—भोयच्युत ।

प्रत्युदाहरण—सूत्रानुसार पदान्त य्, व् का रहना आवश्यक होने से 'तोयम्' में 'य्' का लोप नहीं हुआ । क्योंकि यहाँ 'य' पद के अन्त में नहीं है ।

(१२५) पद—हलि, सर्वेषाम् । **अनुवृत्ति**—भो, भगो, अघो, अपूर्वस्य, यस्य, लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भो, भगो, अघो और अवर्ण है पूर्व में जिसके, ऐसे यकार का लोप हल् परे रहते सभी के मत से अर्थात् नित्य होता है ।

विमर्श—'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य' की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१२२) से आती है । 'व्योर्लघु०' से यकार की अनुवृत्ति आती है तथा 'लोपः शाकल्यस्य' से 'लोपः' की । पदस्य का अधिकार है । इस प्रकार भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक पदान्त 'य्' का लोप सभी आचार्यों के मत से होता है, यदि 'य्' के पश्चात् कोई व्यञ्जन वर्ण हों तो ।

उदाहरण—(१) भोस्+देवाः, (स्=र्)—भो र्+देवाः, (र्=य्)—भो य् देवाः, ('य्' का नित्य लोप) भो देवाः । अर्थ—हे देवगण । (२) भगोस्+नमस्ते (स्=र्) भगोर्+नमस्ते (र्=य्), भगो य्+नमस्ते, ('य्' लोप)=भगो नमस्ते । अर्थ—तुम्हें नमस्कार । (३) अघोस्+याहि (स्=र्), अघोर्+याहि (र्=य्) अघो य् याहि, ('य्' लोप)=अघो याहि । (४) देवास्+यान्ति (स्+र्) देवार्+यान्ति, (र्=य्) देवा य् यान्ति, (य् लोप)=देवा यान्ति ।

याहि। देवा यान्ति। (१२६) **रोऽसुपि ८।२।६९।** अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः। असुपि किम्—अहो भ्याम्। अत्र 'अहन्' इति रुत्वम्। * रूप-रात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् *। अहो रूपम्। गतमहो रात्रिरेषा। एकदेशविकृत-न्यायेन—अहो रात्रः। अहो रथन्तरम्। * अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः *। विसर्गापवादः। अहर्पतिः। गीर्पतिः। धूर्पतिः। पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ—अहःपतिः।

---

(१२६) **रोऽसुपीति।** 'अहन्' इति सूत्रमनुवर्तते। तदाह—**अह्नो इत्यादिना।** **अहरह इति।** 'अहन्+अहः' इत्यत्र अलोऽन्त्यपरिभाषायाः सहकारेण 'रोऽसुपि' इत्य-नेन नकारस्य रेफादेशे 'अहरहः' इति। अहन्+गणः। **रूपरात्रीति।** रूपरात्रिरथन्तरेषु पदेषु परेषु अहन्नकारस्य रुत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। **एकदेशविकृतन्यायेनेति।** एकदेशविकृत-न्यायेन रात्रशब्दस्यापि रात्रिरूपत्वाद् रुत्वं भवतीत्यर्थः। अहश्च रात्रिश्चेति विग्रहः। **अहर्पति इति।** अह्नां पतिरिति विग्रहः। गिरां पतिः, धुरां पतिरिति विग्रहः। उभय-त्रापि 'र्वोरुपधाया' इति दीर्घः।

---

(१२६) पद—रः, असुपि। **अनुवृत्ति**—अहन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अहन् शब्द के नकार के स्थान में रेफ आदेश होता है। किन्तु सुप् परे रहते 'र्' आदेश नहीं होता।

विमर्श—सूत्र में 'अहन्' (८।२।६८) से स्थानीवाचक पद 'अहन्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा के आश्रयण से अहन् के नकार को 'र्' आदेश होता है। किन्तु विभक्तिवाचक प्रत्ययों (सुप्) के परे रहते रेफादेश नहीं होता।

उदाहरण—(१) अहन् सु+अहन् सु (न्=र्), —अहर् (सु)+अहर् (सु), (सुलोप अन्तिम र्= : खरवसानयोः)=अहरहः। अर्थ—दिनों दिन। (२) अहन्+गणः (न्=र्)=अहर्गणः। अर्थ—दिनों का समूह।

प्रत्युदाहरण—'न्' के अनन्तर सुप् परे होने के कारण 'अहन्+भ्याम्' में न्=र् नहीं हुआ। अतः 'अहन्' सूत्र से 'न्'='रु'—अहर् भ्याम्, (र्=उ—'हशि च') अह+उ+भ्याम् ('आद्गुणः' से गुण)=अहोभ्याम्।

(१) (वा०)—'अहन्' के पश्चात् रूप, रात्रि तथा रथन्तर शब्दों के परे रहने पर 'न्' को 'रु' आदेश होता है। **उदाहरण**—(१) अहन्+रूपम् (न=रु (र)—वार्तिक से) अहर्+रूपम् (र्=उ—'हशि च') अह+उ+रूपम्—(अ+उ=ओ—गुण)=अहोरूपम्। अर्थ—दिन का रूप। (२) अहन्+रात्रिः (न्=रु (र्) अहर्+रात्रि (र्=उ) अह+उ+रात्रि (गुण)=अहोरात्रिः। गतमहो रात्रिरेषा। अर्थ—दिन गया और रात आयी। एकदेश-विकृतन्याय से अहोरात्रः। समासान्त अच् प्रत्यय होने से 'अहोरात्रः' में रात्रि शब्द का परिवर्तित रूप रात्र हो जाने पर भी वार्तिक से न्=रु हो जाता है। क्योंकि व्यवहार में यह देखा गया है कि किसी अंग विशेष के विकृत हो जाने पर उसकी मूलावस्था भिन्न नहीं मानी जाती। अर्थ—रात-दिन। (३) अहन्=रथन्तरम् (न्=रु (र)—अहर्+रथन्तरम् (र= उ) अह+उ+रथन्तरम् (गुण)=अहो रथन्तरम्। अर्थ—साम विशेष।

(२) (वा०)—पति आदि शब्दों के परे रहने पर अहर् आदि शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान में विकल्प से रेफ आदेश होता है। यह विसर्ग का बाधक है।

अह॒पतिः । (१२७) रो रि ८।३।१४ । रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् । (१२८) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११ । ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । (१२९) ढो ढे लोपः ८।३।१३ । लीढः । अणः किम् ? तृढः । वृढः । 'मनस्-रथ' इत्यत्र रुत्वे कृते, 'हशि चे'त्युत्वे

---

(१२७) 'ढो ढे लोपः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते ।

(१२८) **पुना रमत इति** । 'पुनर् + रमते' इत्यवस्थायां 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेन लोपनिमित्तके रेफे परे नकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य दीर्घे कृते 'पुना रमते' इति । **अणः किमिति** । ननु 'तृढः, वृढः' इत्यत्र ढ्रलोपस्यैवाभावाद् दीर्घाभावेऽण्ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्र ढलोपं दर्शयितुमाह—**तृढः, वृढ इति** । 'तृहू हिंसायाम्, वृहू उद्यमने' आभ्यां क्तप्रत्यये 'हो ढः' इत्यनेन हकारस्य ढत्वे 'झषस्तथोः०' इति तकारस्य धत्वे तस्य ष्टुत्वेन ढकारे 'तृ ढ् ढ, वृ ढ् ढ' इति जाते 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वढकारस्य लोपे विभक्तिकार्ये तृढः, वृढ इति रूपे । अत्र ढलोपनिमित्ते ढकारे परे ऋकारस्य दीर्घवारणायाऽण्ग्रहणमित्याशयः ।

उदाहरण—(१) (अह्नां पति=अहर्पतिः) 'अहन्+पति' (न्=रु—'अहन्' से)—अहर्+पतिः (र्=र्—प्रकृत वार्तिक द्वारा विकल्प से)—अहर् पतिः=अहर्पतिः । अर्थ—सूर्य (२) गीर्+पतिः (र्=र्)=गीर्पतिः । अर्थ—वृहस्पति । (३) धूर्+पतिः—(र्=र्)=धूर्पतिः । अर्थ—भारवाहकों में उत्कृष्ट । रेफ का वैकल्पिक विधान होने के कारण पक्ष में रेफ के स्थान पर विसर्ग और पक्ष में जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय भी होंगे—अहः पतिः, अह॒पतिः ।

(१२७) पद—रो, रि । **अनुवृत्ति**—लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—रेफ (र्) के पश्चात् रेफ (र्) परे रहते पूर्व (र्) का लोप होता है ।

विमर्श—'रः' षष्ठ्यन्त होने से स्थानी है । 'रि' सप्तम्यन्त होने से निमित्त है । 'ढो ढे लोपः' से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है ।

(१२८) पद—ढ्रलोपे, पूर्वस्य, दीर्घः, अणः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'ढ्' और 'र्' के लोप में निमित्त 'ढ्' और 'र्' परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।

विमर्श—यहाँ 'अण्' 'स्थानी' है और 'आदेश'—'दीर्घ' । इस प्रकार 'ढ्' और 'र्' का लोप करने में निमित्त 'ढ्' तथा 'र्' वर्णों के पश्चाद्वर्ती होने पर उनसे पूर्ववर्ती अण् (अ, इ, उ) के स्थान पर दीर्घ (आ, ई, ऊ) आदेश होते हैं ।

उदाहरण—(१) पुनर्+रमते ('र्' का लोप—'रोरि' से)—पुन+रमते (अ=आ—रमते के पूर्ववर्ती अकार का दीर्घ—'ढ्रलोपे०' से)=पुना रमते । अर्थ—फिर खेलता है । (२) हरिर्+रम्यः ('र्' का लोप—'रो रि')—हरि+रम्यः, (इ=ई—दीर्घ)=हरी रम्यः । अर्थ—हरि सुन्दर हैं । (३) शम्भुर्+राजते ('र्' का लोप) शम्भु+राजते (उ=ऊ 'दीर्घ') =शम्भू राजते । अर्थ—शिवजी सुशोभित हैं ।

(१२९) पद—ढो, ढे, लोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—ढकार के परे रहते पूर्व ढकार का लोप होता है ।

विमर्श—'ढोः' पद षष्ठ्यन्त होने से स्थानी है । 'ढे' सप्तम्यन्त होने से निमित्त है । इस

'रोरी'ति लोपे च प्राप्ते। (१३०) विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२। तुल्यबल-विरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते। 'पूर्वत्रासिद्धमिति 'रो री'त्यस्याऽसिद्धत्वा-दुत्वमेव—मनोरथः। (१३१) एतत्तदो सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२।

---

(१३०) **विप्रतिषेध इति।** विप्रतिपूर्वकात् सेधतेर्घञि विप्रतिषेधः=परस्पर-विरोधः, विरोधश्च तुल्यबलयोरेव लोके प्रसिद्धः। अत आह—**तुल्यबलविरोध इति।** अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकत्र युगपत्प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः। अत्र च 'पुना रमते' इत्यत्र 'रो री'त्यस्य, 'शिवो वन्द्यः' इत्यत्र च 'हशि चे'त्यस्य लब्धावकाशतया 'मनोरथः' इत्येकस्मिन् लक्ष्ये द्वयोः प्राप्तिरतोऽत्र विप्रतिषेधः। **मनोरथ इति।** 'मनस्+रथः' इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सकारस्य रुत्वे कृते 'हशि चे'त्युत्वे, 'रो रि' इति रलोपे च प्राप्ते 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यनेनोत्वं प्रबाध्य परकार्ये रेफस्य लोपे प्राप्ते, 'पूर्वत्रासिद्धमि'त्यधिकारसूत्रबलेन 'हशि चे'ति दृष्ट्या 'रो रि' इत्यस्याऽसिद्धत्वे रोरुत्वे 'मन उ रथः' इति जाते, गुणे 'मनोरथः' इति सिद्धम्।

(१३१) सूत्रे नैकशेषः। 'सु' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् एतत्तदोरित्यनेनान्वेति।

प्रकार 'ढ्' के परे रहने पर पूर्व 'ढ्' का लोप होता है। **उदाहरण**—√लिह्+क्त (त),—लिह्+त, (ह्=ढ—'होढः' से), लिढ्+त, (त=ध—झषस्तथोर्धोऽधः'), लिण्+ध, (ध्=ढ्—'ष्टुत्व'), —लिढ्+ढ, ('ढ्' का लोप 'ढो ढे लोपः' से)—लिढः (इ=ई—'ढ्लोपे०' से 'दीर्घ') =लीढः। अर्थ—चाटा गया।

प्रत्युदाहरण—'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र में 'अण्' पद ग्रहण करने से 'तृढः' 'वृढः' में अण् (अ, इ, उ) के अतिरिक्त 'ऋ' को दीर्घ नहीं हुआ। **प्रक्रिया**—√तृह्+क्त (त) (ह्=ढ्)—तृढ्+त (त=ध्—'झषस्तथोः०' से), तृढ्+ध् (ध्=ढ्—'ष्टुत्व')—तृढ्+ढ ('ढ्' लोप) तृढ्+सु=तृढः। अर्थ—मरा हुआ। इसी प्रकार √वृह्+क्त=वृढः।

'मनस्+रथः' में (स्=र्—'सषजुषो रुः')—'मनर्+रथः' इस स्थिति में 'हशि च' (६।१।११४) से 'र्' के स्थान में 'उ' तथा 'रो रि' (८।३।१४) सूत्र से 'र्' का लोप दोनों एक साथ प्राप्त होने पर (उत्पन्न शंका का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा किया जा रहा है)।

(१३०) पद—विप्रतिषेधे, परं, कार्यम्। **परिभाषासूत्र।**

मूलार्थ—विप्रतिषेध (तुल्य बल के कारण परस्पर विरोध) में पर कार्य होता है। इस प्रकार उक्त उदाहरण (मनर्+रथः) में पर कार्य र् लोप की प्राप्ति होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' की उपस्थिति से 'रो रि' शास्त्र के असिद्ध होने के कारण 'र्'='उ' होता है। मनोरथः।

विमर्श—विप्रतिषेध=तुल्यबल के कारण परस्पर विरोध होने पर कार्य होता है। समान शक्ति वालों का विरोध जगत्प्रसिद्ध है। यहाँ तुल्यबल विरोध का आशय यह है कि—'दो भिन्न-भिन्न स्थलों में लब्धावकाश (चरितार्थ) हुए सूत्रों का एक ही स्थल पर एक ही समय में प्राप्त होना।' इस प्रकार उक्त प्रयोग 'मनर्'+रथः' में प्राप्त 'हशि च' (६।१।११४) की अपेक्षा 'रो रि' (८।३।१४) पर होने से र् लोप की प्राप्ति होती है। परन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा की उपस्थिति होने से 'हशि च' (६।१।११४) की दृष्टि में 'रो रि' (८।३।१४) शास्त्र असिद्ध होने के कारण उत्व ('र्'='उ') ही होता है। मन+उ+रथः (अ+उ='ओ'-गुण)—मनोरथः।

(१३१) पद—एतत, तदोः, सुलोपः, अकोः, अनञ्समासे, हलि। **विधिसूत्र।**

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । अकोः किम् ? एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र । (१३२) सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४ । स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्' । 'सैष दाशरथी रामः' । इति स्वादिसन्धिः ।

॥ इति पञ्चसन्धिः ॥

एष विष्णुरिति । 'एषस्+विष्णुः' इत्यत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इत्यनेन सोर्लोपे कृते 'एष विष्णुः' इति ।

(१३२) सोऽचीति । 'सस्' इति प्रथमान्तानुकरणलुप्तषष्ठ्यन्तम् । सुलोप इत्यनु वर्ततेऽत आह—स इत्यस्येति ।

इति स्वादिसन्धिः ।

मूलार्थ—नञ् समास के अतिरिक्त ककार रहित एतत् और तत् शब्द सम्बन्धी 'सु' का लो हल् वर्ण परे रहते होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र स्वयं पूर्ण है । यह एतत् और 'तद्' सम्बन्धी 'सु' विभक्ति का लो करता है । अकच् प्रत्ययान्त इन शब्दों से सु-लोप नहीं होता । नञ्समास में भी सु-लोप न होता है ।

उदाहरण—(१) एतद्+सु (विष्णुः)—(द्=अ—'त्यदादीनामः') एत+अ+सु (+अ=अ—पररूप 'अतो गुणे') एत+सु, (त्=स्—'तदो सः') एस+सु (स्=ष्–'आदे प्रत्यययोः')=एषस्+विष्णुः (स् के अनन्तर हल् (व्) परे रहने पर स् (सु विभक्ति) व लोप)=एष विष्णुः । अर्थ—यह विष्णु हैं । (२) सस्+शम्भुः (स् के अनन्तर हल् (श् परे रहने से सु विभक्ति का लोप)=स शम्भुः । अर्थ—वह शिव हैं ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में 'अकोः' पद का ग्रहण होने के कारण 'एषको रुद्रः' में 'अक प्रत्यय होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ । एषकस्+रुद्रः (स्=र्)—एषकर्+रुद्रः (र्=उ– 'हशि च') एषक+उ+रुद्र (अ+उ=ओ–'गुण')=एषको रुद्रः । (२) सूत्र में 'अनञ्समा पद होने के कारण नञ्समास में सुलोप नहीं होता । 'अयस्+शिवः' (स्=र्—नञ्समास हो से सुलोप नहीं) अस र्+शिवः, (र्= :)=असः शिवः । (३) सूत्र में 'हलि' पद का ग्रह होने के कारण 'अच्' वर्ण परे रहते 'सु' का लोप नहीं होता । 'एषस्+अत्र' में सुलोप न हो से (स्=र्) एषर्+अत्र, (र्=उ) एष+उ+अत्र (अ+उ=ओ 'गुण')=एषो+अ (पूर्वरूप)=एषोऽत्र ।

(१३२) पद—सः, अचि, लोपे, चेत्, पादपूरणम् । **अनुवृत्ति**—सुलोपः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'तद्' शब्द सम्बन्धी 'सु' का लोप अच् परे रहते होता है । यदि लोप होने प पाद की पूर्ति होती हो तो ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एतत्तदोः' (६।१।१३२) सूत्र से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति आती है

अथाऽजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

(१३३) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५ । धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसञ्ज्ञं स्यात् । (१३४) कृत्तद्धितसमासाश्च

---

(१३३) सुप्तिङन्तपदचयरूपवाक्यनिमित्तकसन्धिप्रकरणानन्तरं सुबन्तजिज्ञासया 'स्वौजसमौडि'त्यादिना स्वादिप्रत्ययान् वक्ष्यति । तत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकादि'त्यधिकृतम् । किं तत्प्रातिपदिकमित्याशङ्कायामाह—**अर्थवदिति** । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् अध्याहृतशब्दस्वरूपविशेष्यानुरोधेन नपुंसकत्वम् । अधातुरिति अप्रत्यय इति च तद्विशेषणम् । न धातुरिति नञ्तत्पुरुषः । 'अहन्' इत्यादौ नलोपाद्यापत्तिवारणाय

अच् के पश्चाद्वर्ती रहने पर सस् (तद् शब्द) सम्बन्धी 'सु' विभक्ति का लोप होता है । यह लोप उसी स्थिति में होगा, जब लोप होने से छन्द के पाद की पूर्ति हो रही हो ।

उदाहरण—(१) 'सेमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे' ऋग्वेद का यह उदाहरण 'जगती' छन्द का एक चरण है । यहाँ एक चरण में १२ अक्षर अपेक्षित हैं, 'स्' लोप होने से पाद की पूर्ति सम्भव है । अतः 'सस्+इमाम्' में 'तद्' शब्द सम्बन्धी (स्) सुलोप होने से 'स+इमाम्'—गुण होकर 'सेमाम्' पद निपन्न होता है । (२) लौकिक छन्द का उदाहरण—'सैष दाशरथी रामः[1] ।' यह 'अनुष्टुप्' छन्द का एक चरण है । इस छन्द के एक (पाद) चरण में ८ अक्षर अपेक्षित हैं । स् लोप होने से पादपूर्ति सम्भव है । अतः 'सस्+एषः' इस दशा में स् का लोप होने पर स+एषः=(अ+ए=ऐ—'वृद्धि')=सैषः ।

स्वादिसन्धि-प्रकरण समाप्त ।

'सुबन्त और तिङन्त पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं ।'[2] वाक्योपयोगी सन्धिप्रकरण का निरूपण करने के अनन्तर प्रथमतः सुबन्त की जिज्ञासा होने पर इस प्रकरण (षड्लिङ्ग-प्रकरण) का आरम्भ किया जा रहा है ।

स्वादि (सु आदि २१ प्रत्ययों) का प्रातिपदिक से विधान होने के कारण सर्वप्रथम प्रातिपदिकसंज्ञा का स्वरूप बतलाया जा रहा है—

(१३३) पद्—अर्थवत् , अधातुः, अप्रत्ययः, प्रातिपदिकम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्दस्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।[3]

---

१. श्लोक इस प्रकार है—

सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः ॥

२. सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् ।—अमरकोषः ।

३. अस्य सूत्रस्य विषये प्रश्नरूपेण सुभाषितमेतत् प्रसिद्धमस्ति ।

प्रश्नः—'विद्वान् कीदृग्वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्च नास्तिकः ? ।
कीदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति ? सूत्रं तत् पाणिनेर्वद ॥'

१।२।४६। कृत्तद्धितान्तौ, समासाश्च तथा स्युः। (१३५) प्रत्ययः ३।१।१। आ पञ्चम-

---

—**अधातुरिति**। 'अप्रत्ययः' इत्यत्र प्रत्ययपदमावर्त्यते, प्रत्ययभिन्नं प्रत्ययान्तभिन्नं च विवक्षितम्। तदाह—प्रत्ययं प्रत्ययान्तमित्यादि। प्रत्ययपर्युदासात् 'हरिषु' इत्यत्र सोर्न प्रातिपदिकत्वम्। प्रत्ययान्तपर्युदासेन समुदायस्य न संज्ञा।

(१३४) कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति विग्रहः। 'अर्थवदि'त्यतः प्रातिपदिकमित्यनुवर्तते, बहुवचनान्ततया च विपरिणम्यते प्रत्ययग्रहणपरिभाषया कृत्तद्धितेति तदन्तग्रहणम्, तदाह—**कृत्तद्धितान्तावित्यादिना**।

विमर्श—अर्थवान् शब्दों की ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है। अतः सार्थक शब्दों से ही सु आदि प्रत्ययों का विधान होता है। इस प्रकार निष्पन्न शब्द 'सुबन्त' कहे जाते हैं। (१) अर्थवान् शब्द धातु से भिन्न होने चाहिए—अधातुः। अतः (√हन्+लङ्) 'अहन्' में (नलोप०) से 'न्' का लोप नहीं होता। (२) ये अर्थवान् शब्द प्रत्यय भिन्न भी हों। अतः 'हरिषु' में 'सुप्' प्रत्यय की प्रातिपदिकसंज्ञा न होने से 'षु' में 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) से षत्व का निषेध नहीं होता। (३) इसके साथ ही ये शब्द प्रत्ययान्त भिन्न भी होने चाहिए। अन्यथा 'हरिषु' इत्यादि स्थलों में प्रत्ययान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा होने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (२।४।७८) से सु का लोप हो जाता।

(१३४) पद—कृत्तद्धितसमासाः च। **अनुवृत्ति**—प्रातिपदिकम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—कृदन्त, तद्धितान्त और समास की भी प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (१३३) से अनुवृत्त 'प्रातिपदिक' पद **संज्ञा** है तथा सूत्रस्थ 'कृत्तद्धितसमासाः' **संज्ञी**। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार 'कृत्' और 'तद्धित' में तदन्त विधि होती है। इस प्रकार कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त और समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

(१) कृत् और तद्धित प्रत्यय होने से पूर्वसूत्र से अप्राप्त प्रातिपदिकसंज्ञा का विधान प्रकृत सूत्र से किया गया है।

(२) समास के अर्थवान् होने पर पूर्वसूत्र से प्राप्त प्रातिपदिकसंज्ञा का इस सूत्र से पुनः विधान करने का प्रयोजन यह है कि 'जिस शब्दसमूह में पूर्वभाग पद रहे तो उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा समास में ही होती है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र में समास पद के नियमार्थ होने के कारण वाक्य की प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं होती।

(१३५) पद—प्रत्ययः। **अधिकारसूत्र**।

मूलार्थ—अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक इस सूत्र का अधिकार है।

विमर्श—तृतीयाध्याय के प्रारम्भ से लेकर पञ्चमाध्याय की समाप्ति तक इसका अधिकार होने से सु आदि विभक्तियाँ भी प्रत्यय हैं। 'स्वौजसमौट्०' (४।१।२)।

उत्तरम्—'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'।

हिन्दी अर्थ—(१) प्रश्न—विद्वान् कैसे वचन बोलता है? उत्तर—अर्थवत्। (२) प्रश्न—रोगी कौन है? उत्तर—अधातुः (निर्बल व्यक्ति)। (३) प्रश्न—नास्तिक कौन है? उत्तर—अप्रत्ययः (ईश्वर पर विश्वास न करने वाला)। (४) प्रश्न—लोग कैसे चन्द्रमा को नहीं देखते? उत्तर—प्रातिपदिकम् (प्रतिपदा के चन्द्रमा को लोग नहीं देखते)।

परिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । (१३६) परश्च ३।१।२ । अयमपि तथा । (१३७) ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१ । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्ते-रधिकारोऽयम् । (१३८) स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्-ङेभ्यांभ्यस्-ङसिभ्यांभ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्सुप् ४।१।२ । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः । सु औ जस्–प्रथमा । अम् औट् शस्–द्वितीया । टा भ्यां भिस्–तृतीया । ङे भ्यां भ्यस्–चतुर्थी । ङसि भ्यां भ्यस् पञ्चमी । ङस् ओस् आम्–षष्ठी । ङि ओस् सुप्–सप्तमी । (१३९) सुपः १।४।१०३ । सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-

---

(१३८) स्वौजसमौडिति । ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृतं प्रत्ययः परश्चेति । यथायथं च विपरिणम्यते, तदाह—ङ्यन्तादित्यादि । सूत्रे एकविंशतिः स्वादयः ।

(१३९) सुप्प्रत्याहारः । 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' इति सूत्रं 'तानी'-ति वर्जयित्वाऽनुवर्तते । 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' इत्यतः त्रीणीत्यनुवर्तते । तदाह—**सुपस्त्रीणीत्यादि ।**

---

(१३६) पद—परः, च । **अनुवृत्ति**—प्रत्ययः । **परिभाषा-अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इस सूत्र का पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक अधिकार है ।

विमर्श—इस सूत्र के द्वारा प्रत्यय की स्थिति का नियम बतलाया जा रहा है कि जिसकी प्रत्यय संज्ञा की गई है वह, जिससे विधान किया जाय उससे, परः अर्थात् परे (अनन्तर) होता है ।

(१३७) पद—ङ्याप्प्रातिपदिकात् । **अधिकारसूत्र ।**

मूलार्थ—इस सूत्र का भी पाँचवें अध्याय के अन्त तक अधिकार है । अतः इस सूत्र के पश्चात् पाँचवें अध्याय तक पठित प्रत्यय ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से विहित होते हैं ।

विमर्श—यहाँ ङ्यन्त से (ङी–स्त्रीप्रत्यय के तीन प्रत्यय—ङीप्, ङीष्, ङीन्) आबन्त से (आप्–तीन आकारान्त प्रत्यय—टाप्, डाप्, चाप्) अन्त में रहे, ऐसे शब्दों का तथा प्रातिपदिक से अर्थवान् पद, कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास का ग्रहण होता है ।

(१३८) पद—स्वौजसमौट्...सुप् । **अनुवृत्ति**—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिकसंज्ञक से परे सु आदि प्रत्यय होते हैं ।

विमर्श—यह एकपद सूत्र है । द्वन्द्व समास में सुप् (इक्कीस) प्रत्ययों का संकलन किया गया है । उक्त तीनों अधिकारसूत्रों की यहाँ अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार ङीप्रत्ययान्त, आप् प्रत्ययान्त तथा प्रातिपदिक से परे सु, औ, जस् इत्यादि प्रत्यय होते हैं ।

(१३९) पद—सुपः । **अनुवृत्ति**—त्रीणि, एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि, एकशः । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—सुप् के तीन-तीन वचन (त्रिक) क्रम से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' (१।४।१०२) सूत्र से 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' तथा 'एकशः' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'तिङस्त्रीणि त्रीणि०' (१।४।१०१) से 'त्रीणि' 'त्रीणि' की अनुवृत्ति आ रही है । 'सुपः' षष्ठ्यन्त पद है । तदनुसार

द्विवचन-बहुवचनसंज्ञानि स्युः। (१४०) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२। द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः। (१४१) विरामोऽवसानम् १।४।११०। वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्वविसर्गौ। रामः। * अयोगवाहानामकारस्योपरि शर्षु चेति वाच्यम् *।

---

(१४०) पदार्थद्वयविवक्षायां द्विवचनम्, एवं तदर्थैकत्वविवक्षायामेकवचनम्।

(१४१) विरम्यतेऽस्मिन्निति विरामः, स चात्र वर्णानामुच्चारणाभावात्मक एव। **राम इति।** रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः=परमात्मा (दाशरथिश्च)। रामशब्दस्य अव्युत्पत्तिपक्षे 'अर्थवदधातुरप्रत्ययप्रातिपदिकम्' इति, व्युत्पत्तिपक्षे च

'सुप्' प्रत्याहार के इक्कीस प्रत्ययों को सात त्रिकों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक त्रिक के ३ प्रत्ययों की क्रम से एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है। इस प्रकार सातों विभक्तियों का त्रिकों में विभाजन निम्नलिखित चक्र में दर्शाया गया है—

'सुप्' प्रत्याहार-बोधक चक्र

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पंचमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

विभक्तियों के इत्संज्ञकवर्ण रहित रूप

प्रथमा	— स् (:)	औ	अस् (:)
द्वितीया	— अम्	औ	अस् (:)
तृतीया	— आ	भ्याम्	भिस् (:)
चतुर्थी	— ए	भ्याम्	भ्यस् (:)
पंचमी	— अस् (:)	भ्याम्	भ्यस् (:)
षष्ठी	— अस् (:)	ओस् (:)	आम्
सप्तमी	— इ	ओस् (:)	सु

(१४०) पद—द्व्येकयोः, द्विवचनैकवचने। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व की विवक्षा में एकवचन होता है।

विमर्श—उद्देश्य (द्व्येकयोः) और विधेय (द्विवचनैकवचने) दोनों समान संख्या वाले होने से यथासंख्यपरिभाषा की उपस्थिति से क्रमशः अन्वित हो जाते हैं। उदाहरण—द्विवचन—रामौ। एकवचन—रामः।

(१४१) पद—विरामः, अवसानम्। **संज्ञासूत्र।**

सूत्रार्थ—वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है।

यमाऽनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीया अयोगवाहाः। तेनेह विसर्गस्य यर्त्वादनचि चेति द्वित्वपक्षे रामः। (१४२) सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४। एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते, अन्ये तु लुप्यन्ते। (१४३) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एका-

---

'कृत्तद्धितसमासाश्चे'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति प्रातिपदिकसंज्ञकरामशब्दात् 'स्वौजसमौडि'ति 'खले कपोतन्यायेन' सर्वे स्वादयः प्राप्ताः तत्र सुपः इत्यनेन प्रथमादिसप्तम्यन्तत्रिके एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञाः विहिताः। तेषु प्रथमाविभक्तेः एकवचनविवक्षायां सु-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'राम + स्' इति जाते 'ससजुषो रुः' इत्यनेन सकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'राम + र्' इति दशायां 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः'इति रेफस्य विसर्गे कृते 'रामः' इति।

(१४३) 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यतोऽक इत्यनुवर्तते, 'इको यणचि' इत्यतोऽचीति। 'एकः पूर्वपरयो'रित्यधिकारः। राम + औ 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिः।

विमर्श—विरम्यतेऽनेनेति विरामः (वि + √रम् + घञ् (भाव में) = विरामः) जिस वर्ण पर उच्चारण रुक जाय, उसे विराम कहते हैं। सूत्र में 'विराम' संज्ञी और 'अवसान' संज्ञा है। अवसान का स्थल 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) है। तदनुसार प्रातिपदिकसंज्ञक राम शब्द से एकत्व की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' प्रत्यय आने पर राम सु (उ की इत्संज्ञा—'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से)—**'राम+स्'** (स् = र्, —'ससजुषो रुः') राम + र्, (र् = :—'खरवसानयोः०') = रामः। (वा०) 'अयोगवाहों का अक्षरसमाम्नाय (चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों) में अकार के आगे तथा शर् प्रत्याहार में पाठ जानना चाहिए।'

यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को 'अयोगवाह' कहते हैं।

इस प्रकार यर् प्रत्याहारान्तर्गत विसर्ग का पाठ होने से 'अनचि च' सूत्र से विसर्ग का द्वित्व होकर 'रामः' रूप भी निष्पन्न हुआ।

(१४२) पद—सरूपाणाम्, एकशेषः, एकविभक्तौ। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—एक विभक्ति में जितने समान रूप देखे जायँ, उनमें से एक ही शेष रहता है। (अन्य का लोप हो जाता है)।

विमर्श—(एका चासौ विभक्तिः, तस्याम्) समान विभक्ति में समान रूप वाले शब्दों का एक रूप ही शेष रहता है। अर्थात् द्विवचन तथा बहुवचन की विवक्षा में दो या अधिक समान रूप वाले शब्दों के आगे समान विभक्तियों के आने पर उनमें से एक ही शब्द शेष रहता है। अन्य शब्दों का लोप हो जाता है।

(१४३) पद—प्रथमयोः, पूर्वसवर्णः। **अनुवृत्ति**—अकः, अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'अक्' से प्रथमा-द्वितीया सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होता है।

विमर्श—'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८४) का अधिकार है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) से 'अकः' तथा 'इको यणचि' (६।१।७७) से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अक् (अ इ उ ऋ ऌ) के अनन्तर प्रथमा, द्वितीया विभक्ति सम्बन्धी अच् (स्वर्) वर्ण परे रहते दोनों वर्णों के स्थान पर पूर्ववर्णस्वरूप 'सवर्णदीर्घ' एकादेश होता है।

देशः स्यात्। इति प्राप्ते। (१४४) **नादिचि** ६।१।१०४। आदिचि न पूर्वसवर्ण-दीर्घः। वृद्धिरेचि। रामौ। (१४५) **बहुषु बहुवचनम्** १।४।२१। बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्। (१४६) **चुटू** १।३।७। प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः। (१४७) **विभक्तिश्च** १।४।१०४। सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः। (१४८) **न विभक्तौ तुस्माः** १।३।४। विभक्तिस्थास्तुस्माः नेतः। इति सस्य नेत्वम्। रामाः। (१४९) **एकवचनं**

---

(१४५) बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यादित्यर्थः।

(१४८) रामा इति। रामश्च रामश्च रामश्चेति विग्रहे रामरामरामेति बहुत्व-विवक्षायां प्रातिपदिकसंज्ञायां 'बहुषु बहुवचनम्' इत्येतत्सहकृतेन 'स्वौजसमौडि'ति

---

(१४४) पद—न, आत्, इचि। **अनुवृत्ति**—पूर्वसवर्णः। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—अवर्ण के अनन्तर इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता। वृद्धिरेचि। रामौ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'आत्' पद में पञ्चमी विभक्ति है। पूर्वसूत्र से 'पूर्वसवर्णः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'आत्' में तपरकरण होने से ह्रस्व अकार के आगे इच् (इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) वर्ण परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता।

उदाहरण—राम, राम+औ (द्वित्व की विवक्षा में प्रथमा विभक्ति का द्विवचन) 'सरूपाणा-मेक०' से एकशेष होकर—राम+औ, (इस स्थिति में 'अ+औ=औ' वृद्धिसन्धि का बाध कर 'प्रथमयोः०' (१४३) सूत्र से ('अ+औ=आ') पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होती है। इच् (औ) परे होने से 'नादिचि' (१४४) सूत्र द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध हुआ। अतः 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर (अ+औ=औ)=रामौ।

(१४५) पद—बहुषु, बहुवचनम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है।

विमर्श—सूत्र स्वयं में पूर्ण है। दो या दो से अधिक की अपेक्षा में बहुवचन के प्रत्यय होते हैं।

(१४६) पद—चुटू। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्य, आदिः, इत्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'ष-प्रत्ययस्य' से 'प्रत्ययस्य', 'आदिर्ञिटुडवः' से 'आदिः' तथा 'उपदेशेऽजनु-नासिक इत्' से 'इत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक होते हैं।

(१४७) पद—विभक्तिः, च। **अनुवृत्ति**—सुप्, तिङ्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—सुप् और तिङ् की विभक्तिसंज्ञा होती है।

विमर्श—पूर्वसूत्र (१३८) से 'सुप्' तथा 'तिङस्त्रीणि०' (१।४।१०१) से 'तिङ्' की अनु-वृत्ति आती है। सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं। 'सुप्' में २१ तथा 'तिङ्' में १८ प्रत्यय समाविष्ट हैं। इनकी विभक्तिसंज्ञा होती है।

(१४८) पद—न, विभक्तौ, तुस्माः। **अनुवृत्ति**—उपदेशे, हलन्त्यम्, इत्। **संज्ञासूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—विभक्ति के तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है। अतः स् की इत्संज्ञा नहीं हुई। रामाः।

सम्बुद्धिः २।३।४९ । **सम्बोधने प्रथमायाः एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् । (१५०) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३ । यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि-शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात् । (१५१) एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९ । एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम ! हे रामौ ! हे रामाः !**

प्रथमाबहुवचने जसि 'राम राम राम जस्' इति जाते 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इत्यनेनैकस्य शेषे 'राम जस्' इत्यत्र 'चुटू' इत्यनेन जस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते 'राम अस्' इति जाते, सकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन प्राप्तेत्संज्ञायाः 'विभक्तिश्च' इति विभक्तिसंज्ञापुरस्सरं 'न विभक्तौ तुस्मा' इत्यनेन निषेधे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'खर-वसानयोः०' इति रेफस्य विसर्गे 'रामाः' इति सिद्धम् ।

(१४९) **एकवचनमिति ।** प्रातिपदिकार्थलिङ्गेत्यतः प्रथमेत्यनुवर्तते, षष्ठ्या च विपरिणम्यते । 'सम्बोधने चे'त्यतः 'सम्बोधने' इत्यनुवर्तते । तदाह—**सम्बोधन इत्यादिना ।**

(१५१) **एङ्ह्रस्वादिति ।** एङ्ह्रस्वादित्यङ्गविशेषणत्वात् तदन्तविधिः । 'हल्-

---

विमर्श—अनुवृत्त पदों के द्वारा सूत्रार्थ पूर्ण होता है । तदनुसार तवर्ग=त्, थ्, द्, ध्, न, स् तथा म् यदि विभक्ति अर्थात् सुप् प्रत्ययों के अन्त में स्थित हों तो उनकी इत्संज्ञा नहीं होती । इत्संज्ञा का फल लोप का न होना है ।

उदाहरण—बहुत्व की विवक्षा में राम शब्द से प्रथमा बहुवचन जस्,—'राम राम राम+जस्' (एकशेष होकर) राम+जस्, (ज् की इत्संज्ञा—'चुटू', लोप) राम+अस् ('स्' की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा प्राप्त 'विभक्तिश्च' से विभक्तिसंज्ञा होकर 'न विभक्तौ तुस्मा' से इत्संज्ञा का निषेध, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से अ+अ='आ' दीर्घ)—रामास् (स्=र्), रामार् (र्=ः)= रामाः ।

(१४९) पद—एकवचनं, सम्बुद्धिः । **अनुवृत्ति**—प्रथमा, सम्बोधने । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन (सु) की सम्बुद्धि संज्ञा होती है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'प्रातिपदिकार्थं०' (२।३।४६) से 'प्रथमा' तथा 'सम्बोधने च' से 'सम्बोधने' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । 'प्रथमा' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है—'प्रथमायाः' । इस प्रकार सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति के एकवचन की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है । दूर से बुलाने पर प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति का दूसरा नाम सम्बोधन है ।

(१५०) पद—यस्मात्, प्रत्ययविधिः, तदादि, प्रत्यये, अङ्गम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाय, तदादि शब्द रूप की उस प्रत्यय के परे रहते 'अङ्ग' संज्ञा होती है ।

विमर्श—यहाँ प्रत्यय को अङ्ग संज्ञा से निमित्त माना गया है—प्रत्यये इस प्रकार किसी शब्द से विधीयमान प्रत्यय परे रहते तदादि (प्रत्यय से पूर्व शब्दस्वरूप) अङ्गसंज्ञक होता है । यथा राम शब्द से 'सु' (प्रत्यय) आने पर उसके परे 'राम' की अङ्ग संज्ञा होती है ।

(१५१) पद—एङ्ह्रस्वात्, सम्बुद्धेः । **अनुवृत्ति**—हल्, लोपः । **विधिसूत्र ।**

(१५२) अमि पूर्वः ६।१।१०७। अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ। (१५३) लशक्वतद्धिते १।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इतः स्युः।

ङ्याब्भ्यः०' इत्यतो हलिति प्रथमान्तमनुवर्तते। 'लोपो व्योर्वलि' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते। ततश्च एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गात्परं यत् हल् सम्बुद्ध्यवयवभूतं तल्लुप्यत इति फलितार्थः। **हे राम इति।** रामशब्दात् सम्बोधनार्थकप्रथमैकवचने सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे राम+स् इति जाते 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' इत्यनेन रामशब्दस्याङ्गत्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सकारस्य लोपे कृते 'हे राम!' इति।

(१५२) **अमि पूर्व इति।** 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यतोऽक इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते 'इको यणची'त्यतोऽचीति च। 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकारः। तथा चामोऽवयवेऽचि परे इति फलितार्थः।

मूलार्थ—एङन्त, ह्रस्वान्त अङ्ग से परे 'सम्बुद्धि' के हल् का लोप होता है।

विमर्श—'सम्बुद्धि' संज्ञा फल प्रकृत सूत्र द्वारा बतलाया जा रहा है। यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' (६।१।६८) से 'हल्' तथा 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार एङ् तथा ह्रस्व से परे 'सम्बुद्धि' का 'हल्' लुप्त हो जाता है। **उदाहरण—हे राम**—यहाँ राम शब्द से सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन 'सु' प्रत्यय आने पर राम+सु (स्)—('एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बुद्धि संज्ञा होकर 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से ह्रस्वान्त अङ्ग 'राम' के पश्चात् 'स्' का लोप)=हे राम!

(१५२) पद—अमि, पूर्वः। **अनुवृत्ति**—अकः, अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अक् से अम् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है।

विमर्श—अक्=(अ, इ, उ, ऋ, लृ) के अनन्तर द्वितीया का एकवचन 'अम्' का अच् (अ) परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से 'अकः', 'इको यणचि' से 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। यह सूत्र 'अकः सवर्णे०' 'अतो गुणे' और 'प्रथमयो०' का बाधक है।

उदाहरण—(१) राम शब्द से द्वितीया का एकवचन 'अम्' प्रत्यय आने पर 'राम+अम्' (यहाँ मकारोत्तरवर्ती अकार 'अक्' है, उससे पर 'अम्' का अकार 'अच्' है, अतः 'अ+अ=अ'—पूर्वरूप होकर)=रामम्।

(२) द्वितीया—द्विवचन 'औट्' प्रत्यय आने पर 'राम राम+औ' एकशेष होकर—'राम+औ'—(अ+औ=औ—'वृद्धिरेचि')=रामौ।

(१५३) पद—लशकु, अतद्धिते। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययस्य, आदिः, इत्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि में स्थित लकार, शकार और कवर्ग की इत्संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए 'षः प्रत्ययस्य' (१।३।६) से 'प्रत्ययस्य', 'आदिर्ञिटुडवः' (१।३।५) से 'आदिः' तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'इत्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार तद्धित भिन्न प्रत्यय के आदि वर्ण ल्, श्, कवर्ग=(क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) इत्संज्ञक होते हैं। (इत्संज्ञा का फल वर्णों का लोप होना है)।

(१५४) तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३। पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि। (१५५) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२। अट्-कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम्-एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे। इति प्राप्ते। (१५६) पदान्तस्य ८।४।३७। नस्य णो न। रामान्। (१५७)

---

(१५४) **पूर्वसवर्णदीर्घादिति।** तच्छब्देनात्र सन्निहितस्य पूर्वसवर्णदीर्घस्यैव परामर्शः।

(१५५) **अट्कुप्वाङिति।** 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते। अट्कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम् इत्येतेषां मध्ये प्रत्येकं व्यवधाने यथासम्भवमिलितद्व्याद्विव्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णत्वं स्यादित्यर्थः।

(१५६) **रामानिति।** रामशब्दाद् द्वितीयाबहुवचने शसि 'लशक्वतद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च राम + अस् इति जाते, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे 'रामास्' इत्यत्र 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सकारस्य नकारे कृते 'रामान्' इति। अत्र अट्कुप्वाङित्यादिना नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्ये'ति तन्निषेधे रामानिति रूपम्।

---

(१५४) पद—तस्मात्, शसः, नः, पुंसि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे 'शस्' के सकार को पुँल्लिग में नकार होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र का 'तस्मात्' पद अपने समीपवर्ती पूर्वसवर्ण दीर्घ का परामर्शक है। अतः पूर्वसवर्ण दीर्घ होने के पश्चात् 'शस्' के स् स्थान में (पुंल्लिगवाचक शब्दों में) 'न्' होता है।

(१५५) पद—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, अपि। **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नः णः समानपदे। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् का यथासम्भव सम्मिलित अथवा अलग-अलग व्यवधान होने पर भी समानपद (एकपद) में र्, ष् से परे 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है।

विमर्श—'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) सम्पूर्ण सूत्र यहाँ अनुवृत्त होता है। इस प्रकार किसी एकपद में 'र्, ष्' के बाद अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् से व्यवधान सहित 'न्' के स्थान में 'ण्' होता है। अट्, कवर्ग आदि का यह व्यवधान अलग-अलग अथवा दो-तीन वर्णों का सम्मिलित भी हो सकता है।

(१५६) पद—पदान्तस्य। **अनुवृत्ति**—नः, णः, न। **विधिसूत्र** (निषेध)।

मूलार्थ—पदान्त नकार को णकार नहीं होता।

विमर्श—'रषाभ्यां नो०' (८।४।१) से 'नः' तथा 'णः' की, एवम् 'न भाभूपूकमि०' (८।४।३४) से 'न' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार पद के अन्त में स्थित 'न्' को 'ण्' नहीं होता। रामान्। **उदाहरण**—राम शब्द से द्वितीया का बहुवचन 'शस्' प्रत्यय आने पर 'राम + शस्' ('लशक्वतद्धिते' से 'श्' की इत्संज्ञा, लोप होने पर) राम + अस् (अ + अ = 'आ' दीर्घ—'प्रथमयोः०' से)—'रामास्' (स् = न्—'तस्माच्छसो नः पुंसि') रामान् ('अट्कुप्वाङ्' से न् = ण् प्राप्त, 'पदान्तस्य' से निषेध होकर) = रामान्।

टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२। अदन्तात्टादीनामिनादयः क्रमात् स्युः। णत्वम्। रामेण। **(१५८) सुपि च ७।३।१०२।** यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाभ्याम्। **(१५९) अतो भिस ऐस् ७।१।९।** अतोऽङ्गात्परस्य भिस ऐस् स्यात्। 'अनेकाल्शित्सर्वस्य'। रामैः। **(१६०) ङेर्यः ७।१।१३।** अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः

---

(१५७) **टाङसिङसामिति।** 'टा' इत्यस्य 'इन', 'ङसि' इत्यस्य 'आत्' 'ङस्' इत्यस्य 'स्य' इति स्यादित्यर्थः। **रामेणेति।** रामशब्दात् तृतीयैकवचने 'टा' विभक्तौ 'राम + टा' इति दशायां 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे 'रामेण' इति।

(१५९) **रामैरिति।** रामशब्दात् तृतीयाबहुवचनविवक्षायां भिस्प्रत्यये राम + भिस् इति जाते 'अतो भिस ऐस्' इति ऐसादेशे प्राप्ते क्व स्यादिति जिज्ञासायाम् 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति परिभाषया सर्वस्य भिसः स्थाने ऐसादेशे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च 'रामैः' इति रूपम्।

---

(१५७) पद—टाङसिङसाम्, इनात्स्याः। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस के स्थान में क्रमशः इन्, आत् और स्य आदेश होते हैं। रामेण।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो भिस्०' (७।१।९) से 'अतः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। जो पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार 'अतः' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस के स्थान में क्रम से इन, आत, स्य होते हैं। **उदाहरण**—राम शब्द से तृतीया-एकवचन 'टा' आने पर 'राम+टा' (टा=इन 'टाङसिङसाम्०') 'राम+इन' (अ+इ='ए' गुण)—रामेन (न्=ण्—अट्कुप्वाङ्०')=रामेण।

(१५८) पद—सुपि, च। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य, दीर्घः, यञि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—यञादि सुप् के परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। रामाभ्याम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'यञि' सुपि का विशेषण है, तदादि-विधि होने पर 'यञादि सुप्' अर्थ होता है। इस प्रकार यञादि सुप् (भ्याम्, भिस्, भ्यस् तथा ङे) प्रत्यय परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होता है। **उदाहरण**—राम शब्द से तृतीया-द्विवचन 'भ्याम्' प्रत्यय आने पर 'राम+भ्याम्' (अ='आ' दीर्घ—'सुपि च')=रामाभ्याम्।

(१५९) पद—अतः, भिसः, ऐस्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परे 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश होता है। रामैः।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'अतः' अङ्गस्य का विशेषण है। यहाँ आदेश ऐस् और स्थानी भिस् दोनों अनेकाल् हैं। अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा के द्वारा सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश होता है। **उदाहरण**—राम शब्द से तृतीया बहुवचन 'भिस्'—राम+भिस्-('भिस्'='ऐस्'—'अतो भिस ऐस्') राम+ऐस् (अ+ऐ=ऐ—वृद्धि)—रामैस्, (स्=र्)—रामैर्, (र=ः)=रामैः।

स्यात्। (१६१) **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६। आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। आदेशोऽलाश्रयविधौ तु स्यादेव। इति स्थानिवत्वात्सुपि चेति**

---

(१६०) **ङेर्य इति**। ङेरिति चतुर्थ्येकवचनस्य ग्रहणम्, प्रतिपदोक्तत्वात्। न तु सप्तम्येकवचनस्य 'ङि' इत्यस्येति।

(१६१) यथा लोके गुरुस्थानापन्ने गुरुपुत्रादौ स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभः प्रसिद्धः, तथैवेह शास्त्रे आदेशः स्थानिना तुल्यो भवति—अर्थात् स्थानिधर्मको भवतीति। अलिति वर्णपर्यायः। अलाश्रयो विधिः अल्विधिः, एकवर्णाश्रितो विधिरित्यर्थः। न अल्विधिः अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ। अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवतीति फलितार्थः। अल् चेह स्थान्यवयव एव गृह्यते। तदाह मूले—**न तु स्थान्यलाश्रयविधाविति**। यथा 'क इष्टः' इत्यत्र यज्धातोः क्तप्रत्यये सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते 'इष्टः' इति रूपम्। अत्र स्थानिवद्भावात् इकारे यकारं मत्वा 'हशि चे'त्यनेन रोरुत्वं न भवति, स्थान्यलाश्रयविधित्वात्। **रामाय इति**। रामशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'ङे' विभक्तौ 'ङेर्यः' इत्यनेन 'ङे' इत्यस्य स्थाने यकारादेशे कृते **राम+य** इति जाते, 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधावि'ति स्थानिवद्भावेन यकारे सुप्त्वमानीय 'सुपि चे'ति अदन्ताङ्गस्य दीर्घे 'रामाय' इति। अत्र दीर्घे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषा तु न प्रवर्तते, 'कष्टाय क्रमणे' इत्यादिनिर्देशात्।

---

(१६०) पद—ङेः, यः। **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अदन्त अङ्ग से परे 'ङ्' के स्थान में 'य' आदेश होता है।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) से 'अतः' पञ्चम्यन्त पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'य' आदेश 'य्+अ' अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'ङ्' के स्थान पर होता है।

(१६१) पद—स्थानिवत्, आदेशः, अनल्विधौ। **अतिदेशसूत्र**।

मूलार्थ—आदेश स्थानिवत् (स्थानी के समान) होता है, किन्तु स्थानी-सम्बन्धी एक अल् (वर्ण) को आश्रय मानकर विधि करनी हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता।

विमर्श—छः प्रकार के सूत्रों में यह आरोपबोधक अतिदेशसूत्र है। आदेश से स्थानी का नाश हो जाने पर स्थानी की सत्ता नहीं रहती है, परन्तु प्रकृत सूत्र द्वारा स्थानी में रहने वाले धर्म का आदेश में आरोप हो जाता है। जैसे—राम+ङे (चतुर्थी एकवचन), ङे=य—'ङेर्यः', राम+य (यहाँ 'य' में सुप्त्व नहीं है, किन्तु इस अतिदेशसूत्र ने सुप्त्व के अभाव वाले 'य' में सुप्त्व का आरोप किया। अतः 'सुपि च' से दीर्घ होकर 'रामाय' प्रयोग हुआ।

इस सूत्र में दो वाक्य हैं—(१) आदेशः स्थानिवत् और (२) अनल्विधौ। यहाँ अल्विधिः का अर्थ है—अलाश्रय विधि। 'अल्' पद वर्ण का पर्याय है। नञ्तत्पुरुष समास है—न अल्विधिः 'अनल्विधिः'। अर्थात् एक अल् (वर्ण) के आश्रय से कुछ विधान हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। 'अल्विधिः' पद में चार प्रकार से विग्रह हो सकता है—(१) अला विधिः (तृतीया तत्पुरुष), (२) अलः विधिः (पञ्चमी त०), (३) अलः विधिः (षष्ठी त०), (४) अलि विधिः (सप्तमी त०)। अत एव 'व्यूढोरस्केन, द्यौः, द्युकामः, क इष्टः' में स्थानिवद्भाव का अल्विधि होने से निषेध होने पर क्रमशः णत्व, विभक्तिलोप, वलोप और उत्व कार्य नहीं हुए।

दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् । (१६२) बहुवचने झल्येत् ७।३।१०३ । झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् । (१६३) वाऽवसाने ८।४।५६ । अवसाने झलां चरो वा स्युः । रामात्–रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः ।

---

(१६२) 'सुपि चे'ति दीर्घस्यापवादोऽयम् । **सुपि किमिति** । पचध्वम् । पूर्वसूत्रतो यदि सुपीति नान्ववर्तिष्यत तदा ध्वमि परेऽनेन सूत्रेणैकारोऽभविष्यत् पचेध्वमिति स्यात् । नात्र सुप्, किन्तु (ध्वम्) तिङ् ।

(१६३) **रामादिति** । रामशब्दात् पञ्चम्येकवचने 'ङसि' विभक्तौ 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति ङसेरादादेशे 'अकः सवर्णे०' इति दीर्घे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य विकल्पेन तत्वे 'रामात्' इति । पक्षे 'रामाद्' इति ।

---

(१६२) पद—बहुवचने, झल्येत् । **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य, सुपि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झलादि बहुवचन 'सुप्' परे रहते अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश होता है । रामेभ्यः । 'सुपि' क्यों कहा ?—पचध्वम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) से अतः तथा 'सुपि च' से सुपि की अनुवृत्ति आती है । 'अतः' में अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इसी प्रकार सुपि का विशेषण झलि होने से तदादिविधि होकर 'झलादि सुप्' अर्थ होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा की उपस्थिति से बहुवचन में झलादि सुप् परे रहते ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के अन्तिम अल् को 'ए' आदेश होता है ।

उदाहरण—राम शब्द से चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' आने पर राम+भ्यस्, (अ=ए, झलादि सुप् (भ्यस्) परे रहते) रामेभ्यस् (स्=र्), रामेभ्यर् (र्= :)=रामेभ्यः ।

प्रत्युदाहरण—प्रकृत सूत्र में 'सुपि' पद की अनुवृत्ति आती है । अतः प्रस्तुत एकार का विधान 'सुप्' प्रत्याहार में ही होता है । अतः 'पचध्वम्' में तिङ् प्रत्यय (ध्वम्) होने से चकारोत्तरवर्ती अकार को एकार नहीं हुआ ।

(१६३) पद—वा, अवसाने । **अनुवृत्ति**—झलां चर । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवसान में विद्यमान 'झल्' के स्थान में 'चर्' आदेश विकल्प से होता है । रामात् । रामाद् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) से 'झल्' तथा 'अभ्यासे चर्च' से 'चर्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अवसान (पद के अन्त में) विद्यमान् झल् वर्णों के स्थान में विकल्प से चर् हो जाता है ।

उदाहरण—(१) राम शब्द से पञ्चमी का एकवचन 'ङसि' प्रत्यय आने पर 'राम+ङसि' ङसि=आत्—'टाङसिङसाम्०' से) राम+आत् (अ+आ='आ' दीर्घ)=रामात् (त्=द् 'झलां जशोऽन्ते')—रामाद् (द्=त् 'वाऽवसाने')=रामात् । विकल्प होने के कारण पक्ष में रामाद् ।

(२) पञ्चमी द्विवचन 'भ्याम्' —राम+भ्याम् (दीर्घ—'सुपि च')=रामाभ्याम् ।

(३) पञ्चमी बहुवचन 'भ्यस्' —राम+भ्यस् (अ='ए'—'बहुवचने झल्येत्')—रामेभ्यस् (स्=र्)—रामेभ्यर् (र्= :)=रामेभ्यः ।

(४) षष्ठी एकवचन 'ङस्'—राम+ङस् (ङस्=स्य 'टाङसिङसा०' से)—रामस्य ।

रामस्य । (१६४) ओसि च ७।३।१०४ । अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामयोः । (१६५) ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४ । ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्याऽऽमो नुडागमः । (१६६) नामि ६।४।३ । नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे ।

---

(१६६) **रामाणामिति** । रामशब्दात् षष्ठीबहुवचने आमि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटयनुबन्धलोपे टित्वादाद्यवयवे राम + नाम् इति जाते 'नामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते रामाणामिति ।

---

(१६४) पद—ओसि च । **अनुवृत्ति**—अतः, अङ्गस्य एत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अकारान्त अङ्ग को ओस् परे रहते एकार आदेश होता है ।

विमर्श—'अतो दीर्घो यञि' से 'अतः' तथा 'बहुवचने झल्येत्' से 'एत्' पद की अनुवृत्ति आती है 'अतः' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्तविधि हो जाती है । इस प्रकार 'ओस्' विभक्ति के परे रहते ह्रस्व अदन्त अङ्ग अन्तिम वर्ण के स्थान में एकार आदेश हो जाता है ।

उदाहरण—राम शब्द से षष्ठी द्विवचन 'ओस्' विभक्ति आने पर राम+ओस्, (अ= 'ए'—'ओसि च') रामे+ओस् (ए=अय्)—रामयोस्, (स्=र्)—रामयोर्, (र्= :)= रामयोः ।

(१६५) पद—ह्स्वनद्यापः, नुट् । **अनुवृत्ति**—आमि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्स्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्ग से परे 'आम्' को 'नुट्' का आगम होता है ।

विमर्श—'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (७।१।५२) से 'आमि' पद की अनुवृत्ति आती है । 'ह्स्व-नद्यापः' में समाहारद्वन्द्व समास है (ह्स्वश्च, नदी च, आप् च—एतेषां समाहारः) । 'अङ्गस्य' का अधिकार होने से ह्स्व, नदी तथा आप् पदों में तदन्तविधि हो जाती है । 'आमि' पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । 'नुट्' का आगम टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा की उपस्थिति से 'आम्' का आद्यवयव होगा ।

उदाहरण—राम शब्द से षष्ठी बहुवचन आम्, राम+आम्, (नुट् (न्)—'सवर्ण दीर्घ का बाध कर 'ह्स्वनद्यापो नुट्' से) राम न् आम् ।

(१६६) पद—नामि । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, अच् , अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।

विमर्श—'ढ्लोपे पूर्वस्य०' (६।३।१११) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'दीर्घ' पद से दीर्घ (अच्) विधान होने के कारण 'अचश्च' (५।२।२८) परिभाषा की उपस्थिति से 'अचः' पद अङ्गस्य का विशेषण हो जाता है । अतः अजन्ताङ्ग को नाम् परे रहने पर दीर्घ होता है ।

उदाहरण—(१) राम+नाम् (अ=आ—दीर्घ)—रामानाम् (न्=ण्—'अट्कुप्वाङ्०') =रामाणाम् । (२) राम शब्द से सप्तमी विभक्ति का एकवचन 'ङि'—राम+ङि (ङ् की इत्संज्ञा होकर) राम+इ (अ+इ='ए'—गुण)—रामे । (३) सप्तमी विभक्ति का द्विवचन 'ओस्' राम+ओस् (अ=ए—'ओसि च')=रामे+ओस् (ए=अय्)—रामयोस् (स्=र्)= रामयोर् (र्= :)=रामयोः । (४) सप्तमी विभक्ति के बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय आने पर 'राम+सुप्' ('प्' की इत्संज्ञा होकर) राम+सु (अ=ए—'बहुवचने झल्येत्')—रामे+सु ।

रामयोः । सुपि एत्वे कृते । (१६७) आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९ । इण्कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः । **(१६८) सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७ ।** सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व । विश्व । उभ । उभय । डतर । डतम । अन्य । अन्यतर । इतर । त्वत् । त्व । नेम । सम । सिम ।

---

(१६७) **आदेशप्रत्यययोरिति ।** 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५), 'इण्कोः' (८।३।५७) इत्यनयोरधिकारः । 'सहेः साडः सः' इत्यस्मात् 'सः' इत्यनुवर्तते । तच्च 'आदेशप्रत्यययोरि'त्यत्र द्विवचनान्ततया विपरिणम्य सम्बध्यते । एवञ्च इण्वर्गाभ्यां परयोः पदान्तयोरादेशात्मकप्रत्ययावयवात्मकयोः सकारयोः मूर्द्धन्यादेशः स्यादित्यर्थः ।

(१६८) **सर्वादीनीति ।** सर्वः आदिर्येषां तानि सर्वादीनि । तथा च सर्वादिगणपठितानि सर्वनामसंज्ञानि स्युरित्यर्थः ।

---

(१६७) पद—आदेशप्रत्यययोः । **अनुवृत्ति**—सः, अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः, इण्कोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—इण् और कवर्ग से परे अपदान्त आदेशरूप सकार तथा प्रत्यय के अवयव सकार के स्थान में मूर्धन्य 'ष्' आदेश होता है । ईषद्विवृत प्रयत्नवान् 'स्' के स्थान में तत्सदृश 'ष्' होता है । रामेषु ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सहेः साडः सः' (८।३।५६) सूत्र से 'सः' पद की अनुवृत्ति आती है । 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) तथा 'इण्कोः' (८।३।५७) का अधिकार है । 'आदेशप्रत्यययोः' में द्वन्द्वसमास है (आदेशश्च प्रत्ययश्च तयोः) इस प्रकार इण् प्रत्याहार ('लण्' के 'ण्' तक) और कवर्ग से परे आदेश स्वरूप एवं प्रत्ययावयव 'स्' के स्थान पर मूर्द्धन्य (ष्) आदेश होता है । **उदाहरण**—रामे+सु (स्=ष्—यहाँ इण् (एकार) से परे अपदान्त प्रत्यय का अवयव 'स्' है । अतः मूर्द्धन्य 'ष्' हुआ)=रामेषु ।

अकारान्त पुँल्लिङ्ग राम शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	रामः	रामौ	रामाः	पं०	रामात्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
द्वि०	रामम्	रामौ	रामान्	ष०	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
तृ०	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः	स०	रामे	रामयोः	रामेषु
च०	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः	सं०	हे राम !	हे रामौ !	हे रामाः !

इसी प्रकार कृष्ण, मुकुन्द आदि अकारान्त पुंलिग शब्दों के रूप राम के सदृश समझे जायें ।

(१६८) पद—सर्वादीनि, सर्वनामानि । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—सर्वादिगणपठित शब्दों की 'सर्वनाम' संज्ञा होती है ।

विमर्श—'सर्वादीनि' पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है (सर्वः आदिः येषां तानि) । अन्यथा अन्य पदार्थ की प्रधानता के कारण बहुव्रीहि समास में 'सर्व' पद की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए शब्दस्वरूप पद का अध्याहार किया गया है । इस प्रकार

* पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् *। * स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् *। * अन्तरं बहिर्योगोपसङ्ख्यानयोः *। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। एते पञ्चत्रिंशच्छब्दाः सर्वादयः। (१६९) जशः शी ७।१।१७। अदन्तात्सर्वनाम्नो जशः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। सर्वे। (१७०) सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४। अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै।

---

(१६९) अनेकाल्त्वादिति। अत्रानेकाल्त्वात् सर्वादेशः न तु शित्त्वात्, सर्वादेशात्प्राक् शकारस्येत्संज्ञाया एवाभावात्। कृते सर्वादेशे तु स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्वात् 'लशक्वतद्धिते' इत्यनेनेत्संज्ञा। **सर्वे इति।** सर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि विभक्तौ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायां 'जशः शी' इत्यनेन अनेकाल्त्वात् सर्वस्य जसः स्थाने 'शी' इत्यादेशे 'लशक्वतद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सर्व + ई' इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे 'सर्वे' इति।

(१७०) **सर्वनाम्न इति।** 'अतो भिस०' इत्यस्मादत इत्यनुवर्तते, 'ङेर्यः' इत्यतो ङेरिति च। तदाह—**अत इत्यादि।**

सर्वादि गण में पढ़े हुए शब्द सवनामसंज्ञक होते हैं। सर्वादिगण में ३५ शब्द पढ़े गये हैं—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर (प्रत्ययान्त), डतम (प्रत्ययान्त), अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम (आधा), सम (सभी), सिम (सभी), पूर्व, पर, अवर (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर (नीचे), स्व, अन्तर, त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, भवतु, किम्।

पूर्वपरा० (गणसूत्र) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन सात शब्दों की व्यवस्था और संज्ञा में सर्वनाम संज्ञा होती है।

स्वमज्ञाति०—स्वशब्द की ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ से भिन्न आत्मा और आत्मीय अर्थ में सर्वनाम संज्ञा होती है।

अन्तरम्०—बहिर्योग (बाह्य) और उपसंव्यान (परिधानीय) अर्थ में अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है।

(१६९) पद—जशः, शी। **अनुवृत्ति**—अतः, सर्वनाम्नः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'जश्' के स्थान में 'शी' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो भिस०' (७।१।९) से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः स्मै' (७।१।१४) से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अतः' पद 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। इस प्रकार ह्रस्व अकारान्त सर्वनाम से परे जश् के स्थान पर 'शी' आदेश होता है। 'शी' में 'श्+ई' दो वर्ण (अनेकाल्) होने से यह आदेश सम्पूर्ण जश् के स्थान में होता है।

उदाहरण—सर्व शब्द से प्रथमा वहुवचन 'जस्' विभक्ति आने पर—'सर्व+जस्', (जस्=शी (ई) 'लशक्वतद्धिते' से 'श्' की इत्संज्ञा, लोप)—सर्व+ई (अ+ई='ए' गुण)=सर्वे।

(१७०) पद—सर्वनाम्नः, स्मै। **अनुवृत्ति**—अतः, ङेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' को 'स्मै' आदेश होता है। सर्वस्मै।

विमर्श—यहाँ 'अतो भिस ऐस्' से 'अतः' तथा 'ङेर्यः' से 'ङे' की अनुवृत्ति आती है। अनुवृत्त 'अतः' पद सूत्रस्थ 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है। 'अतः' में तदन्तविधि होने से 'अदन्त'

सर्वस्मै । (१७१) ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५ । अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात्–सर्वस्माद् । (१७२) आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२ । अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ–२ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः । डतरडतमौ प्रत्ययौ । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'ति तदन्ता ग्राह्याः । नेम–इत्यर्धे । समः–सर्वपर्यायः । तुल्य-

---

(१७२) **सर्वेषामिति ।** सर्वनामसंज्ञकसर्वशब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि विभक्तौ 'सर्व + आम्' इत्यवस्थायां नुटं प्रबाध्य 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्यनेन सुडागमेऽनुबन्धलोपे 'सर्व + स् + आमि'ति जाते 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च कृते 'सर्वेषामि'ति सिद्धम् ।

सर्वनाम से परे ङे के स्थान में 'स्मै' आदेश होता है । 'स्मै' आदेश भी अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'ङे' के स्थान में होता है ।

उदाहरण—सर्वशब्द से चतुर्थी एकवचन ङे—'सर्व + ङे' (ङे = स्मै) = सर्वस्मै ।

(१७१) पद—ङसिङ्योः, स्मात्स्मिनौ । **अनुवृत्ति**—अतः सर्वनाम्नः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान में क्रमशः 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं । सर्वस्मात् ।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'ङसि' तथा 'ङि' स्थानी हैं और 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' आदेश । दोनों की संख्या समान होने से यथासंख्य परिभाषा के बल से क्रमशः 'ङसि' को 'स्मात्' तथा 'ङि' को 'स्मिन्' आदेश होता है । स्मात् और स्मिन् आदेशों में 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध हो जाने पर 'त्' और 'न्' की इत्संज्ञा नहीं होती । यह सूत्र 'टाङसिङसाम्०' का अपवाद है ।

उदाहरण—सर्व शब्द से पञ्चमी एकवचन ङसि 'सर्व + ङसि' (ङसि = स्मात्) = सर्वस्मात् ।

(१७२) पद—आमि, सर्वनाम्नः सुट् । **अनुवृत्ति**—आत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अवर्णान्त अङ्ग से परे सर्वनाम से विहित (किये गये) 'आम्' को 'सुट्' का आगम होता है । एत्व तथा षत्व होने पर सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेष रूप राम शब्द की तरह चलते हैं । इसी प्रकार विश्व आदि अकारान्त शब्दों के रूप भी चलते हैं । 'उभ' शब्द नित्य द्विवचनान्त है । उसका सर्वादिगण में पाठ 'अकच् प्रत्यय होने के लिए किया गया है । इससे 'उभकौ' आदि रूपों की सिद्धि होती है । उभय शब्द द्विवचन नहीं है । डतर, डतम दोनों प्रत्यय हैं । अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ताः ग्राह्याः' परिभाषा से प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है । नेम का अर्थ आधा है । सम शब्द सर्व का पर्यायवाची है । तुल्य का पर्याय नहीं है, इस विषय में 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र में 'समानाम्' का निर्देश ही प्रमाण है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आज्जसेरसुक्' (७।१।५०) से 'आत्' पद की अनुवृत्ति आती है । 'आत्' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर अकारान्त का ग्रहण होता है । 'आमि'

पर्यायस्तु नेह—'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामि'ति ज्ञापकात्। (१७३) पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४। एषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे-पूर्वाः। स्वाभिधेया-

---

(१७३) **पूर्वे, पूर्वा इति।** पूर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि विभक्तौ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति प्राप्तां नित्यां सर्वनामसंज्ञायां प्रबाध्य 'पूर्वपरावर०' इत्यनेन विकल्पेन

पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। 'सुट्' में 'ट्' की इत्संज्ञा होने से 'आम्' का आदि-अवयव होगा। तदनुसार अकारान्त सर्वनाम के अनन्तर आम् का आद्यवयव सुट् (स्) का आगम होता है।

उदाहरण—(१) सर्व शब्द से षष्ठी बहुवचन—आम्—'सर्व+आम् (सुट् (स्) का आगम)='सर्व+स्+आम्' (अ=ए 'बहुवचने झल्येत्')=सर्वे+साम् (स्=ष्–'आदेशप्रत्ययोः')=सर्वेषाम्। (२) सर्व शब्द से सप्तमी एकवचन में 'ङि' प्रत्यय आने पर 'सर्व+ङि' ('ङि'='स्मिन्'—'ङसिङ्योः०' से)=सर्वस्मिन्। शेष रूप राम शब्द की तरह चलते हैं।

अकारान्त पुंल्लिङ्ग सर्वनाम 'सर्व' शब्द के रूप

एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०–सर्वः	सर्वौ	सर्वे	पं०–सर्वस्मात	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
द्वि०–सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्	ष०–सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
तृ०–सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	स०–सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु
च०–सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः	सं०–हे सर्व	हे सर्वौ	हे सर्वे

इसी प्रकार विश्व आदि अकारान्त सर्वनाम शब्दों की रचना-प्रक्रिया जानी जायँ। उभ शब्द नित्य द्विवचनान्त है। (१) उभ+औ (अ+औ=औ 'वृद्धि')=उभौ। (२) उभ+भ्याम् (दीर्घ)=उभाभ्याम्। (३) उभ+ओस् (एत्व) उभे+ओस् (ए=अय्)—उभयोस्, (स=र्)—उभयोर् (र्=:)=उभयोः।

यहाँ आशङ्का यह होती है कि द्विवचन में सर्वनामप्रयुक्त कोई कार्य न होने पर भी सर्वादिगण में उभ शब्द का पाठ क्यों किया गया ? इसका उत्तर है 'तस्येह पाठोऽकजर्थः।' अर्थात् उभ शब्द में भी 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' से सर्वनाम को विहित 'अकच्' प्रत्यय हो, इसलिए यहाँ उसका पाठ किया गया है। (उभ+अकच्=उभ्+अक—उभक+औ=उभकौ।)

डतर, डतम प्रत्यय हैं। प्रत्ययों की सर्वनाम संज्ञा का कोई प्रयोजन न होने से 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' से तदन्त विधि होकर डतरान्त और डतमान्त पद ग्रहण किये जाते हैं। अतः (किम्+डतर=) 'कतर' तथा (किम्+डतम=) 'कतम' आदि पदों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

नेम शब्द का अर्थ 'आधा' है। 'सम' पद 'सर्व' का पर्याय है, तुल्य का नहीं। इसमें प्रमाण पाणिनि का 'समानाम्'[1] प्रयोग है।

(१७३) पद—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि, व्यवस्थायाम्, असंज्ञायाम्। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्व आदि सात शब्दों की गणसूत्र से सर्वत्र नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा व्यवस्था

---

१. 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्'—पा० सू०।

ऽपेक्षाऽवधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः। असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः। **(१७४) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५।** ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। स्वे। स्वाः। आत्मीयाः, आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः। ज्ञातयोऽर्था वा। **(१७५) अन्तरं**

सर्वनामसंज्ञायाम् 'जसः शी' इति जसः 'शी' इत्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते पूर्व + ई इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे 'पूर्वे' इति। सर्वनामसंज्ञाया अभावपक्षे पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पूर्वाः' इति। **स्वाभिधेयेति**। स्वस्य पूर्वादिशब्दस्याभिधेयो दिग्देशादिरूपोऽर्थः तेनापेक्ष्यमाणो जिज्ञास्यमानो योऽवधेर्नियमः यथा—'काशी पूर्वा, कुतः पूर्वा ? प्रयागात्।' इत्येवं रूपः स व्यवस्थेत्युच्यते।

(१७४) **स्वमिति**। आत्मा, आत्मीयः, धनं ज्ञातिश्चेति स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः। तत्रात्मीयवाचिनः सर्वनामसंज्ञा न तु ज्ञातिधनवाचिनः।

और असंज्ञा अर्थ में जस् के परे रहते विकल्प से होती है। पूर्वे-पूर्वाः। पूर्व आदि शब्दों के अर्थ से अपेक्षित अवधि के नियम को व्यवस्था कहते हैं। 'व्यवस्था' पद का ग्रहण क्यों किया ? दक्षिणा गाथकाः। अर्थात् दक्ष हैं। सूत्र में 'असंज्ञायाम्' का ग्रहण क्यों किया ? उत्तराः कुरवः।

विमर्श—'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) से 'सर्वनामानि' तथा 'विभाषा जसि' (१।१।३२) से 'विभाषा' एवं 'जसि' दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर और अधर शब्दों की व्यवस्था और असंज्ञा में जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।' गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा का प्रकृत सूत्र द्वारा विकल्प से विधान किया गया है।

उदाहरण—पूर्व शब्द से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने पर पूर्व+जस्, (जस्=शी ई) पूर्व+ई (अ+ई=ए 'गुण')=पूर्वे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव पक्ष में—पूर्व+जस्, (अस्) दीर्घ होकर—पूर्वास्, (स्=र्), पूर्वार्, (र्= :)=पूर्वाः। **स्वाभि०**—'यह किससे पूर्व है अथवा पर है ? इत्यादि अवधि के नियम की आकाङ्क्षा को यहाँ 'व्यवस्था' कहते हैं।

प्रत्युदाहरण—(१) 'दक्षिणा गाथकाः' (गायक चतुर हैं)। यहाँ 'दक्षिण' शब्द का अर्थ 'चतुर' है, अतः अवधि की आकाङ्क्षा न होने से सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। (२) सूत्र में 'असंज्ञायाम्' पद का ग्रहण होने से 'उत्तराः कुरवः' में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। क्योंकि यहाँ 'उत्तर' शब्द 'उत्तर कुरुदेश' की संज्ञा है।

(१७४) पद—स्वम्, अज्ञातिधनाख्यायाम्। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—ज्ञाति और धन से भिन्न अर्थ में (आत्मा, आत्मीय अर्थ में) स्व शब्द की गणसूत्र से नित्य प्राप्त सर्वनामसंज्ञा 'जस्' परे रहते विकल्प से होती है।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'सर्वनामानि' तथा 'विभाषा जसि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'स्व' पद के चार अर्थ हैं—१. आत्मा, २. आत्मीय, ३. धन एवं ४. ज्ञाति (बान्धव)। आत्मा तथा आत्मीय अर्थों में 'स्व' शब्द की जस् के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदाहरण—'स्व' शब्द से प्रथमा बहुवचन जस्—'स्व+जस् (विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होकर 'जसः शी' से जस्=शी-ई)=स्व+ई (अ+ई='ए'—गुण)=स्वे। सर्वनाम संज्ञा न

बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६। बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः। (१७६) **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६।** एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्-पूर्वात्। पूर्वस्मिन्-पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्। एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः। संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय। तदन्तस्यापीयं संज्ञा 'द्वन्द्वे चे' ति ज्ञापकात्। * अन्तरमिति गणसूत्रेऽपुरीति वक्तव्यम् *।

---

(१७५) अन्तरमिति। अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते। उपसंव्यानम्—परिधानीयम् (वस्त्रादिकमित्यर्थः)।

(१७६) **पूर्वस्मादिति।** पूर्वशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां 'ङसि' विभक्तौ 'पूर्व+ङसि' इति स्थिते 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वे'ति विकल्पेन ङसेः स्थाने 'स्मात्' इत्यादेशे पूर्वस्मादिति। पक्षे 'पूर्वात्' इति। **संज्ञोपसर्जनीति** आधुनिकसङ्केतः संज्ञा, अन्यविशेषण-

---

होने पर स्व+जस् (अस्), दीर्घ—स्वास्, (स्=र्) स्वार् (र्=ः)=स्वाः। ज्ञाति और धन अर्थ में केवल एक रूप 'स्वाः' ही रहेगा।

(१७५) पद—अन्तरम्, बहिर्योगोपसंव्यानयोः। **अनुवृत्ति**—सर्वनामानि, विभाषा, जसि। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—बाह्य और (उपसंव्यान) परिधानीय अर्थ में अन्तर शब्द की गणसूत्र से प्राप्त नित्यसर्वनाम संज्ञा जस् के परे रहते विकल्प से होती है।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'सर्वनामानि, विभाषा, जसि' की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार अन्तर शब्द को जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा का विधान किया गया है। 'अन्तर्' शब्द के अनेक अर्थों में से केवल बाह्य और परिधान अर्थ में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदाहरण—(१) अन्तरे, अन्तराः वा गृहाः (बाहर के घर)। सर्वनाम संज्ञा (विकल्प से) होने पर अन्तर+जस् (जस्=शी-ई), अन्तर+ई (अ+ई=ए)=अन्तरे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव पक्ष में 'अन्तराः'। इसी प्रकार (२) अन्तरे, अन्तरा वा शाटिका (नीचे पहनने योग्य वस्त्र)। यहाँ उपसंव्यान (परिधान) अर्थ में दो रूप होंगे।

(१७६) पद—पूर्वादिभ्यः, नवभ्यः, वा। **अनुवृत्ति**—ङसिङ्योः, स्मात्स्मिनौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्वादि नौ शब्दों से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान में क्रमशः 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' आदेश विकल्प से होते हैं। पूर्वस्मात्-पूर्वात्। पूर्वस्मिन्-पूर्वे। इसी प्रकार परादि शब्दों के रूप भी होते हैं। शेष रचनाक्रम सर्व शब्द की तरह होगा। संज्ञा और उपसर्जन की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। जैसे 'सर्व' किसी का नाम है तो 'सर्वाय देहि'। 'अन्तरम्०' सूत्र में 'अपुरि' और कहना चाहिए। अन्तरायां पुरि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (७।१।१५) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'ङसि, ङि' स्थानी है तथा 'स्मात्, स्मिन्' आदेश। पूर्वोक्त सूत्रों (१७३, १७४, १७५) में जिन ९ शब्दों का समावेश हुआ है, उनका 'पूर्वादिभ्यः नवभ्यः' से ग्रहण होता है। गणसूत्रों से नित्य प्राप्त सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होने के कारण यहाँ विकल्प से आदेशों का विधान किया जा रहा है।

अन्तरायां पुरि । (१७७) तृतीयासमासे १।१।३० । अत्र सर्वनामता न । मास-

---

त्वेन स्वार्थोपस्थापकमुपसर्जनम्, तेषां सर्वादिगणे पाठो नास्तीति भावः । **अन्तरमिति सूत्रेऽपुरीति वक्तव्यमिति ।** पुरिशब्देन सम्बन्धे सति अन्तरपदस्य सर्वनामसंज्ञा न भवतीत्यर्थः ।

(१७७) सर्वादीनीत्यतः 'सर्वनाम' इति 'न बहुव्रीहौ' इत्यतो नेति चानुवर्तते । तदाह—**अत्रेत्यादि ।**

उदाहरण—(१) पूर्व शब्द से पञ्चमी एकवचन में 'ङसि' आने पर पूर्व+ङसि ('ङसि'= 'स्मात्' विकल्प से—'पूर्वादिभ्यो०')=पूर्वस्मात् । पक्ष में—(ङसि=आत्) पूर्व+आत् (दीर्घ)=पूर्वात् ।

(२) पूर्व शब्द से सप्तमी एकवचन में 'ङि' आने पर पूर्व+ङि ('ङि'='स्मिन्' विकल्प से) =पूर्वस्मिन् । पक्ष में पूर्व+इ (अ+इ='ए' 'गुण')=पूर्वे । इसी प्रकार 'पर' आदि शब्दों के रूप समझे जायँ ।

पूर्वशब्द (पुंल्लिंग के रूप)

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा-	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः
द्वितीया-	पूर्वम्	पूर्वौ	पूर्वान्
तृतीया-	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
चतुर्थी-	पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
पञ्चमी-	पूर्वस्मात्, पूर्वात्-द्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः
षष्ठी-	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
सप्तमी-	पूर्वस्मिन्, पूर्वे	पूर्वयोः	पूर्वेषु
सम्बोधन-	हे पूर्व !	हे पूर्वौ	हे पूर्वे, पूर्वाः

संख्यावाचक एक शब्द नित्य एकवचनान्त है ।

संज्ञा तथा उपसर्जनीभूत की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । अर्थात् संज्ञाबोधक 'सर्व' आदि शब्द तथा विशेषणीभूत सर्वादि शब्द सर्वनामसंज्ञक नहीं होते हैं । अत एव—(१) किसी व्यक्ति-विशेष का नाम 'सर्व' रखने पर सर्वनाम संज्ञा के अभाव में तत्प्रयुक्त कार्य भी नहीं होंगे । सर्व+ङे (ङे=य)=सर्व+य (दीर्घ)=सर्वाय देहि । (२) इसी प्रकार 'अतिसर्व' शब्द में सर्व शब्द विशेषण (उपसर्जन) के रूप में प्रयुक्त होने से (सर्वादि न होने से) चतुर्थी विभक्ति में 'अतिसर्वाय' ही रूप बनेगा ।

'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' गणसूत्र में 'अपुरि' पद का समावेश भी होना चाहिए । अर्थात् स्त्रीत्वविशिष्ट नगरवाचक पद विशेष्य रहते 'अन्तर' शब्द को गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । अत एव 'अन्तरायां पुरि' में 'स्याट्' का आगम नहीं होता ।

(१७७) पद—तृतीया समासे । **अनुवृत्ति**—सर्वादीनि सर्वनामानि, न । **संज्ञा (निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—तृतीया समास में तथा तृतीयासमासार्थ वाक्य में सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । मासपूर्वाय । मासेन पूर्वाय ।

पूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न । मासेन पूर्वाय । (१७८) द्वन्द्वे च १।१।३१ । द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न । वर्णाश्रमेतराणाम् । (१७९) विभाषा जसि १।१।३२ । जसाधारं शीभावाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात् । वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः । (१८०) प्रथमचरमतयाऽल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३ । एते जस्युक्त-

---

(१७८) **वर्णाश्रमेतराणामिति ।** अत्र सर्वाद्यन्तत्वात्वात् प्राप्ता सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते ।

(१७९) **विभाषा जसि इति ।** द्वन्द्वेऽप्राप्ता सर्वनामसंज्ञा जसि वा स्यादिति तदर्थः ।

(१८०) **तयप्प्रत्यय इति ।** 'संख्याया अवयवे तयप्' (५।२।४२) इति विहित

विमर्श—यहाँ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' की तथा 'न बहुव्रीहौ' से 'न' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार तृतीया-तत्पुरुष समास में (सर्वादिगणपठित शब्दों की) सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ।

उदाहरण—१. मासेन पूर्वाय=मासपूर्वाय 'मास+टा, पूर्व+सु' अलौकिक विग्रह । तृतीया-तत्पुरुष समास—'मासपूर्व+ङे' (सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने से 'ङ' को 'स्मै' नहीं हुआ, (ङे='य'—दीर्घ होकर)=मासपूर्वाय ।

तृतीया समासार्थ विग्रह वाक्य में भी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । अत एव 'मासेन पूर्वाय' इस असमास स्थल में भी सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने से 'पूर्वस्मै' न होकर 'पूर्वाय' रूप ही बना ।

(१७८) पद—द्वन्द्वे, च । **अनुवृत्ति**—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि । **संज्ञा (निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा नहीं होती । वर्णाश्रमेतराणाम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी पूर्ववत् 'सर्वादीनि, सर्वनामानि' तथा 'न' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—द्वन्द्व समास में सर्वादि शब्द सर्वनामसंज्ञक नहीं होते ।

उदाहरण—(१) वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे च=वर्णाश्रमेतराणाम् । वर्ण+जस्, आश्रम+जस्, इतर्+जस्=वर्णाश्रमेतर, (द्वन्द्व समास—'चार्थे द्वन्द्वः') वर्णाश्रमेतर+आम् (प्रकृत सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का निषेध होने पर सुट् नहीं; 'नुट्' का आगम होकर णत्व)=वर्णाश्रमेतराणाम् ।

(१७९) पद—विभाषा, जसि । **अनुवृत्ति**—द्वन्द्वे, सर्वादीनि, सर्वनामानि । **संज्ञा (निषेध) सूत्र ।**

मूलार्थ—जस् के स्थान में 'शी' आदेश किये जाने पर द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है । वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः ।

विमर्श—'द्वन्द्वे च' सूत्र से द्वन्द्वसमास में सर्वनाम संज्ञा का निषेध कहा गया है । प्रकृत सूत्र द्वारा उक्त व्यवस्था में संकोच किया गया है । प्रथमा बहुवचन 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश कर्तव्य होने पर सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है ।

उदाहरण—(१) वर्णाश्रमेतर+जस् (सर्वनाम संज्ञा होने पर 'शी' ई)—वर्णाश्रमेतर+ई (अ+ई='ए' गुण)=वर्णाश्रमेतरे । (सर्वनाम संज्ञा के अभाव में) वर्णाश्रमेतर+जस् (अस्) दीर्घ—वर्णाश्रमेतरास्, (स्=र्)—वर्णाश्रमेतरार् (र्=ः)=वर्णाश्रमेतराः ।

(१८०) पद—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, च । **अनुवृत्ति**—विभाषा, जसि, सर्वनामानि । **संज्ञासूत्र ।**

संज्ञा वा स्युः। प्रथमे–प्रथमाः। तयप्प्रत्ययः। द्वितये–द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे–नेमाः। शेषं सर्ववत्। * तीयस्य ङित्सु वा वाच्या *। तीयप्रत्ययान्तस्य ङिद्वचनेषु सर्वनामसंज्ञा वा स्यात्। द्वितीयस्मै—द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः।

इत्यर्थः। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमि'ति परिभाषयाऽत्र तयप्प्रत्ययान्ता ग्राह्याः। केवलप्रत्ययस्य सर्वनामत्वे प्रयोजनाभावात्। **तीयस्येति।** विभाषाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानमित्यर्थः। अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया प्रत्ययस्यैव तीयस्य ग्रहणम्।

मूलार्थ—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्दों को जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। प्रथमे–प्रथमाः। तयप् प्रत्यय है, तदन्त का ग्रहण होता है। द्वितये-द्वितयाः। शेष रचानाक्रम राम शब्द की तरह है। नेमे–नेमाः। शेष रूप सर्व शब्द के समान हैं। 'तीय' प्रत्ययान्त की 'ङित्' वचनों में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। द्वितीयस्मै–द्वितीयाय। निर्जरः।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'सर्वनामानि, विभाषा तथा जसि' पदों की अनुवृत्ति आ रही हैं। तदनुसार सूत्रोक्त प्रथम आदि शब्दों की 'जस्' के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

उदाहरण—(१) प्रथम+जस् (प्रकृत सूत्र से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने पर जस्=शी–ई)—प्रथम+ई (गुण)=प्रथमे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव में—प्रथम+जस् (अस्) (दीर्घ, स् को रुत्वविसर्ग होकर)=प्रथमाः। (२) सूत्रोक्त तय पद प्रत्यय का बोधक है। तदन्तविधि होने से तयप्प्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होता है। द्वितय+जस् (सर्वनाम संज्ञा होने पर—जस्=शी–ई)—द्वितय+ई, (गुण)=द्वितये। सर्वनाम संज्ञा के न होने पर-द्वितयाः। शेष रूप राम शब्द की तरह चलेंगे। (३) नेम+जस् (सर्वनाम संज्ञा होने पर—जस्=शी)—नेम+ई (गुण)=नेमे। सर्वनाम संज्ञा के अभाव में—नेमाः। शेष रूप सर्व शब्द के समान जाने जायँ।

(वा०) तीयप्रत्ययान्त शब्दों की ङित् (ङकारेत्संज्ञक) विभक्तियों के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। ङे, ङसि, ङस् तथा ङि—ये चार ङिद् विभक्तियाँ हैं। उदाहरण—द्वितीय+ङे (सर्वनाम संज्ञा होने पर ङे=स्मै)=द्वितीयस्मै। सर्वनाम संज्ञा के अभाव पक्ष में द्वितीयाय। इसी प्रकार तृतीय शब्द के रूप बनेंगे।

'द्वितीय' शब्द के रूप

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा—	द्वितीयः	द्वितीयौ	द्वितीयाः
द्वितीया—	द्वितीयम्	द्वितीयौ	द्वितीयान्
तृतीया—	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः
चतुर्थी—	द्वितीयस्मै द्वितीयाय	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः
पञ्चमी—	द्वितीयस्मात्-द् द्वितीयात्-द्	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयेभ्यः
षष्ठी—	द्वितीयस्य	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
सप्तमी—	द्वितीयस्मिन् द्वितये	द्वितीययोः	द्वितीयेषु

(१८१) जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१। जराया जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ। *पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च*। *निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति*। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते। एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाज्जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ-निर्जरौ। निर्जरसः—इत्यादि। उपजीव्यविरोधान्न जरस्। निर्जरैः। पक्षे हलादौ च

---

(१८१) **जराया इति**। जराशब्दस्य 'जरस्' आदेशो वा स्यादजादौ विभक्ताविति सूत्रार्थः। पदस्य अङ्गस्य चाधिकारे तस्य सूत्रोपात्तस्य तदन्तस्य च ग्रहणं भवति। तेनात्राङ्गाधिकारत्वेन निर्जरस्याप्यादेशो भवत्येव। **निर्दिश्यमानस्येति**। यावन्मात्रस्य स्थानित्वेन सूत्रे निर्देशस्तावन्मात्रस्येत्यर्थः। **एकदेशेत्यादि**। 'छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वैव, न चाश्वो न च गर्दभः' इति लौकिकन्यायादित्यर्थः। **निर्जरसाविति**। निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने 'औ' विभक्तौ 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जराशब्दस्य 'जरस्' इत्यादेशे 'निर्जरसौ' इति। ननु सूत्रे 'जरा'शब्दस्य जरसादेशविधाने-

---

निर्जर शब्द देवतार्थक है। 'निर्गता जरा यस्मात्' (जिसको बुढ़ापा नहीं आता) इस बहुव्रीहि समास में जरा को 'गोः स्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व अकार होकर निर्जर; प्रातिपदिकसंज्ञा प्रथमा एकवचन में 'सु' आने पर निर्जर+सु (इत्संज्ञा लोप, स् को र्, विसर्ग होकर)=निर्जरः।

(१८१) पद—जरायाः, जरस्, अन्यतरस्याम्। **अनुवृत्ति**—विभक्तौ, अचि। **विधिसूत्र**। (विकल्प)।

मूलार्थ—जरा शब्द के स्थान में अजादि विभक्ति परे रहते 'जरस्' आदेश विकल्प से होता है। (प०) (१) 'पदाधिकार और अङ्गाधिकार में जो कार्य जिसको कहे गये हैं, वे उसको और तदन्त को होते हैं।' (२) 'सूत्र में जितने का निर्देश किया गया है, तावन्मात्र को ही आदेश होते हैं।' (३) 'एक भाग में विकार होने पर भी वस्तु के अभिन्न समझे जाने से **'जर्'** के स्थान में 'जरस्' आदेश होता है। निर्जरसौ। निर्जरसः। उपजीव्य=निमित्त के विरोध से जरस् नहीं होता है—'निर्जरैः'। पक्ष में और हलादि विभक्ति में राम शब्द की तरह रूप बनेंगे।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) सूत्र से 'विभक्तौ' तथा 'अचि र ऋतः' (७।२।१००) से अचि की 'अनुवृत्ति' आ रही है। 'विभक्तौ' का विशेषण होने से 'अचि' में तदादिविधि होती है। तदनुसार—अजादि विभक्तियों के परे रहते जरा शब्द के स्थान में 'जरस्' आदेश विकल्प से होता है। सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' पद का 'विकल्प' अर्थ है। 'निर्जर' शब्द में स्थानी के सम्बन्ध में सन्देह होता है कि यहाँ सूत्रोक्त 'जरा' शब्द नहीं है, अपितु 'निर्जर' शब्द है। अतः जरस् आदेश कैसे होगा? इसका समाधान परिभाषा द्वारा दिया जा रहा है—(१) 'पद और अङ्ग के अधिकार में विहित कार्य उस शब्द को, अथवा वह शब्द जिसके अन्त में रहे, तदन्त समुदाय को होता है।' अतः तदन्त ('जरा' शब्दान्त) सम्पूर्ण निर्जर के स्थान में 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा की उपस्थिति से जरस् आदेश प्राप्त हुआ। उसका निषेध दूसरी परिभाषा द्वारा किया जा रहा है—'(निर्दिश्यमान) सूत्रों में उच्चरित पदों को ही आदेशों का विधान होता है।' इस प्रकार 'निर्जर' शब्दावयव 'जर' के स्थान में आदेश का विधान होता है। परन्तु यहाँ 'निर्जर' शब्द में जरा शब्द नहीं है, 'जर' है। फिर आदेश की प्रसक्ति होगी? इसके समाधान हेतु एक लौकिकन्याय को प्रस्तुत किया जा रहा है—'किसी अंग के विकृत हो जाने पर भी अवयवी (वस्तु) भिन्न नहीं समझा जाता।

रामवत्। (१८२) पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु

नात्र कथं जरसादेश इत्याशङ्कायां 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्ये'ति नियमेन जरसादेशस्याङ्गाधिकारतया तदन्तेऽपि प्रवृत्तिसम्भवात् तदन्तस्यापि स्यादिति प्राप्ते— 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषया जराशब्दस्यैव जरसादेशः स्यादिति कथमत्र जरशब्दस्य जरस् इति शङ्कायाम् 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषोपस्थित्या जरशब्दस्यापि जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति।

(१८२) **पद्दन्नोमासिति।** सूत्रे समाहारद्वन्द्वः। 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्य-

---

जैसे—पूँछ के कट जाने पर भी कुत्ता कुत्ता ही रहता है, अश्व आदि नहीं हो जाता। अतः 'जरा' के परिवर्तित रूप 'जर' (अंश) के स्थान पर 'जरस्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) निर्जर+औ (जर्=जरस्)=निर्जरसौ। (२) निर्जर+जस् (अस्) (जर=जरस्), निर्जरसस् (स्=र्), निर्जरसर् (र्=:)=निर्जरसः। 'निर्जरैः' में उपजीव्य (निमित्त) विरोध के कारण 'जरस्' आदेश नहीं होता। यथा—अदन्त को मानकर भिस् के स्थान में 'ऐस्' आदेश होता है। वह 'ऐस्' अजादि होकर अदन्तत्व के विनाशक जरसादेश के प्रति निमित्त होगा तो उपजीव्य विरोध होगा। जो जिसको निमित्त मानकर हुआ है, वह उसका विनाशक नहीं होता। अतः उपजीव्य विरोध के कारण यहाँ जरसादेश नहीं होता। निर्जर+भिस् (भिस्=ऐस् 'अतो भिस ऐस्') निर्जर+ऐस् (अ+ऐ=ऐ) निर्जरैस् (स् को रुत्व, विसर्ग)= निर्जरैः। जरसादेश न होने पर पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों के परे रहने पर 'राम' शब्द की तरह रूप चलेंगे।

'निर्जर' शब्द के रूप (पुंल्लिंग)

	एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०—	निर्जरः	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जराः
द्वि०—	निर्जरसम् निर्जरम्	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जरान्
तृ०—	निर्जरसा निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
च०—	निर्जरसे निर्जराय	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
प०—	निर्जरसः निर्जरात्-द्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
ष०—	निर्जरसः निर्जरस्य	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरसाम् निर्जराणाम्
स०—	निर्जरसि निर्जरे	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरेषु
सम्बो०—	हे निर्जर !	हे निर्जरसौ हे निर्जरौ	हे निर्जरसः हे निर्जराः

(१८२) पद—पद्दन्नोमास···आसन्, शस्प्रभृतिषु। **अनुवृत्ति—**अन्यतरस्याम्। **विधिसूत्र।**

६।१।६३। पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष् दोष यकृत् शकृत् उदक आस्य—एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा। यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेश' इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकमेव। पादः। पादौ। पादाः। पादम्। पादौ। पदः—पादान्। पदा—पादेनेत्यादि। विश्वपाः। (१८३) दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५। दीर्घाज्जसि इचि च न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः। विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। हे

तरस्यामि'त्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तते। 'शस्प्रभृतिषु' इति निमत्तोपादानात् पदाद्यादेशानुरूपाः प्रकृतिरूपाः स्थानिन आक्षिप्यन्ते। यथासङ्ख्यपरिभाषया पादादीनां पदादय आदेशा वा स्युरित्यर्थः। **विश्वपा इति**। विश्वं पाति रक्षतीति विश्वपाः। अत्र 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति प्राप्ते 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्चे'ति चकाराद् विच्, तस्य लोपे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, तस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'विश्वपाः' इति।

मूलार्थ—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष्, दोष्, यकृत, शकृत, उदक, आस्य शब्दों के स्थान में शसादि विभक्तियों के परे रहते विकल्प से क्रमशः पद्, दत, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन, शकन्, उदन् तथा आसन् आदेश होते हैं। काशिका में 'आसन' शब्द के स्थान पर 'आसन्' आदेश होने के विषय में जो कहा गया है, वह भ्रमात्मक है। पादः। पादौ इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अनुदात्तस्य०' (६।१।५९) सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'पद्' आदि आदेशों का सूत्र में निर्देश है। अतः 'पद्' आदि के समान पाद आदि तदनुरूप स्थानीवाचक शब्दों का आक्षेप किया जाता है। 'शस्प्रभृतिषु' निमित्तवाचक है। तदनुसार—शस् से लेकर सुप् पर्यन्त विभक्तियों के परे रहने पर पादादि १३ शब्दो के स्थान में क्रम से पद् आदि आदेश विकल्प से होते हैं। 'यत्तु०' काशिका में ग्रन्थकार ने सादृश्य होने के कारण 'आसन' शब्द के स्थान में 'आसन्' आदेश होने की बात कही है। वह भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वैदिक प्रयोगों में मुखवाचक 'आस्य' शब्द के स्थान में 'आसन्' आदेश देखा गया है। यथा—'हव्या जुहानि आसनि' (मुखे)। 'आसन्यं प्राणमूचुः' इत्यादि। **उदाहरण**—(१) प्रथमा एकवचन—पाद+सु, (स्=र्) पाद+र् (र=ः)=पादः। (२) प्रथमा द्वि० व०—पाद+औ (वृद्धि)=पादौ। (३) प्रथमा बहुवचन—पाद+जस् (अस्), (दीर्घ होकर) पादास् (रुत्व, विसर्ग)=पादाः। (४) द्वितीया ए० व०—पाद+अम्, (पूर्वरूप)=पादम्। (५) द्वितीया द्वि० व०—पाद+औट् (औ) वृद्धि=पादौ। (६) द्वितीया बहुव०—पाद+शस् (अस्) (पाद=पद् आदेश), पद्+अस्=पदस् (रुत्व, विसर्ग होकर)—पदः। पद् आदेश के विकल्प से होने के कारण पक्ष में पाद+अस् (दीर्घ)—पादास् (स्=न् 'तस्माच्छसो०')= पादान्। (७) तृतीया ए० व०—पाद+टा (आ) (पाद=पद् आदेश विकल्प से) पद्+आ =पदा। पक्ष में पाद+टा (टा=इन), पाद+इन (अ+इ=ए 'गुण')—पादेन। शेष रूप इसी प्रकार समझे जायें। विश्वपा+सु (स्=र्, र्=ः)=विश्वपाः। अर्थ—(विश्वं पाति) विश्व की रक्षा करने वाला (परमात्मा)।

(१८३) पद—दीर्घात्, जसि च। **अनुवृत्ति**—पूर्वसवर्णः, न, इचि। **विधिसूत्र**। (निषेध)।

विश्वपौ । हे विश्वपाः । (१८४) सुडनपुंसकस्य १।१।४३ । स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य । सुडिति प्रत्याहारः । (१८५) स्वादिष्वसर्वनाम-स्थाने १।४।१७ । कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदं स्यात् ।

---

(१८४) **सुडनपुंसकस्येति** । सुडिति 'सु' इत्यारभ्य औटश्टकारपर्यन्तं प्रत्याहारः । 'शि सर्वनामस्थानमि'त्यतः सर्वनामस्थानमित्यनुवर्तते । तदाह—**स्वादीत्यादि** ।

(१८५) **स्वादिष्विति** । 'स्वौजसमौडि'त्येतत्सूत्रपठितशस्प्रत्ययमारभ्य कप्प्रत्यया-न्तेषु प्रत्ययेषु ये यकारादयोऽजादयश्च तेषु परतः प्रकृतेर्भसंज्ञा । तद्भिन्नेषु प्रत्ययेषु परतः प्रकृतेः पदसंज्ञा भवतीति विवेकः ।

मूलार्थ—दीर्घ के पश्चात् 'जस्' अथवा 'इच्' परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता । वृद्धि होकर—विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । हे विश्वपौ । हे विश्वपाः ।

विमर्श—यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से 'पूर्वसवर्णः' 'नादिचि' से 'न' तथा 'इच्' की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । तदनुसार—'दीर्घ के अनन्तर 'जस्' अथवा 'इच्'—(इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता ।'

उदाहरण—(१) विश्वपा+औ ('प्रथमयोः०' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर आ+औ='औ' वृद्धि—वृद्धिरेचि)=विश्वपौ ।

(२) विश्वपा+जस् ('ज्' की इत्संज्ञा—अस्), विश्वपा+अस् (पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घा-ज्जसि च' से निषेध होने पर आ+अ='आ' दीर्घ—'अकः सवर्णे दीर्घः' से)=विश्वपास् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=विश्वपाः ।

(१८४) पद—सुट्, अनपुंसकस्य । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थानम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—नपुंसकलिंग को छोड़कर स्वादि (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पाँच वचनों की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है । सुट् प्रत्याहार है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४२) से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार पुंल्लिंग या स्त्रीलिंग शब्दों के पश्चाद्वर्ती सु आदि पाँच वचनों की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा होती है ।

(१८५) पद—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने । **अनुवृत्ति**—पदम् । **संज्ञासूत्र** ।

मूलार्थ—'सु' प्रत्यय से लेकर 'कप्' प्रत्यय-पर्यन्त सर्वनामस्थान-भिन्न प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है ।

विमर्श—यहाँ 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से संज्ञाबोधक पद 'पदम्' की अनुवृत्ति आती है । 'स्वादिषु' में सप्तमी विभक्ति होने से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषा की उपस्थिति होती है । तदनुसार सर्वनामस्थान से भिन्न सु आदि प्रत्ययों से पूर्ववर्ती शब्द की पद संज्ञा होती है (सु आदिर्येषां ते स्वादयः, तेषु 'स्वादिषु'—बहुव्रीहिः) । स्वादि प्रत्ययों के अन्तर्गत 'स्वौजसमौट्०' (४।१।२) से लेकर 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (५।४।१५०) सूत्र तक सभी प्रत्यय आते हैं । इस प्रकार सु, औ, जस्, अम्, औट्—इन पाँच प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सभी कप्-प्रत्ययपर्यन्त प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व समुदाय पदसंज्ञक होता है ।

(१८६) यचि भम् १।४।१८। यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात्। **(१८७) आकडारादेका संज्ञा १।४।१।** इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैव संज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च। तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम्। **(१८८) आतो धातोः ६।४।१४०।** आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्यामित्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। धातोः किम्? हाहान्

---

(१८८) **विश्वप इति।** विश्वपाशब्दात् शसि, अनुबन्धलोपे 'विश्वपा + अस्' इति जाते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति प्राप्तां पदसंज्ञां बाधित्वा 'आकडारादेका संज्ञा' इति सहकारेण परत्वानवकाशत्वाभ्यां 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां सत्याम् 'आतो धातोः' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषया पकारोत्तरवर्तिन आकारस्य लोपे 'विश्वप् + अस्' इति जाते विभक्तिसकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'विश्वपः' इति।

---

(१८६) पद—यचि, भम्। **अनुवृत्ति**—स्वादिषु, असर्वनामस्थाने। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होती है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१८५) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—सु, औ, जस्, अम्, औट् (सर्वनामस्थान) से भिन्न यकारादि और अजादि-स्वादि प्रत्ययों के परे रहने पर उससे पूर्ववर्ती शब्द-समुदाय की भसंज्ञा होती है। यह पद संज्ञा का अपवाद सूत्र है।

इस प्रकार (पूर्व विवेचन के अनुसार) 'सुप्' विभक्तियों में आरम्भ के ५ प्रत्यय सर्वनामस्थानसंज्ञक, ७ हलादि प्रत्यय पदसंज्ञक तथा शेष ९ अजादि प्रत्यय भसंज्ञक होते हैं।

(१८७) पद—आकडारात, एका, संज्ञा। **अधिकार सूत्र।**

मूलार्थ—यहाँ से 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) सूत्र से पूर्व तक एक की एक ही संज्ञा होती है; जो अष्टाध्यायी के क्रम से पर हो या अनवकाश हो। अतः शस् आदि अजादि-विभक्तियों में भसंज्ञा ही होती है, पद संज्ञा नहीं।

विमर्श—दो संज्ञाओं के एक ही स्थल में प्राप्त होने पर इस सूत्र द्वारा व्यवस्था की जा रही है—प्रकृत सूत्र (१।४।१) से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) सूत्र तक जो सूत्र हैं, उनमें इस अधिकार सूत्र के प्रभाव से एक ही संज्ञा होगी, दो नहीं। कौन-सी संज्ञा हो? इसका समाधान यह है कि 'जो संज्ञा अष्टाध्यायी सूत्रक्रम में पर और निरवकाश हो अर्थात् जो अन्यत्र कहीं चरितार्थ न हुई हो।' अतः 'शस्' आदि अजादि (अस्) प्रत्ययों में पद संज्ञा तथा भसंज्ञा दोनों की प्राप्ति होने पर निरवकाश होने से भसंज्ञा के द्वारा पद संज्ञा का बाध हो जाता है। तथा सूत्र-क्रम से भी भसंज्ञा पर है, अतः भसंज्ञा ही होती है।

(१८८) पद—आतो धातोः। **अनुवृत्ति**—लोपः, भस्य, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आकारान्त जो धातु तदन्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण का लोप होगा। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम्। इसी प्रकार 'शंखध्मा' आदि शब्दों के रूप बनेंगे। 'धातोः' क्यों कहा? हाहान्। सूत्र में 'आतः'—

'आत' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित् । क्त्वः । श्नः । हरिः । हरी । (१८९) **जसि च ७।३।१०९ ।** ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे ।

आत इति । 'आतो धातोः' इत्यत्र 'आतः' इति योगो विभज्यते । तेन धातुभिन्न-स्याप्याकारान्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यादित्यर्थः । एवं क्त्वाश्नाशब्दस्य 'क्त्वः, श्नः' इति शसि रूपं सिद्ध्यति ।

(१८९) **हरय इति ।** हरिशब्दाज्जसि अनुबन्धलोपे 'हरि+अस्' इत्यत्र प्राप्तं पूर्वसवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अलोऽन्त्यस्ये'ति सहकारेण 'जसि चे'त्यनेन गुणे 'एचोऽयवा-यावः' इत्यनेन अयादेशे, सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरयः' इति ।

इस योगविभाग के करने से धातुभिन्न आकार का भी कहीं लोप होता है । क्त्वः । श्नः । हरिः । हरी ।

विमर्श—यहाँ 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' की अनुवृत्ति आती है । 'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'आतः' 'धातोः' का विशेषण है । अतः तदन्त विधि होकर 'आकारान्त' अर्थ होता है । इस प्रकार आकारान्त धातु जिसके अन्त में हो, तदन्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है । 'अलोऽन्त्य' परिभाषा से भसंज्ञक अङ्ग के अन्तिम वर्ण का लोप होता है ।

उदाहरण—(१) विश्वपा+शस् (अस्), विश्वपा+अस् (पद संज्ञा को बाध कर 'यचि भम्' से भसंज्ञा, यहाँ आकारान्त धातु पा है, तदन्त अङ्ग है 'विश्वपा', उसके अन्त्य वर्ण 'आ' का 'आतो धातोः' से लोप)=विश्वप्+अस्—विश्वपस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=विश्वपः । (२) विश्वपा+टा (आ) ('आ' का लोप)=विश्वपा । (३) विश्वपा+भ्याम् (पदसंज्ञा)= विश्वपाभ्याम् । इसी प्रकार 'शङ्खध्मा' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'धातोः' पद के ग्रहण के अभाव में अव्युत्पन्न आकारान्त हाहा शब्द से द्वितीया बहुवचन में 'हाहा+शस्' (अस्) में भी आकार का लोप होने लगेगा, जो अभिमत नहीं है ।

आत इति० । 'आतो धातोः' सूत्र में 'आतः' पद का योगविभाग किया जाता है। तदनुसार धातुभिन्न आकारान्त शब्दों में भी आकार का लोप होता है । यथा—क्त्वा से 'ङसि' आने पर क्त्वा+अस् (ङसि) ('आ' का लोप)=क्त्वस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=क्त्वः । इसी प्रकार श्ना+अस् (ङसि)—'आ' का लोप, श्न्+अस् स्=र् , र्=ः श्नः ।

'विश्वपा' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

एकव०	द्वि० व०	बहुव०
प्र०—विश्वपा	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वि०—विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः
तृ०—विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः
च०—विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
पं०—विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
ष०—विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
स०—विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु
सम्बो०—हे विश्वपाः !	हे विश्वपौ	हे विश्वपाः

हरयः। (१९०) ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८। ह्रस्वस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्। (१९१) शेषो घ्यसखि १।४।७। शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्। (१९२)

---

(१९०) **ह्रस्वस्य गुण इति।** 'सम्बुद्धौ चे'त्यतः 'सम्बुद्धावि'त्यनुवर्तते। तदाह—**ह्रस्वस्येत्यादिना।**

(१९१) **शेष इति।** 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यतो 'यू' इत्यनुवर्तते, 'ङिति ह्रस्वश्चे'-त्यतो 'ह्रस्वः' इति च। प्रोक्तात् नदीसंज्ञकादन्य इति शेषः। शब्दस्वरूपमित्यध्याहार्यम्, तच्च यूभ्यां विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—**अनदीसंज्ञावित्यादि।**

---

(१) इकारान्त पुंल्लिङ्ग हरि शब्द से 'सु' विभक्ति आने पर हरि+सु 'उ' की इत्संज्ञा—हरि+स् (स्=र्), हरिर् (र्=ः)=हरिः। (२) हरि+औ (इ+औ=ई 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से दीर्घ)=हरी।

(१८९) पद—जसि, च। **अनुवृत्ति**—ह्रस्वस्य गुणः, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'जस्' परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है। हरयः।

विमर्श—यहाँ 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'ह्रस्व' पद अङ्गस्य का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है। अलोऽन्त्य परिभाषा द्वारा अङ्ग के अन्तिम वर्ण को गुण होता है। यह सूत्र पूर्वसवर्ण दीर्घ का अपवाद है।

उदाहरण—हरि+जस्, (ज् की इत्संज्ञा लोप) हरि+अस् (इ='ए' गुण—'जसि च') =हरे+अस् (ए='अय्' आदेश)=हरय्+अस् (स्=र्), हरयर्, (र्=ः)=हरयः।

(१९०) पद—ह्रस्वस्य, गुणः। **अनुवृत्ति**—सम्बुद्धौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन 'सु') परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है। हे हरे! हरिम्। हरीन्।

विमर्श—अर्थ की पूर्णता के लिए 'सम्बुद्धौ च' (७।३।१०६) से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार—ह्रस्वान्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण को सम्बुद्धि[1] परे रहते गुण होता है।

उदाहरण—(१) (हे) हरि+सु (स्)—(इ='ए'—गुण)—हरे+स् ('एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से 'स्' का लोप)=हे हरे! (२) हरि+अम् (इ+अ=इ—पूर्वरूप)=हरिम्। (३) हरि+औ (इ+औ='ई'—'पूर्वसवर्ण दीर्घ'=हरी। (४) हरि+शस् (अस्) (इ+अ=ई 'पूर्वसवर्णदीर्घ')—हरीस् (स्=न्—'तस्माच्छसो नः पुंसि')=हरीन्।

(१९१) पद—शेषः, घि, असखि। **अनुवृत्ति**—यू, ह्रस्वः। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—सखि शब्द को छोड़कर नदीसंज्ञक से भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों की 'घि' संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्रार्थ को पूर्ण करने के लिए 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) से 'यू' (इश्च उश्चेति यू) तथा 'ङिति ह्रस्वश्च' से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'शेष' पद का अर्थ 'उक्त नदीसंज्ञक से अन्य (भिन्न)' है। ह्रस्व इकारान्त शब्दों में 'सखि' शब्द इसका अपवाद है। अतः 'सखि'

---

१. एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९)।

आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०। घेः परस्याऽऽङो ना स्यादस्त्रियाम्। 'आङि'ति टासंज्ञा प्राचाम्। हरिणा। हरिभ्याम् ३। हरिभिः। **(१९३) घेर्ङिति ७।३।१११।** घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात्। हरये। हरिभ्यः २। गुणे कृते। **(१९४) ङसिङसोश्च ६।१।११०।** एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्।

---

(१९२) **घेः परस्येति।** 'अच्च घेः' इत्यतो 'घि' इत्यस्यानुवृत्तेरित्यर्थः। **हरिणा इति।** हरिशब्दात् तृतीयैकवचने 'टा' प्रत्यये 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन 'टा' इत्यस्य स्थाने नाऽऽदेशे 'अट्कुप्वाङि'त्यादिना णत्वे 'हरिणा' इति।

(१९३) 'घेर्ङिति' इति। 'सुपि च' इत्यतः 'सुपि' इति 'ह्रस्वस्य गुणः' इत्यतो गुण इति चानुवर्तते, तदाह—**घिसंज्ञकस्येति।**

(१९४) 'एङः पदान्तादति' इत्यतः एङः इति, अति इति च, 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्वं इति चानुवर्तते। 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिक्रियते। अत आह—**एङो ङसिङसोरित्यादि।**

शब्द को छोड़कर नदी संज्ञा से भिन्न ह्रस्व इकारान्त एवं ह्रस्व उकारान्त शब्द घिसंज्ञक होते हैं।

(१९२) पद—आङः, ना, अस्त्रियाम्। **अनुवृत्ति**—घेः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—स्त्रीलिंग को छोड़कर घिसंज्ञक शब्दों से परे 'आङ्' के स्थान पर 'ना' आदेश होता है। प्राचीन आचार्यों ने 'टा' को 'आङ्' कहा है।[1] हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः।

विमर्श—यहाँ 'अच्च घेः' सूत्र से 'घेः' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—स्त्रीलिंग को छोड़कर (अस्त्रियाम्) अन्य लिङ्गों में 'घि'संज्ञक शब्द के पश्चाद्वर्ती आङ् (टा) के स्थान में 'ना' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) हरि+टा ('ट्' की इत्संज्ञा-'चुटू')=हरि+आ (घिसंज्ञा होकर आ=ना)—हरिना (न्=ण्)—'अट्कुप्वाङ्०' से)=हरिणा। (२) हरि+भ्याम्=हरिभ्याम्। (३) हरि+भिस्, हरिभिस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=हरिभिः।

(१९३) पद—घेः, ङिति। **अनुवृत्ति**—सुपि, गुणः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ङित् 'सुप्' विभक्ति के परे रहते घिसंज्ञक को गुण होता है। हरये। हरिभ्यः।

विमर्श—सूत्रार्थ को पूर्ण करने के लिए 'सुपि च' से 'सुपि' तथा 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार ङकारेत्संज्ञक 'सुप्' विभक्तियों के परे रहते अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से घिसंज्ञक शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान में गुण आदेश होगा।

उदाहरण—(१) हरि+ङे (ए) (घिसंज्ञा होकर इ='ए' गुण—'घेर्ङिति')=हरे+ए (ए=अय्)=हरये। (२) हरि+भ्यस्, हरिभ्यस् (स्=र्), हरिभ्यर् (र्=:)=हरिभ्यः।

(१९४) पद—ङसिङसोः, च। **अनुवृत्ति**—एङः, अति, पूर्वरूपम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'एङ्' से ङसि तथा ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। हरेः। हर्योः। हरीणाम्।

---

१. 'आङिति तृतीयैकवचनस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा'—रूपावतारः (पूर्वार्द्धः)।

हरेः २। हर्योः २। हरीणाम्। (१९५) अच्च घेः ७।३।११९। इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् घेरत् स्यात्। हरौ। हरिषु। एवं कव्यादयः। (१९६) अनङ् सौ

---

(१९५) **अच्च घेरिति।** अत्र 'इदुद्भ्याम्' इति 'औत्' इति च सूत्रमनुवर्तते। 'ङेराम्मि'त्यतो 'ङेः' इत्यनुवर्तते। तदाह—**इदुद्भ्यामित्यादिना। हरौ इति।** हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने 'ङि' समागते ङस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'हरि+इ' इति स्थिते घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'अच्च घेः' इत्यनेन ङेः स्थाने औकारे इकारस्य अकारे च कृते 'हर+औ' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'हरौ' इति। रूपमिति।

(१९६) **अनङ् साविति।** 'सख्युरसम्बुद्धौ' इति सूत्रमनुवर्तते। 'अङ्गस्य' इत्यस्याधिकारः। तदाह—**सख्युरित्यादिना।**

विमर्श—यहाँ 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) से 'एङः' एवम् 'अति' तथा 'असि पूर्वः' (६।१।१०७) से 'पूर्वः' (पूर्वरूपम्) की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार एङ् (ए, ओ) के पश्चात् ङसि अथवा ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है।

उदाहरण—(१) हरि+अस् (ङसि) (इ='ए' गुण 'घेर्ङिति'=हरे+अस् (ए+अ=ए—पूर्वरूप 'ङसिङसोश्च' से), हरे स्, (स्=र्) हरेर्, (र्=ः) हरेः। इसी प्रकार षष्ठी एकवचन 'ङस्' में भी 'हरेः' रूप बनेगा। (२) हरि+ओस् (इ=य्—'यण्' हर्य्+ओस् (स्=र्) हर्योर्, (र्=ः)=हर्योः। (३) हरि+आम् (नुट् (न्) का आगम—'ह्रस्वनद्यापो नुट्') हरि+नाम् ('इ' को 'नामि' से दीर्घ)=हरीनाम् (न्=ण्)=हरीणाम्।

(१९५) पद—अत् च घेः। **अनुवृत्ति**—इदुद्भ्याम्, औत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—इकार एवम् उकार से परे 'ङि' के स्थान पर औत् (औ) तथा घिसंज्ञक के स्थान पर अत् (अ) आदेश होता है। हरौ। हरिषु। इसी प्रकार कवि आदि शब्दों के रूप चलते हैं।

विमर्श—सूत्रार्थ करने के लिए 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७।३।११६) सूत्र से 'ङेः' तथा 'इदुद्भ्याम्' (७।३।११७) एवम् 'औत्' (७।३।११८) सूत्रों की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ह्रस्व इकार, उकार से पश्चाद्वर्ती 'ङि' के स्थान पर 'औ' तथा घिसंज्ञक शब्द के अन्तिम वर्ण को ह्रस्व अकार आदेश होता है।

उदाहरण—(१) हरि+ङि, (इ=अ तथा ङि=औ) हर+औ, (अ+औ=औ—'वृद्धिरेचि' से वृद्धि)=हरौ। (२) हरि+सुप् (सु), हरिसु (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः')=हरिषु।

हरि शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एकव०	द्विव०	बहु०		एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र०—	हरिः	हरी	हरयः	पं०—	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
द्वि०—	हरिम्	हरी	हरीन्	ष०—	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
तृ०—	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	स०—	हरौ	हर्योः	हरिषु
च०—	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः	सं०—	हे हरे!	हे हरी!	हे हरयः!

इसी प्रकार कवि, रवि आदि इकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

(१९६) पद—अनङ्, सौ। **अनुवृत्ति**—सख्युः, असम्बुद्धौ, अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

७।१।९३। सख्युरङ्गस्याऽनङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ। (१९७) **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** १।१।६५। अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्। (१९८) **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** ६।४।८। नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। (१९९) **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः**। १।२।४१। एकालप्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्। (२००) **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** ६।१।६८। हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ,

---

(१९८) **सर्वनामस्थान इति**। 'नोपधायाः' इत्यनुवर्तते 'अङ्गस्ये'ति चाधिकाराल्लभ्यते। न इति लुप्तषष्ठीकं पदम् अङ्गस्य विशेषणम्। तदन्तविधिः। 'ढ्लोपे पूर्वस्य' इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते। तदाह—**नान्तस्येत्यादिना**।

(१९९) **अपृक्त इति**। एकालिति कर्मधारयः। असहायवाची एवात्र एकशब्दः। एकवर्णरूपः प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञः स्यादित्यर्थः।

(२००) **हल्ङ्याबिति**। 'लोपो व्योः' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते। हलन्तात्परं

मूलार्थ—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द को अनङ् आदेश होता है, सम्बुद्धिभिन्न 'सु' के परे रहते।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है, अतः 'सख्युरसम्बुद्धौ' (७।१।९२) सूत्र की यहाँ अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। इस प्रकार सम्बुद्धिभिन्न अर्थात् प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'सु' परे रहते 'सखि' शब्द के अङ्ग के (ङित् होने से अन्त्य के स्थान पर) 'अनङ्' आदेश होता है।

(१९७) **पद**—अलः, अन्त्यात्, पूर्वः, उपधा। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है। 'अन्त्यादलः पूर्वः' सूत्रभाग संज्ञी है तथा 'उपधा' संज्ञा है।

(१९८) **पद**—सर्वनामस्थाने, च, असम्बुद्धौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नः, उपधायाः, दीर्घः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे रहने पर नकारान्त उपधा को दीर्घ होता है।

विमर्श—सूत्र में स्थानी और आदेशवाचक पद नहीं हैं, केवल निमित्तवाचक पद हैं। अतः 'नोपधायाः' (६।४।७) सूत्र की तथा 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'नः' में षष्ठी विभक्ति है। वह अधिकार—'अङ्गस्य' का विशेषण है, तदन्त विधि होती है। तदनुसार—सम्बुद्धि से भिन्न सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय परे रहते नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है।

(१९९) **पद**—अपृक्तः, एकाल्, प्रत्ययः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—एकाल्=एक वर्ण रूप प्रत्यय की 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

विमर्श—(एकश्चासौ अल् च—कर्मधारयः) एक शब्द यहाँ असहायवाची अर्थात् केवलार्थक है। इस प्रकार एकवर्णात्मक प्रत्यय अपृक्तसंज्ञक होता है।

(२००) **पद**—हल्ङ्याब्भ्यः, दीर्घात्, सुतिसि, अपृक्तं, हल्। **अनुवृत्ति**—लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—हलन्त से परे सु, ति, सि सम्बन्धी अपृक्त हल् और दीर्घ ङी, आप् तदन्त से परे 'सु' सम्बन्धी अपृक्तसंज्ञक हल् का लोप होता है।

तदन्ताच्च परं 'सुतिसी'त्येतदपृक्तं हल् लुप्यते। (२०१) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्। (२०२) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७। प्रातिपदिकसंज्ञं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा। (२०३) सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्।

'सुतिसि' इत्येतदपृक्तं हल्लुप्यते, दीर्घौ यौ ङ्याापौ तदन्ताच्च परं 'सुतिसि' इत्येतदपृक्तं हल्लुप्यत इति भावः।

(२०२) **न लोप इति।** न इति लुप्तषष्ठ्यन्तं पृथक्पदम्, अन्तस्येति नस्य विशेषणम्। 'प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यत्र प्रातिपदिक इति लुप्तषष्ठ्यन्तम्, अधिकारप्राप्तस्य पदस्येत्यस्य विशेषणम्। तदाह—**प्रातिपदिकेत्यादिना। सखा इति।** सखिशब्दात्सौ अनुबन्धलोपे सखि+स् इति स्थिते, अङ्गसंज्ञायाम् 'ङिच्चे'ति सहकारेण 'अनङ् सौ' इत्यनेन इकारस्यानङ्ङादेशेऽनुबन्धलोपे 'सखन्+स्' इति जाते 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' इत्यनेन उपधासंज्ञायाम् 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धावि'ति दीर्घे 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति सस्याऽपृक्तसंज्ञायाम् 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नकारस्य लोपे 'सखे'ति रूपम्।

विमर्श—'लोपो व्योर्वलि' (६।१।५६) सूत्र से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है। हल् च, ङी च, आप च् तेभ्यः='हल्ङ्याब्भ्यः।' द्वन्द्व समास है। पंचमी विभक्ति होने से 'पर' पद का अध्याहार किया जाता है। 'दीर्घात्' ङी, आप् का विशेषण है। सु ति सि से आक्षिप्त प्रकृति का विशेषण होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः' में तदन्त विधि होकर—हलन्त, दीर्घ ईकारान्त तथा दीर्घ आबन्त से परे सुतिसि' सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप होता है। हलन्त से परे सु, ति, सि, तीनों प्रत्यय मिलते हैं। ङी (ङीप्, ङीष्, ङीन्) और आप् (टाप्, चाप्, डाप्) से परे केवल 'सु' ही मिलता है।

(२०१) पद—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम्। **संज्ञासूत्र (नियम)।**

मूलार्थ—प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य होता है।

विमर्श—(प्रत्ययः लक्षणं यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्।) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला कार्य होता है।

(२०२) पद—नलोपः, प्रातिपदिकान्तस्य। **अनुवृत्ति**—पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रातिपदिकसंज्ञक पद के अन्तिम नकार का लोप होता है।

विमर्श—'नः' में षष्ठी विभक्ति है। 'अन्तस्य' 'नः' का विशेषण है। अधिकार द्वारा प्राप्त 'पदस्य' पद प्रातिपदिक का विशेषण है। अतः प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, तदन्त नकार (न्) का लोप होता है।

उदाहरण—सखि+सु (इ=अनङ्-अन् आदेश) 'स ख्+अन् स्' ('अ' की उपधासंज्ञा होकर, उपधासंज्ञक वर्ण अ='आ' दीर्घ—'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ')='सखान्+स्' ('स्' की अपृक्त संज्ञा होने पर—'हल्ङ्याब्भ्यो०' से स् का लोप) सखान्, ('नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से 'न्' का लोप)=सखा। (मित्र)

(२०३) पद—सख्युः, असम्बुद्धौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, सर्वनामस्थाने, णित्। **अतिदेशसूत्र।**

(२०४) अचो ञ्णिति ७।२।११५ । अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्ञिति णिति च । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् । सखायौ । सखीन् । सख्या । सखिभ्याम् । सखिभिः । सख्ये । (२०५) ख्यत्यात्परस्य ६।१।११२ । खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृत-

---

(२०४) **'अचो'** इति । 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते । अधिकारलब्ध-मङ्गस्येति पदमचा विशेष्यते । तदन्तविधित्वादाह—**अजन्ताङ्गस्येति ।**

(२०५) कृतयणादेशयोः खि-खीशब्दयोरनुकरणं ख्य इति, ति-तीशब्दयोरनु-करणं 'त्य' इति । ख्यश्च त्यश्चेति समाहारद्वन्द्वः । 'एङः पदान्तादति' इत्यतः 'अति' इति 'ङसिङसोश्चे'त्यतः 'ङसिङसोः' इति चानुवर्तते । अतीति षष्ठ्या विपरिणम्यते ।

मूलार्थ—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत् (णित् के समान) हो जाता है ।

विमर्श—अधिकार से प्राप्त 'अङ्गस्य' को 'अङ्गात्' पंचमी विभक्ति में परिवर्तित कर दिया जाता है । 'गोतो णित्' से 'णित्' पद की अनुवृत्ति आती है तथा 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से 'सर्वनाम-स्थाने' की । अतिदेशसूत्र होने से यह सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) में यह णित् का आरोप करता है । अर्थात् ये प्रत्यय 'ण्' इत्संज्ञक के समान समझे जाँय । णित् सम्बन्धी कार्य होना 'णिद्वत्' का फल है ।

(२०४) पद—अचः, ञ्णिति । **अनुवृत्ति—**अङ्गस्य, वृद्धिः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ञित्, णित् प्रत्यय के परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'मृजेर्वृद्धिः' से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'अङ्गस्य' इस अधिकार सूत्र का 'अचः' विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । इस प्रकार ञकार-इत्संज्ञक तथा णकारेत्संज्ञक प्रत्ययों के परे रहने पर अजन्त अङ्ग के स्थान में वृद्धि होती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य वर्ण को वृद्धि होगी ।

उदाहरण—(१) सखि+औ (सर्वनामस्थान होने से औ को 'सख्युरसम्बुद्धौ' से णिद्वद्-भाव तथा 'अचो ञ्णिति' से इ=ऐ 'वृद्धि')=सखै+औ (ऐ=आय्)=सखायौ । (२) सखि+जस्, सखि+अस् (णिद्वद्भाव तथा वृद्धि)=सखै+अस्, (ऐ=आय्) सखायस् (स्=र्), सखायर् (र्=ः)=सखायः । (३) हे सखि+सु (इ=ए-'ह्रस्वस्य गुणः')=सखे+सु (एङ् ह्रस्वात्० से 'सु' का लोप)=हे सखे ! (४) सखि+अम् (णिद्वत् तथा वृद्धि)=सखै+अम् (ऐ=आय्)=सखायम् । (५) सखि+औट् (औ), सखि+औ, (णिद्वत्, वृद्धि) सखै+औ, (ऐ=आय्)=सखायौ । (६) सखि+शस् (अस्), सखि+अस् (पूर्वसवर्ण दीर्घ)=सखीस् (स्=न्)=सखीन् । (७) सखि+टा (ट् की इत्संज्ञा), सखि+आ (इ=य् 'यणादेश')= सख्या । (८) सखि+भ्याम्=सखिभ्याम् । (९) सखि+भिस्—सखिभिस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=सखिभिः । (१०) सखि+ङे, ('ङ्' की इत्संज्ञा) सखि+ए (इ=य् 'यण्')= सख्ये ।

(२०५) पद—ख्यत्यात्, परस्य । **अनुवृत्ति—**अति, ङसिङसोः, उत् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—यण् आदेश हो जाने पर ह्रस्व खि-ति शब्द और दीर्घ खी-ती शब्दों से परे ङसि, ङस् सम्बन्धी अकार के स्थान में उकार आदेश होता है । सख्युः ।

यणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः । सख्युः । (२०६) औत् ७।३।११८ । इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् । सख्यौ । शेषं हरिवत् । (२०७) पतिः समास एव १।४।८ । पतिः समास एव घिसंज्ञः । पत्या । पत्ये । पत्युः २ । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु–भूपतये ।

'ऋत उत्' इत्यत उदित्यनुवर्तते । तदाह—**खितिशब्दाभ्यामित्यादि । सख्युरिति ।** सखिशब्दात् 'ङसि' विभक्तौ ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे 'सखि + अस्' इति जाते 'इको यणचि' इतीकारस्य यणादेशे 'सख् य् अस्' इति स्थिते 'ख्यत्यात्परस्ये'त्यनेन असोऽकारस्य उकारे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'सख्युः' इति ।

(२०६) 'औत्' इति । इदुद्भ्यामि'त्यत्रैकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञयाऽऽह—**इत इति ।**

(२०७) पति इति । 'शेषो घ्यसखि' इत्यतः 'घि' इत्यनुवर्तते । पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञको भवति न तु केवल इत्यर्थः । **पत्या इति ।** पतिशब्दात् 'टा'

विमर्श—सूत्रार्थ करने के लिए 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) से 'अति' 'ङसिङसोश्च' (६।१।११०) से 'ङसिङसोः' तथा 'ऋत उत्' से 'उत्' की अनुवृत्ति आती है । परस्य के सामीप्य से अनुवृत्त 'अति' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है । तदनुसार यणादेश हो जाने पर ह्रस्वान्त खि ति तथा दीर्घान्त खी ती शब्दों से परे ङसि, ङस् सम्बन्धी 'अ' के स्थान पर 'उ' हो जाता है ।

उदाहरण—सखि + ङसि (अस्)=सखि + अस्, (इ=य् 'यण्') सख्य् + अस् (अ=उ—'ख्यत्यात्परस्य')=सख्युस्, (स्=र्) सख्युर् (र्=ः)=सख्युः ।

(२०६) पद—औत् । **अनुवृत्ति**—इदुद्भ्याम्, ङेः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ह्रस्व इकार-उकार से परे 'ङि' के स्थान पर 'औत्' आदेश होता है । सख्यौ । शेष रूप हरि शब्द की तरह चलेंगे ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र 'इदुद्भ्याम्' (७।३।११७) सम्पूर्ण सूत्र तथा 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (७।३।११६) से 'ङेः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार इ, उ के पश्चाद्वर्ती 'ङि' के स्थान पर 'औ' आदेश होता है ।

उदाहरण—सखि + ङि, ('ङि'='औ'—'औत्') सखि + औ (इ=य्—'यण्')=सख्यौ । अवशिष्ट रूप हरि शब्द के समान बनेंगे ।

सखि शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०—	सखा	सखायौ	सखायः	प०—	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
द्वि०—	सखायम्	सखायौ	सखीन्	ष०—	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
तृ०—	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	स०—	सख्यौ	सख्योः	सखिषु
च०—	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	सं०—	हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !

(२०७) पद—पतिः, समासः, एव । **अनुवृत्ति**—'घि' । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—पति शब्द की समास में ही घिसंज्ञा होती है । पत्या । पत्ये । पत्युः । समास में—भूपतये ।

कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। (२०८) बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३। एते संख्यासंज्ञाः स्युः। (२०९) डति च १।१।२५। डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्।

विभक्तौ टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च घिसंज्ञाया अभावे 'इको यणचि' इत्यनेन यणि कृते 'पत्या' इति।

(२०९) **डति चेति।** अत्र 'बहुगण०' इत्यतः 'संख्या' इति, 'ष्णान्ता षट्' इत्यतः षडिति चानुवर्तते। प्रत्ययत्वात् तदन्तग्रहणम्। तदाह—**डत्यन्तेत्यादिना।**

विमर्श—'शेषो घ्यसखि' से 'घि' की अनुवृत्ति आ रही है तथा इस सूत्र द्वारा प्राप्त घि-संज्ञा का नियमन किया जा रहा है। इस प्रकार इकारान्त पति शब्द की 'घि' संज्ञा समास में ही होती है, अन्यत्र नहीं।

उदाहरण—(१) पति+टा (आ) ('घि-संज्ञा' का प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध होने से 'ना' आदेश नहीं हुआ इ=य् 'यणादेश')=पत्या। (२) पति+ङे (ए) ('घि' संज्ञा के अभाव में 'घेर्ङिति' से गुण नहीं हुआ, यण्)=पत्ये। (३) पति+ङसि (अस्) यण् होकर, पत्य्+अस् (अ=उ 'ख्यत्यात्परस्य') पत्युस्, (स्=र्) पत्युर् (र्=:)=पत्युः। (४) पति+ङि, (ङि=औ) पति+औ (इ=य् 'यण्')=पत्यौ। शेष रूप हरि शब्द की तरह चलेंगे। समास स्थल में पति शब्द की घि-संज्ञा होने से भूपति शब्द के रूप हरि शब्द की तरह बनेंगे। भूपति+ङे, (ए) (घि-संज्ञा होकर 'घेर्ङिति' से गुण इ=ए) भूपते+ए (अयादेश)=भूपतये।

पति शब्द के रूप (इकारान्त पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पतिः	पती	पतयः	पं०	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
द्वि०	पतिम्	पती	पतीन्	ष०	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
तृ०	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः	स०	पत्यौ	पत्योः	पतिषु
च०	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः	सं०	हे पते !	हे पती !	हे पतयः !

'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त है।

(२०८) पद—बहुगणवतुडति, संख्या। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—'बहु' शब्द, 'गण' शब्द, वतु-प्रत्ययान्त और डति-प्रत्ययान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होती है।

विमर्श—सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास है। बहुश्च, गणश्च, वतुश्च, डतिश्च—तेषां समाहारः 'बहुगणवतुडति।'—यह पद संज्ञी है तथा संख्या संज्ञा। सूत्रस्थ वतु और डति प्रत्यय हैं।

(२०९) पद—डति, च। **अनुवृत्ति**—षट्, संख्या। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—डति-प्रत्ययान्त संख्यावाचक पद की 'षट्' संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'बहुगणवतु०' (२०८) से 'संख्या' तथा 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२४) से 'षट्' की अनुवृत्ति आ रही है। 'षट्' संज्ञा है तथा 'डति' संज्ञी। इस प्रकार तदन्तविधि होने से डति प्रत्ययान्त पदों की षट् संज्ञा होती है। 'कति' (किम्+डति) शब्द डति-प्रत्ययान्त होने से षट्-संज्ञक हुआ।

(२१०) षड्भ्यो लुक् ७।१।२२। जश्शसोः। प्रत्ययलोपे 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते। (२११) प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६७। लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात्। (२१२) न लुमताङ्गस्य १।१।६३। लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः। लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति-२। कतिभिः। कतिभ्यः। कतिभ्यः। कतीनाम्। कतिषु। युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं

---

(२१०) **षड्भ्यो लुगिति**। 'जश्शसोः शी' इत्यतो जश्शसोरित्यनुवर्तते। तेन षट्संज्ञकेभ्यो जश्शसोर्लुक् स्यादित्यर्थः।

(२१२) **न लुमतेति**। अत्र 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि'ति सूत्रमनुवर्तते। लु इत्यस्यास्तीति लुमान् लुक्शब्दः, श्लुशब्दः लुप्शब्दश्च। तेन लुका श्लुना लुपा वा प्रत्ययलोपे विहिते सति तन्निमित्तकमङ्गकार्यं न स्यादित्यर्थः। **कति इति**। बहुत्व-विशिष्टवाचकत्वात् प्रथमाबहुवचने जस् प्रत्यये 'बहुगणवतुडति संख्या' इति सूत्रेण संख्यासंज्ञायां 'डति च' इत्यनेन षट्संज्ञायां ततः 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' इति लुक्

---

(२१०) पद—षड्भ्यः, लुक्। **अनुवृत्ति**—जश्शसोः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—षट्संज्ञक शब्द से परे जस् और शस् का लोप होता है।

विमर्श—यहाँ 'जश्शसोः शिः' (७।१।२०) से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति आती है।

(२११) पद—प्रत्ययस्य, लुक्श्लुलुपः। **अनुवृत्ति**—अदर्शनम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—लुक्, श्लु, लुप् शब्दों से किया गया प्रत्यय का अदर्शन (लोप) वह क्रम से लुक्, श्लु और लुप् संज्ञक होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र का अर्थ करने के लिए 'अदर्शनं लोपः' (१।१।६४) से 'अदर्शनम्' की अनुवृत्ति आती है। वह अदर्शन (लोप) यदि लुक्, श्लु, लुप् द्वारा प्रत्यय का किया जाय तो उस लोप की क्रम से लुक्, श्लु और लुप् संज्ञा होती है।

(२१२) पद—न, लुमता, अङ्गस्य। **अनुवृत्ति**—प्रत्ययलोपे, प्रत्ययलक्षणम्। **विधिसूत्र**। (निषेध)।

मूलार्थ—लुक्, श्लु और लुप् शब्दों द्वारा जहाँ प्रत्यय का लोप हुआ हो वहाँ (प्रत्यय लक्षण से) तन्निमित्तक अङ्ग कार्य नहीं होता। कति-२। कतिभिः। कतिभ्यः-३। कतीनाम्। कतिषु। युष्मद्, अस्मद् तथा षट्संज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान होते हैं। 'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः-२।

विमर्श—लुक्, श्लु और लुप्—तीनों 'लु' शब्द बोध्य हैं। पूर्वसूत्र 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'लु' शब्द द्वारा प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण द्वारा तदाश्रित अङ्ग कार्य का निषेध होता है।

उदाहरण—(१) कति+जस् ('बहुगणवतुडति संख्या' से कति शब्द की 'संख्या' संज्ञा होने पर 'डति च' से षट् संज्ञा, 'प्रत्ययस्य लुक्०' से लुक् संज्ञा हुई, ततः 'षड्भ्यो लुक्' से जस् का लुक्) यहाँ 'प्रत्ययलोपे०' से प्रत्ययलक्षण मानकर 'जसि च' से 'गुण' प्राप्त होने पर 'न लुमताङ्गस्य' से अङ्गकार्य गुण का निषेध हो जाने से 'कति' रूप बना। (२) कति+भिस्, (स्=र्) कतिभिर्, (र्=ः)=कतिभिः। (३) कति+भ्यस्, (स्=र्) कतिभ्यर्,

बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ । (२१३) त्रेस्त्रयः ७।१।५३ । आमि । त्रयाणाम् । त्रिषु । गौणत्वेऽपि—प्रियत्रयाणाम् । द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । (२१४) त्यदादीनामः ७।२।१०२ । एषामकारो विभक्तौ । *द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः* । द्वौ–२ । द्वाभ्याम्–३ । द्वयोः–२ । द्विपर्यन्तानां किम् ? भवान् । भवन्तौ । पाति लोक-

---

संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इत्यनेन जसो लुकि, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि'ति प्रत्यय-लक्षणत्वात् 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते 'न लुमताङ्गस्ये'ति सूत्रेण प्रत्ययलक्षणनिषेधात् गुणाभावे 'कति' इति सिद्धम् ।

(२१३) **त्रेस्त्रय इति ।** 'आमि सर्वनाम्नः' इत्यतः 'आमी'त्यनुवर्तते । त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामीति भावः ।

(२१४) **त्यदादीनाम इति ।** 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतो 'विभक्तावि'त्यनुवर्तते ।

(र्=ः)=कतिभ्यः । (४) कति+आम् (नुट् (न्) का आगम—'ह्रस्वनद्यापोः०') कति+नाम्, (दीर्घ—'नामि')=कतीनाम् । (५) कति+सु (सुप्), (स्=ष्—'आदेश-प्रत्यययोः')=कतिषु ।

यहाँ प्रसङ्गतः यह बतलाया जा रहा है कि युष्मद्, अस्मद् तथा 'षट्संज्ञक' शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान होते हैं । त्रि शब्द बहुवचनान्त है । (१) त्रि+जस्, त्रि+अस्, ('इ' ='ए'—गुण—'जसि च') त्रे+अस्, (ए=अय् आदेश) त्रयस्, (स्=र्)—त्रयर्, (र्=ः)=त्रयः । (२) त्रि+शस्—त्रि+अस्, (इ+अ='ई'—'पूर्वसवर्ण दीर्घ') त्रीस् (स्=न्—'तस्माच्छसो)=त्रीन् । (३) त्रि+भिस्, (स्=र्) त्रिभिर्, (र=ः)= त्रिभिः । (४) त्रि+भ्यस् (स्=र्) त्रिभ्यर् (र्=ः)=त्रिभ्यः ।

(२१३) पद—त्रेः, त्रयः । **अनुवृत्ति**—आम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आम् (विभक्ति) के परे रहते 'त्रि' शब्द को त्रय आदेश होता है । त्रयाणाम् । त्रिषु । 'त्रि' शब्द के गौण=अप्रधान रहने पर भी त्रय आदेश होता है । प्रियत्रयाणाम् । द्वि शब्द नित्य द्विवचनान्त है ।

विमर्श—यहाँ 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (७।१।५२) से निमित्तवाचक पद 'आमि' की अनुवृत्ति आ रही है ।

उदाहरण—(१) त्रि+आम्, (त्रि=त्रय) त्रय+आम् (नुट् (न) का आगम) त्रय+नाम् (दीर्घ 'नामि')-त्रयानाम्, (न्=ण्)=त्रयाणाम् । (२) त्रि+सुप् (सु), (स्=ष्) =त्रिषु ।

(गौणत्वेऽपि)—'प्रियास्त्रयो यस्य' विग्रह में 'प्रियत्रि' शब्द में 'त्रि' के गौण (अप्रधान) होने पर भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्याय से 'प्रियत्रयाणाम्' में त्रयादेश का निषेध नहीं हुआ । क्योंकि इस न्याय की प्रवृत्ति केवल पदकार्य में ही होती है ।

'द्वि' शब्द का प्रयोग केवल द्विवचन में ही होता है ।

(२१४) पद—त्यदादीनाम्, अः । **अनुवृत्ति**—विभक्तौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—विभक्ति परे रहते त्यद् आदि को अकार अन्तादेश होता है । यह 'त्यद्' से लेकर द्विशब्दपर्यन्त 'त्यदादि' कहलाता है—यह भाष्यकार को इष्ट है । द्वौ । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्विप-

मिति पपीः—सूर्यः । पप्यौ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पप्यौ । पपीन् । पप्या । पपी-भ्याम्-३ । पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः-२ । पप्यः । पप्योः-२ । पप्याम् । ङौ च-पपी । पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः । बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी । दीर्घङ्यन्तत्वाद्ध-

---

त्यद् इत्यारभ्य द्विपर्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकृत इच्छेति—इष्टिः । **द्वाविति** । द्विशब्दात् प्रथमाद्विवचने 'औ' समागते 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे, पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते 'नादिचि' इति तन्निषेधे, 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ कृतायां 'द्वौ' इति ।

र्यन्त क्यों कहा ? भवान्, भवन्तौ । 'संसार की रक्षा करता है' इस अर्थ में पपीः (सूर्य) । पप्यौ । पप्य इत्यादि । इसी प्रकार 'वातप्रमी' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

विमर्श—यहाँ 'अष्टन आ विभक्तौ' से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है । त्यदादि शब्द सर्वादिगण के अन्तर्गत आते हैं । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से 'अ' आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है । 'त्यद् से लेकर द्वि-पर्यन्त त्यदादि हैं ।' यह भाष्यकार ने स्वीकार किया है । इस प्रकार त्यदादि में—'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक और द्वि' शब्दों का परिगणन किया जाता है ।

उदाहरण—(१) द्वि+औ, (इ='अ'—'त्यदादीनामः') द्व+औ (प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'नादिचि' से निषेध, अ+औ=औ—'वृद्धिरेचि')=द्वौ । (२) द्वि+भ्याम् (इ=अ), द्व+भ्याम् (दीर्घ—'सुपि च')=द्वाभ्याम् । (३) द्वि+ओस्, (इ=अ), द्व+ओस्, (अ='ए'—'ओसि च') द्वे+ओस्, (ए=अय्) द्वयोस्, (स्=र्) द्वयोर्, (र्=:)=द्वयोः ।

प्रत्युदाहरण—द्विशब्दपर्यन्त 'त्यदादि' स्वीकार किये जाने से द्वि के अनन्तर पढ़े गये 'भवत्' शब्द के 'त्' के स्थान पर अकारान्त आदेश नहीं होता । भवान् । भवन्तौ ।

पाति लोकम् (जो संसार की रक्षा करता है) अर्थ में पपीः (सूर्य) । (१) पपी+सु (स् को रुत्व विसर्ग होकर पपीः । (२) पपी+औ (पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होकर यणादेश ई=य्)=पप्यौ । (३) पपी+जस् (अस्) यणादेश पप्यस्, (स्=र्) पप्यर्, (र्=:) =पप्यः । (४) हे पपी+सु (स्=र्, र्=:)=हे पपीः । (५) पपी+अम् (ई=अ='ई' पूर्वरूप—'अमि पूर्वः')=पपीम् । (६) पपी+औट् (औ) ई=य् 'यण्')= पप्यौ । (७) पपी+शस् (अस्) ('ई+अ=ई'—पूर्वसवर्ण दीर्घ), पपीस्, (स्=न्)= पपीन् । (८) पपी+टा (आ), यण्=पप्या । (९) पपी+भ्याम्=पपीभ्याम् । (१०) पपी+भिस्, पपीभिस्, स्=र्, र्=:)=पपीभिः । (११) पपी+ङे (ए), यण्=पप्ये । (१२) पपी+भ्यस् (स्=र्, र्=:)=पपीभ्यः । (१३) पपी+ङसि, (अस्), इ=य् (यण्)= पप्यस्, (स=र्) पप्यर्, (र्=:)=पप्यः । (१४) पपी+ओस् (यण्) पप्योस् (स्=र्, र्=:)=पप्योः । (१५) पपी+आम् (दीर्घान्त न होने से दीर्घ नहीं हुआ, यण्)=पप्याम् । (१६) पपी+ङि (इ) (ई+इ='ई' सवर्णदीर्घ)=पपी । (१७) पपी+सुप् (सु) (स्=ष्) पपीषु । इसी प्रकार 'वातप्रमी' आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

बहुत श्रेष्ठ स्त्रियाँ हैं जिसकी, ऐसा पुरुष (बह्व्यः श्रेयस्यः यस्य सः—बहुव्रीहिः) इस अर्थ में 'बहुश्रेयसी' शब्द है । बहुश्रेयसी+सु (स्) (दीर्घङ्यन्त होने के कारण 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' का लोप=बहुश्रेयसी ।

ङ्याबिति सुलोपः । (२१५) यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३ । ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः । * प्रथमलिङ्गग्रहणं च * पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । (२१६) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७ । अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि । (२१७) आण्नद्याः ७।३।११२ । नद्यन्तात्

---

(२१५) **यू स्त्र्याख्याविति ।** ईश्च ऊश्चेति 'यू' । 'स्त्र्याख्यौ' इत्युपस्थितस्त्रीवाचकशब्दस्य विशेष्यत्वात् तदन्तविधिः । स्त्रियमाचक्षात इति स्त्राख्यौ । तदाह—**ईदूदन्ताविति । पूर्वमिति ।** यः शब्दः पूर्वं स्त्रीलिङ्गः, पश्चादुपसर्जनत्वे लिङ्गविपर्ययेऽपि तस्य नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ।

(२१६) **अम्बार्थनद्योरिति ।** अत्र 'सम्बुद्धौ चे'त्यतः सम्बुद्धावित्यनुवर्तते । अङ्गस्ये'त्यधिकारात् तदन्तविधिः । तदाह—**अम्बार्थानामित्यादि ।**

(२१७) **आण्नद्या इति ।** 'घेर्ङिति' इत्यतो 'ङिति' इत्यनुवर्तते, 'ङिति' इति सप्तम्याः षष्ठ्या विपरिणामस्तदाह—**नद्यन्तादिति ।**

---

(२१५) पद—यू, स्त्र्याख्यौ, नदी । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ईकारान्त, ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों की नदी संज्ञा होती है । शब्द की पूर्व (प्रथम) अवस्था का लिङ्ग ग्रहण किया जाता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्य स्त्रीलिङ्ग हो, उपसर्जन होने से अन्य लिङ्ग हो जाने पर भी वह नदीसंज्ञक होता है ।

विमर्श—सूत्र में स्त्र्याख्यौ यू 'संज्ञी' है तथा नदी संज्ञा है । (ईश्च यूश्चेति यू–इतरेतरद्वन्द्व) 'यू' स्त्र्याख्यौ का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है ।

(वा०) 'प्रथम०'—शब्द का नियम से लिङ्ग-परिवर्तन हो जाने पर भी पूर्वावस्था का लिङ्ग ग्रहण किया जाता है । यथा—बहुश्रेयसी शब्द में 'श्रेयसी' ङीप् प्रत्ययान्त होने पर भी समास में 'बहुश्रेयसी' शब्द पुंल्लिङ्ग है । परन्तु वार्तिककार के अनुसार 'श्रेयसी' शब्द के मौलिक लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग) का ग्रहण होने से नदी संज्ञा हुई ।

(२१६) पद—अम्बार्थनद्योः, ह्रस्वः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, सम्बुद्धौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सम्बुद्धि के परे रहने पर अम्बार्थक और नदीसंज्ञक शब्द को ह्रस्व होता है । हे बहुश्रेयसि !

विमर्श—यहाँ 'सम्बुद्धौ च' से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । तदनुसार—सम्बोधन के एकवचन 'सु' के परे रहते अम्बार्थक तथा नदी संज्ञा वाले शब्दों के अन्त्य वर्ण को ह्रस्व होता है । उदाहरण—हे बहुश्रेयसी + सु (स्) (नदीसंज्ञक होने से ई = इ 'ह्रस्व') हे बहुश्रेयसि + स् (स् का लोप—'एङ् ह्रस्वात्०') = हे बहुश्रेयसि !

(२१७) पद—आट्, नद्याः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङिति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—नद्यन्त से परे ङिद्वचनों को 'आट्' का आगम होता है ।

विमर्श—सूत्र में 'घेर्ङिति' सूत्र से 'ङिति' की अनुवृत्ति आती है । 'ङिति' पद षष्ठी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है । अधिकार प्राप्त अङ्गस्य का विशेषण 'नद्याः' पञ्चमी विभक्ति में होने से 'अङ्गस्य' में पञ्चमी होकर 'अङ्गात्' हो जाता है । विशेषण होने से 'नद्याः' में तदन्तविधि होती है । इस प्रकार नद्यन्त अङ्ग के अनन्तर ङित् विभक्तियों (ङे, ङसि, ङस्, ङि) को आट् (आ) का आगम होता है ।

परेषां ङिताम् आडागमः । (२१८) आटश्च ६।१।९० । आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयस्याः-२ । बहुश्रेयसीनाम् । (२१९) ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६ । नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम् स्यात् । इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते । 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव' । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपी-

---

(२१८) **आटश्चेति** । 'इको यणची'त्यतः 'अचि' इति, 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारस्तदाह—**आटोऽचीत्यादिना** । **बहुश्रेयस्यै** इति । बहुश्रेयसीशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'ङे' विभक्तौ, अनुबन्धलोपे 'प्रथमलिङ्गग्रहणं चे'ति वार्तिकेन नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इति ङेराडागमेऽनुबन्धलोपे 'बहुश्रेयसी + आ + ए' इति जाते 'आटश्चे'त्यनेन वृद्धौ कृतायां 'इको यणची'त्यनेन यणि कृते 'बहुश्रेयस्यै' इति ।

(२१९) **अङ्यन्तत्वादिति** । ङीबन्तत्वाभावादित्यर्थः । लक्षेर्ण्यन्तात् 'लक्षेर्मुट् च' इत्युणादिसूत्रेण 'ई' प्रत्यये मुडागमे च 'लक्ष्मीः' तामतिक्रान्त इत्यर्थे 'अत्यादयः' इति समासः । अतः ङ्यन्तत्वाभावात् 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपो न भवतीति ।

---

(२१८) पद—आटः, च । **अनुवृत्ति**—अचि, पूर्वपरयोः, वृद्धिः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'आट्' के पश्चात् 'अच्' परे रहते पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। बहुश्रेयस्यै ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'इको यणचि' से 'अचि' तथा 'वृद्धिरेचि' से 'वृद्धि' की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है ।

उदाहरण—(१) बहुश्रेयसी+ङे (ए), ('ए' से पूर्व 'आट्' (आ) का आगम-'आण्नद्याः') बहुश्रेयसी+आ+ए (आ+ए='ऐ'—'आटश्च' से वृद्धि) बहुश्रेयसी+ऐ (ई=य्—'यण्')= बहुश्रेयस्यै । (२) बहुश्रेयसी+ङसि (अस्) (आट् (आ) का आगम) बहुश्रेयसी+आ+अस्, (आ+अ='आ'—वृद्धि) बहुश्रेयसी+आस्, (यण्)—बहुश्रेयस्यास् (स्=र्, र्=:)= बहुश्रेयस्याः । (३) बहुश्रेयसी+आम्, (नुट् (न्) का आगम—'ह्रस्वनद्यापो नुट्')=बहुश्रेय-सीनाम् ।

(२१९) पद—ङेः, आम्, नद्याम्नीभ्यः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—नद्यन्त, आबन्त और नी शब्द से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। यहाँ 'आट्' का आगम पर होने के कारण नुट् का बाधक है । बहुश्रेयस्याम् । शेष रूप पपी शब्द के समान बनेंगे । अङ्यन्त होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ—अतिलक्ष्मीः । शेष रूप बहुश्रेयसी की तरह होंगे । प्रधीः ।

विमर्श—'अङ्गस्य' का अधिकार है । अतः तदन्तविधि होती है । प्रत्यय में तदन्तविधि होने से 'आबन्त' होता है ।

इस प्रकार नद्यन्त, आप्प्रत्ययान्त तथा नीशब्द के पश्चाद्वर्ती 'ङि' को आम् आदेश होता है ।

उदाहरण—बहुश्रेयसी+ङि (ङि=आम्—'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः') बहुश्रेयसी+आम्, (आट् का आगम—'आण्नद्याः') बहुश्रेयसी+आ+आम् (आ+आ='आ'—वृद्धिः) बहु-श्रेयसी आम्, (ई=य्—'यण्')=बहुश्रेयस्याम् । शेष रूप 'पपी' शब्द की तरह बनेंगे ।

वत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। प्रधीः। (२२०) **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७।** श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते। (२२१) **एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२।** धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यः।

---

(२२०) **अचि श्नु इति।** इश्च उश्च यू, तयोः य्वोरिवर्णोवर्णयोरित्यर्थः। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्चेति द्वन्द्वः, तेषाम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चात्र श्नुप्रत्ययान्तं गृह्यते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। अचीति तद्विशेषणम्। तदाह—**श्नुप्रत्ययान्तस्येत्यादि।**

(२२१) **एरनेकाच इति।** अत्र 'इणो यण्' इत्यतः यण् इत्यनुवर्तते। 'ए' इति षष्ठ्यन्तं पदम्, इवर्णस्येत्यर्थः। 'अचि श्नुधातुभ्रुवामि'त्यतः धातुमात्रमनुवर्तते, 'अचि' इति च। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। ततश्च 'प्रत्यये परतः' इत्यर्थो लभ्यते। अचीति तद्विशेषणम्। तदादिविधिः। तदाह—**धात्ववयवेत्यादिना। प्रध्यौ इति।** प्रधीशब्दात्

'बहुश्रेयसी' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः	पं०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
द्वि०	बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीन्	ष०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः	स०	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु
च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः	सं०	हे बहुश्रेयसि!	हे बहुश्रेयस्यौ!	हे बहुश्रेयस्यः

अतिलक्ष्मी+सु (यहाँ 'लक्ष्मी' शब्द ङ्यन्त नहीं है। अतः 'सु' का लोप नहीं होता।) अतिलक्ष्मी+स् (स्=र्, र्=ः)=अतिलक्ष्मीः। अवशिष्ट रूप बहुश्रेयसी शब्द के समान बनते हैं। प्रधी+सु ('स्' को रुत्व-विसर्ग होकर)=प्रधीः।

(२२०) पद—अचि, श्नुधातुभ्रुवां, य्वोः, इयङुवङौ। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—श्नुप्रत्ययान्त तथा इवर्णान्त, उवर्णान्त धातु को और भ्रू शब्द के अङ्ग को इयङ्, उवङ् आदेश होता है, अजादि प्रत्यय के परे रहते। ङकार इत्संज्ञक होने से यह आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होगा।

विमर्श—सूत्रस्थ 'श्नुधातुभ्रुवाम्' पद में इतरेतर द्वन्द्व समास है (श्नुश्च, धातुश्च भ्रूश्च, तेषाम्)। 'य्वोः' पद में भी द्वन्द्व है—इश्च उश्च यू, तयोः। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा के अनुसार श्नुपद से श्नुप्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। 'य्वोः' धातु का विशेषण है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार—श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु को तथा भ्रू रूप अंग को इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं। स्थानकृत सादृश्य को मानकर यहाँ इ=इयङ् तथा उ=उवङ् आदेश होंगे।

(२२१) पद—एः, अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—यण्, अचि, धातोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—धातु के अवयवों का संयोग पूर्व में न हो, ऐसा जो इवर्ण तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उसको अजादि प्रत्यय परे रहते यण् आदेश होता है।

प्रध्यम् । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यि । शेषं पपीवत् । एवं ग्रामणीः । ङौ तु—ग्रामण्याम् । (२२२) गतिश्च १।४।६० । प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । * गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते * शुद्धधियौ । शुद्धधियः । (२२३) न भूसुधियोः ६।४।८५ ।

'औ' विभक्तौ 'प्रधी + औ' इति जाते प्राप्तस्य पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'दीर्घाज्जसि चे'त्यनेन निषेधे, 'इको यणची'ति यणि प्राप्ते तं प्रबाध्य 'अचि श्नुधातुभ्रुवामि'त्यादिना इयङादेशे प्राप्ते तं बाधित्वा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि कृते 'प्रध्यौ' इति रूपम् ।

(२२२) **गतिकारकेति ।** गतिकारकाभ्यामितरद्भिन्नं पूर्वपदं यस्य तस्याङ्गस्य यण् न भवतीत्यर्थः ।

(२२३) **न भूसुधियोरिति ।** 'इको इणची'त्यतो 'यणि'ति, 'अची'ति चानुवर्तते

विमर्श—यहाँ 'इणो यण्' (६।४।८१) से आदेशवाचक 'यण्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'अचि श्नु०' (२२०) से 'अचि' तथा 'धातोः' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'धातोः' पद की आवृत्ति की जाती है। धातोः 'अङ्गस्य' तथा 'संयोग' का विशेषण है। इवर्ण धातु का विशेषण है, अतः तदन्तविधि होती है। तदनुसार—अजादि प्रत्ययों के परे रहने पर धातु का अवयव संयुक्त वर्ण पूर्व में न रहने पर जो इवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग के स्थान पर 'यण्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) प्रधी+औ (पूवसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध होने पर 'इको यणचि' से यण् की प्राप्ति, उसका बाधकर 'अचि श्नु०' से इयङ् आदेश प्राप्त है। उसको बाधकर 'एरनेकाचो०' से ई=य्—'यण्')=प्रध्यौ। (२) प्रधी+जस् (अस्) (ई=य्—यण्) प्रध्यस् (स्=र्, र्=:)=प्रध्यः। (३) प्रधी+अम् (यण्)=प्रध्यम्। (४) प्रधी+औट् (औ) यण्=प्रध्यौ। (५) प्रधी+शस् (अस्), (यण्)—प्रध्यस् (स्=र्, र्=:)= प्रध्यः। (६) प्रधी+ङि (इ) यण्=प्रध्यि। शेष रूप पपी शब्द के समान बनेंगे। इसी तरह 'ग्रामणीः' शब्द के रूप वनते हैं। 'ङि' विभक्ति में 'ग्रामण्याम्' रूप बनेगा। ग्रामणी+ ङि (ङि=आम्), ग्रामणी+आम् (यण्)=ग्रामण्याम्।

(२२२) पद—गतिः, च। **अनुवृत्ति**—प्रादयः, क्रियायोगे। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—प्रादि (प्र, परा, आदि उपसर्गों) की क्रिया के योग में गतिसंज्ञा होती है। (वार्तिक) गति एवम् कारक से इतर (भिन्न) अन्य शब्द पूर्व में रहने पर यण् नहीं होता। शुद्धधियौ। शुद्धधियः।

विमर्श—यहाँ 'प्रादयः' (१।४।५८) सूत्र तथा 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (१।४।५९) से 'क्रियायोगे' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार प्र आदि की क्रिया के योग में (उपसर्ग संज्ञा के अतिरिक्त) गति संज्ञा भी होती है।

(वा०) 'गतिसंज्ञक एवं कारक से भिन्न शब्द पूर्वपद में रहने पर इवर्णान्त धातु को यण् नहीं होता।'

उदाहरण—(१) शुद्धधी+औ (यहाँ 'धी' के पूर्व 'शुद्ध' शब्द के गतिसंज्ञक एवं कारक न होने से 'यण्' नहीं हुआ) ई=इयङ्, शुद्धधिय् औ=शुद्धधियौ। (२) शुद्धधी+जस् (यण् न होने से ई=इयङ्=इय्) शुद्धधिय्+अस् (स्=र्, र् =:)=शुद्धधियः।

(२२३) पद—न भूसुधियोः। **अनुवृत्ति**—यण्, अचि, सुपि। **विधिसूत्र** (निषेध)।

एतयोरचि सुपि यण्न । सुधीः । सुधियौ । सुधियः—इत्यादि । सुखमिच्छतीति सुखीः । सुतीः । सुख्युः-२ । सुत्युः-२ । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः । (२२४) तृज्वत्क्रोष्टुः ७।१।९५ । असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । (२२५) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११० ।

'ओः सुपी'त्यतः 'सुपी'ति चानुवर्तते । तदाह—**एतयोरित्यादि** । 'इको यणची'त्यनेन प्राप्तं यणादेशं प्रबाध्य 'अचि श्नु०' इति इयङुवङौ प्राप्तौ, तौ बाधित्वा 'एरनेकाचो०' 'ओः सुपि' इति सूत्राभ्यां यणादेशः प्राप्तस्तस्यानेन सूत्रेण निषेधः ।

(२२४) **तृज्वत्क्रोष्टुरिति** । अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति, 'सख्युरसम्बुद्धौ' इत्यतः 'असम्बुद्धौ' इति चानुवर्तते । एवमङ्गसंज्ञकः क्रोष्टु-शब्दस्तृज्वन्तवद्रूपं लभते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे इत्यर्थः । रूपातिदेशोऽयम् ।

मूलार्थ—अजादि सुप् प्रत्यय परे रहने पर भू और सुधी शब्द को यण् नहीं होता । सुधी । सुधियौ । सुधियः—इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अचि श्नु०' (२२०) से 'अचि' 'इणो यण्' (६।४।८१) से 'यण्' तथा 'ओः सुपि' से 'सुपि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार अजादि सुप् विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती रहने पर भू और सुधी शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान में यणादेश नहीं होता ।

उदाहरण—(१) सुधी+सु (स्=र्, र्= :)=सुधीः । (२) सुधी+औ ('गतिश्च' से गति संज्ञा होकर, 'एरनेकाचो०' से इ=य् 'यण्' की प्राप्ति, 'न भूसुधियोः' से निषेध होने पर 'अचि श्नु०' से ई=इयङ्)=सुधियौ । (३) सुधी+जस् (अस्) (पूर्ववत् यण् का निषेध होने पर इयङ्)—सुधियस् (स्=र्, र्= :)=सुधियः । सुष्ठु ध्यायतीति अथवा शोभना धीर्यस्येति सुधीशब्दः । (अच्छी बुद्धि है जिसकी, ऐसा पुरुष) ।

'सुधी' शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०—	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	पं०—	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०—	सुधियम्	सुधियौ	सुधियः	ष०—	सुधियः	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०—	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०—	सुधियि	सुधियोः	सुधीषु
च०—	सुधिये	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः	सं०—	हे सुधीः	हे सुधियौ	हे सुधियः

'सुख का इच्छुक' इस अर्थ में सुखी शब्द है । प्रथमा एकवचन में—सुखीः । इसी प्रकार पुत्र का इच्छुक अर्थ में 'सुती' शब्द है । प्रथमा एकवचन सुती+सु (स्)—(स्=र्, र्= :)= सुतीः । सुखी+ङसि तथा सुती+ङसि में 'सुख्युः' और 'सुत्युः' रूप बनते हैं । अविशिष्ट रूप प्रधी शब्द की तरह बनेंगे । शम्भु शब्द के रूप हरि शब्द के समान चलते हैं । इसी प्रकार भानु आदि शब्दों के रूप भी होंगे ।

(२२४) पद—तृज्वत्, क्रोष्टुः । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव होता है । अर्थात् 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग होता है ।

ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यान्ङौ, सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते। (२२६) ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४। ऋदन्तानामुशनसादीनां चाऽनङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ। (२२७) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११। अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा। क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टा-

---

(२२५) **ऋतो ङीति**। 'ह्रस्वस्य गुणः' इत्यतः गुण इत्यनुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्, ऋत इत्यनेन विशेष्यते। तदन्तविधिस्तदाह—'**ङौ इत्यादिना**।

(२२६) **ऋदुशनस् इति**। 'सख्युरसम्बुद्धावि'त्यतः 'असम्बुद्धौ' इति, 'अनङ् सौ' इत्यतो'ऽनङि'ति चानुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम् ऋदादिभिर्विशेष्यते। तदन्तविधिः। तदाह—**ऋदन्तानामित्यादि**।

(२२७) अत्र 'नोपधायाः' इत्यत उपधाया इति 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति सूत्रञ्चानुवर्तते। **क्रोष्टा इति**। क्रोष्टुशब्दात्सौ 'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति सूत्रेण तृज्वद्-

---

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'सख्युरसम्बुद्धौ' (७।१।९२) से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार सम्बुद्धि-भिन्न (सम्बोधन में प्रथमा एकवचन 'सु' को छोड़कर) सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) के पश्चाद्वर्ती रहने पर क्रोष्टु शब्द के स्थान में 'क्रोष्टृ' आदेश होता है।

सात प्रकार के अतिदेश सूत्र माने गये हैं। उनमें यह रूपातिदेश का उदाहरण है। क्रोष्टु+सु (क्रोष्टु=क्रोष्टृ), क्रोष्टृ+स् स्थिति हो जायेगी।

(२२५) पद—ऋतः, ङि, सर्वनामस्थानयोः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, गुणः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ङि और सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति के परे रहते ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है। इस सूत्र से गुण प्राप्त है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ह्रस्वस्य गुणः' से 'गुणः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'ऋतः' पद अधिकार-प्राप्त 'अङ्गस्य' का विशेषण है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा के द्वारा अङ्ग के अन्तिम वर्ण के स्थान पर 'गुण' आदेश होगा।

(२२६) पद—ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, अनङ् सौ, असम्बुद्धौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—ऋदन्त शब्द, उशनस्, पुरुदंशस् और अनेहस् शब्दों के अन्तिम वर्ण को अनङ् आदेश होता है, सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' के परे रहते।

विमर्श—यहाँ 'अनङ् सौ' (७।१।९३) सम्पूर्ण सूत्र तथा 'सख्युरसम्बुद्धौ' से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अनङ्' आदेश ङकार-इत्संज्ञक होने से अन्तिम वर्ण ऋ आदि के स्थान पर होता है। क्रोष्टृ+स् (ऋ=अनङ् (अन्)—'क्रोष्ट्+अन्+स्' यह स्थिति बनी।

(२२७) पद—अप्तृन्तृच्···प्रशास्तृणाम्। **अनुवृत्ति**—उपधायाः, दीर्घः, सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अप् शब्द, तृन्, तृच् प्रत्ययान्त तथा स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान के परे रहते दीर्घ होता है। क्रोष्टा। क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्—इत्यादि।

रम्। क्रोष्टारौ। क्रोष्टून्। (२२८) विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७। तृतीयादिष्वजादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना। क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे। (२२९) ऋत

भावेन क्रोष्टुशब्दस्य क्रोष्टृभावे जाते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'ऋदुशनस्०' इत्यादिसूत्रेण ऋकारस्य स्थानेऽनङादेशेऽनुबन्धलोपे क्रोष्टन्+स् इति जाते 'अप्तृन्तृच्०' इत्यनेनोपधादीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' इति सुलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपे कृते 'क्रोष्टा' इति।

(२२८) **विभाषेति**। अत्र 'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति सूत्रमनुवर्तते। अचीति तृतीयादिविभक्तिविशेषणम् 'यस्मिन्विधौ' इति तदादिविधिस्तदाह—**तृतीयादिष्वित्यादि। 'क्रोष्ट्रा–क्रोष्टुना' इति**। क्रोष्टुशब्दात् टा विभक्तौ, अनुबन्धलोपे 'क्रोष्टु+आ' इत्यत्र 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति विकल्पेन तृज्वद्भावे, यणि कृते 'क्रोष्ट्रा' इति। तृज्वद्भावाभावे तु 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन 'टा' इत्यस्य स्थाने नादेशे कृते 'क्रोष्टुना' इति रूपम्।

विमर्श—यहाँ 'नोपधायाः' (६।४।७) से स्थानिवाचक 'उपधायाः' पद तथा 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से आदेशवाचक 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से निमित्तवाचक 'सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनामस्थान के परवर्ती होने की दशा में—अप् (जल) शब्द, तृन्, तृच्-प्रत्ययान्त शब्द, स्वसृ (बहन), नप्तृ (नाती), नेष्टृ (दान देने वाला), त्वष्टृ (बढ़ई), क्षत्तृ (द्वारपाल), होतृ (हवन-कर्ता), पोतृ (पवित्र करनेवाला) और प्रशास्तृ (शासक) शब्दों की उपधा को दीर्घ आदेश होता है।

उदाहरण—(१) क्रोष्टन्+स् (उपधा 'अ'='आ'—दीर्घ), क्रोष्टान्+स् (स् का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः'), क्रोष्टान् ('न्' का लोप—'नलोपः प्राति०')=क्रोष्टा। (२) क्रोष्टु+औ (तृज्वद्भाव), क्रोष्टृ+औ, (ऋ=गुण रपर्—'अर्'—'ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः') क्रोष्टर्+औ (उपधादीर्घ—'अप्तृन्तृच्०')=क्रोष्टारौ। (३) क्रोष्टु+अस् (जस्), (क्रोष्टु=क्रोष्टृ—तृज्वद्भाव)—क्रोष्टृ+अस्, (गुण, रपर्) क्रोष्टर्+अस् (स्=र्, र्=:)=क्रोष्टारः। (४) क्रोष्टु+अम्, (तृज्वद्भाव) क्रोष्टृ+अम्, (गुण—'अर्') क्रोष्टर्+अम् (उपधादीर्घ)=क्रोष्टारम्। (५) क्रोष्टु+औ (औट्) (तृज्वद्भाव)—क्रोष्टृ+औ (गुण—अर्, उपधा-दीर्घ)=क्रोष्टारौ। (६) क्रोष्टु+शस् (अस्), (पूर्वसवर्णदीर्घ) क्रोष्टूस् (स्=न्—'तस्माच्छसो०')=क्रोष्टून्।

(२२८) पद—विभाषा, तृतीयादिषु, अचि। **अनुवृत्ति**—तृज्वत् क्रोष्टुः। अतिदेशसूत्र।

मूलार्थ—अजादि तृतीयादि (टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि) विभक्ति परे रहते 'क्रोष्टु' शब्द को विकल्प से तृज्वद्भाव होता है।

विमर्श—'तृज्वत्क्रोष्टुः' (२२४) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्रस्थ 'अचि' पद 'तृतीयादिषु' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा द्वारा तदादिविधि होती है।

उदाहरण—(१) क्रोष्टु+टा (आ), (क्रोष्टु='क्रोष्टृ' विकल्प से–'विभाषा तृतीयादिष्वचि')

उत् ६।१।१११। ऋतो ङसिङसोरति परे पूर्वपरयोरुदेकादेशः स्यात्। रपरः। (२३०) रात्सस्य ८।२।२४। रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रस्य विसर्गः। क्रोष्टुः-२। क्रोष्टोः-२। क्रोष्ट्रोः-क्रोष्ट्वोः। * नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन *। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्। हूहूः। हूह्वौ।

---

(२२९) **ऋत उदिति।** अत्र 'एङः पदान्तादति' इत्यतोऽतीति, 'ङसिङसोश्च' इत्यतो 'ङसिङसोरि'ति चानुवर्तते। ङसिङसोरित्यवयवषष्ठ्यन्तं विशेषणतया 'अती'-त्यत्रान्वेति। अङ्गस्येत्यधिकृतम्।

(२३०) 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेनैव सस्य लोपे सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम्। तदाह—**रेफात्परस्येति।** 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनुवर्तते। **नुमचिरेति** नुम्, 'अचि र ऋतः' तृज्वद्भावश्च—एतान् बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन नुडागमो भवती-

---

—क्रोष्टृ+आ (ऋ=र्—'यण्')=क्रोष्ट्रा। तृज्वद्भाव के न होने पर पक्ष में क्रोष्टु+आ (घिसंज्ञा होने से टा='ना'—'आङो नाऽस्त्रियाम्' से)=क्रोष्टुना। (२) क्रोष्टु+ङे (ए), (क्रोष्टु=क्रोष्टृ विकल्प से)—क्रोष्टृ+ए (ऋ=र्—'यण्')=क्रोष्ट्रे। पक्ष में क्रोष्टु+ए, (उ=ए गुण—'घेर्ङिति') क्रोष्टो+ए (ओ=अव् आदेश)=क्रोष्टवे।

(२२९) पद—ऋत उत्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङसिङसोः, अति। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग से ङसि, ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्व-पर (ऋ+अ) के स्थान में उकार आदेश होता है। रपर् होकर 'उर्' हो जाता है।

विमर्श—अधिकार से प्राप्त 'अङ्गस्य' का सूत्रस्थ 'ऋतः' पद विशेषण है। 'ऋतः' पद पञ्चम्यन्त है। अतः 'अङ्गस्य' भी पञ्चमी विभक्ति में परिवर्तित हो जाता है। तदन्तविधि होकर 'ऋकारान्त अङ्ग' अर्थ हो जाता है। 'एङः पदान्तादति' सूत्र से 'अति' तथा 'ङसिङसोश्च' से 'ङसिङसोः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है। अतः ऋकारान्त अङ्ग के पश्चात् ङसि, ङस् सम्बन्धी 'अ' परे रहते पूर्व-पर के स्थान में 'उ' (ऋ+अ=उर्) आदेश हो जाता है।

उदाहरण—क्रोष्टु+अस् (ङसि), ('क्रोष्टु'='क्रोष्टृ' विकल्प से—'विभाषा०') क्रोष्टृ+अस् (ऋ+अ='उ'—'ऋत उत्' रपर्)—'क्रोष्टुर् स्' इस दशा में 'संयोगान्तस्य लोपः' से अन्तिम वर्ण 'स्' के लोप की प्राप्ति होती है।

(२३०) पद—रात्, सस्य। **अनुवृत्ति**—संयोगान्तस्य लोपः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—रेफ से परे संयोगान्त लोप केवल सकार का ही होता है; अन्य का नहीं। रेफ का विसर्ग होकर क्रोष्टुः-२। क्रोष्टोः-२। (वा०) नुम्, अच् परे रहते र्—आदेश तथा तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् का आगम ही होता है। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों में शम्भु शब्द के समान रूप बनते हैं। हूहूः। 'अतिचमू' शब्द में नदीसंज्ञा-प्रयुक्त कार्य होते हैं। हे अतिचमु इत्यादि। खलपूः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में सम्पूर्ण 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार 'र्' से परे संयोगान्त सकार का ही लोप होता है; अन्य वर्ण का नहीं। 'संयोगान्तस्य लोपः' से प्राप्त स् के लोप का इस सूत्र द्वारा नियमन किया गया है।

उदाहरण—(१) क्रोष्टुर्+स् (इस स्थिति में 'रात्सस्य' से 'स्' का लोप होने पर)-क्रोष्टुर्

हूहूम् । हूहून् । इत्यादि । अतिचमू शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वाः-२ । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः । (२३१) ओः सुपि

त्यर्थः । **क्रोष्टूनामिति** । 'क्रोष्टु + आम्' इत्यत्र तृज्वद्भावं बाधित्वा नुटि कृते 'नामि' इति दीर्घे 'क्रोष्टूनामि'ति रूपम् ।

(र्=:)=क्रोष्टुः । तृज्वद्भाव के अभाव पक्ष में—क्रोष्टु+अस् (गुण—'घेर्ङिति')-क्रोष्टो+अस्, (ओ+अ='ओ'—पूर्वरूप—'ङसिङसोश्च') क्रोष्टोस् (स=र्, र्=:)=क्रोष्टोः । (२) क्रोष्टु +ओस् (तृज्वद्भाव विकल्प से) क्रोष्टृ+ओस् (ऋ=र 'यण्')=क्रोष्ट्रोस् (स्=र्, र्=:) —क्रोष्ट्रोः । पक्ष में क्रोष्टु+ओस् (उ=व्—'यण्'), क्रोष्ट्वोस् (स्=र्, र्=:)=क्रोष्ट्वोः ।

(वा०) नुम्, अच्-परक 'र' आदेश तथा तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से पहले 'आम्' को नुट् का आगम होता है ।

उदाहरण—(३) क्रोष्टु+आम् ('विभाषा०' से तृज्वद्भाव की प्राप्ति, 'नुमचिर०' वार्तिक के नियम द्वारा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् का आगम)—क्रोष्टु+नाम् (उ=ऊ—दीर्घ—'नामि') =क्रोष्टूनाम् । (४) क्रोष्टु+ङि (इ), (तृज्वद्भाव—विकल्प से) क्रोष्टृ+इ, (ऋ=अर् 'ऋतो ङि०')=क्रोष्टरि । पक्ष में—क्रोष्टु+ङि (इ) (घिसंज्ञा होकर 'अच्च घेः' से ङि=औ, उ=अ) —क्रोष्ट+औ (अ+औ=औ 'वृद्धि')=क्रोष्टौ । तृज्वद्भाव के अभाव पक्ष में और हलादि विभक्तियों में शम्भु शब्द के समान रूप बनेंगे ।

क्रोष्टु (गीदड़, शृगाल) शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः	पं०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः
द्वि	क्रोष्टारम्	क्रोष्टारौ	क्रोष्टून्	ष०	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
तृ०	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः	स०	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टुषु
च०	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभ्यः	सं०	हे क्रोष्टो	हे क्रोष्टारौ	हे क्रोष्टारः

(१) दीर्घ उकारान्त हूहू शब्द से प्रथमा एक व० 'सु' आने पर हूहू+सु (स् को रुत्व-विसर्ग)=हूहूः । (२) हूहू+औ (उ=व् 'यण्')=हूह्वौ । (३) हूहू+अम् (अ+अ= ऊ—'पूर्वरूप')=हूहूम् । (४) हूहू+शस् (अस्) (ऊ+अ='ऊ' पूर्वसवर्ण दीर्घ) हूहूस् (स=न्)=हूहून् । इत्यादि ।

'अतिचमू 'शब्द में समास होने से पूर्व दशा में 'चमू' नित्य स्त्रीलिंग है । अतः 'प्रथमलिङ्ग-ग्रहणं च' के अनुसार नदीसंज्ञा होकर तत्प्रयुक्त कार्य भी होते हैं । (१) हे अतिचमू+सु (ऊ =उ—'ह्रस्व'—'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः') अतिचमु+स् (स् का लोप—'एङ्ह्रस्वात्०')=हे अति-चमु ! (२) अतिचमू+ङे (ए), (आट् का आगम) अतिचमू+आ+ए, (आ+ए='ऐ'— 'आटश्च' से वृद्धि)—अतिचमू+ऐ (ऊ=व्—'यण्')=अतिचम्वै । (३) अतिचमू+ङसि (अस्)—(आट् (आ) का आगम), अतिचमू+आ+अस् (अ+आ='आ'—'वृद्धि') अतिचमू+आस् (यण्)—अतिचम्वास् (स्=र्, र्=:)=अतिचम्वाः । (४) अतिचमू+ आम् (नुट् (न) का आगम) अतिचमू+नाम् (ऊ=ऊ 'दीर्घ')=अतिचमूनाम् । (५) अतिचमू+ङि, (ङि=आम्) अतिचमू+आम् (ऊ=व्—'यण्')=अतिचम्वाम् । शेष रूप 'हूहू' शब्द के समान बनते हैं । खलपू+सु (स्), (स्=र्) खलपूर् (र= :)=खलपूः ।

६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचो-ऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं—सुल्वादयः। स्वयम्भूः। स्वयम्भुवौ। स्वयम्भुवः। एवं—स्वभूः। वर्षाभूः। (२३२) **वर्षाभ्वश्च** ६।४।८४। अस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वावित्यादि। दृन्भूः। * दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः *। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। खलपूवत्। एवं—करभूः। पुनर्भूः। दृन्भूकाराभूशब्दौ

---

(२३१) **ओः सुपीति**। एरिति पदरहितम् 'एरनेकाचः' इति सूत्रमनुवर्तते। 'अचि श्नु०' इत्यतः अचीत्यनुवृत्तम्, तेन सुपीति विशेष्यते। तदादिविधिः। 'इणो यण्' इत्यतः यणित्यनुवर्तते। तदाह—**धात्ववयवेत्यादि**।

(२३२) **वर्षाभ्वश्चेति**। अत्रापि 'ओः सुपी'ति सूत्रम् 'अचि श्नु०' इत्यतोऽचीति 'इणो यण्' इत्यतः यणित्यनुवर्तते। तदाह—**अस्येति**। वर्षाभूशब्दस्येत्यर्थः। **दृन्भ्वाविति**। दृन्भूः=ग्रन्थकर्ता। तस्मात् 'औ' विभक्तौ 'दृन्भू+औ' इत्यत्र 'ओः सुपि' इति

---

(२३१) पद—ओः, सुपि। **अनुवृत्ति**—अनेकाचः, असंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—धातु का अवयव संयोग पूर्व में न हो, ऐसा जो उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि सुप् विभक्तियों के परे रहते यण् आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'इणो यण्' (६।४।८१) सूत्र से आदेशवाचक 'यण्' पद की अनुवृत्ति आती है। 'एरनेकाचः०' (६।४।८२) से 'अनेकाचः' और 'असंयोगपूर्वस्य' की तथा सूत्रस्थ सुपि का विशेषण—अचि, 'ओः' का विशेषण 'धातुः' पद 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्०' (६।४।७७) से अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। अतः धातु का अवयव संयुक्त वर्ण पूर्व में न हो, ऐसा उवर्णान्त धातु, तदन्त अनेकाच् अङ्ग के अन्तिम वर्ण को अजादि सुप् विभक्ति के परवर्ती रहने पर यण् होता है।

उदाहरण—(१) खलपू+औ (यहाँ 'ऊ' से पूर्व धातु का अवयव संयुक्त नहीं है, तदन्त धातु–पू, तदन्त अनेकाच् अङ्ग—'खलपू' है। उससे परे अजादि विभक्ति 'औ' है। अतः प्राप्त 'उवङ्' का बाधकर 'ओः सुपि' से ऊ=व् 'यण्')=खलप्वौ। (२) खलपू+जस् (अस्), (ऊ=व् 'यण्') खलप्वस् (स्=र्, र्=ः)=खलप्वः। इसी प्रकार 'सुलू' आदि शब्दों के रूप बनेंगे। 'सुष्ठु लुनाति' इति सुलू+क्विप्=सुलू+सु=सुलूः (अच्छी प्रकार काटने वाला)। (३) स्वयम्भू+सु=स्वयम्भूः (स्वयं उत्पन्न होने वाला)। (४) स्वयम्भू+औ ('ओः सुपि' से प्राप्त 'यण्' का 'न भूसुधियोः' से निषेध, 'अचि श्नु०' से ऊ=उवङ्)=स्वयम्भुवौ। (५) स्वयम्भू+जस् (ऊ=उवङ् (उव्) स्वयम्भुवस् (स्=र्, र्= ः)—स्वयम्भुवः। इसी प्रकार स्वभू शब्द के रूप बनेंगे। वर्षाभू+सु (स्=र्, र्=ः)=वर्षाभूः (मेढक)।

(२३२) पद—वर्षाभ्वः, च। **अनुवृत्ति**—ओः, सुपि, अचि, यण्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अजादि सुप् विभक्ति के परे रहते 'वर्षाभू' शब्द के अवयव अवर्ण के स्थान में यण् आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'अचि श्नु०' (६।४।७७) से 'अचि', 'इणो यण्' (६।४।८१) से 'यण्' तथा 'ओः सुपि' (२३१) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'अलोऽन्त्य' परिभाषा की उपस्थिति

स्वयम्भूवत् । धाता । हे धातः । धातारौ । धातारः । * ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् । * धातॄणाम् । एवं नप्त्रादयः । 'अप्तृन्नि'ति सूत्रे नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । तेनेह न–पिता । पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ । शेषं धातृवत् । एवं

यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति तस्य निषेधे कृते 'दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' इति यणि कृते 'दृन्भ्वौ' इति । **नप्त्रादिग्रहणमिति ।** व्युत्पत्तिपक्षे तृन्तृजन्तत्वादेव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं किमर्थमिति चेदुच्यते—'उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृचप्रत्ययान्ताना-मुपधादीर्घश्चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेवे'ति नियमार्थम्; तेन पितृभ्रातृप्रभृतिषु न दीर्घः ।

उक्तञ्च—'पिता माता ननान्दा च सव्येष्टृभ्रातृयातरः ।
जामाता दुहिता देवा तृन्तृज्भ्यां रहिता नव ॥'

से अजादि सुब्विभक्ति परे रहने पर वर्षाभू शब्द के ऊवर्ण के स्थान में यण् (ऊ=व्) आदेश होता है।

उदाहरण—वर्षाभू+औ (पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाधकर 'अचि श्नु०' से उवङ् की प्राप्ति, उवङ् का बाधकर 'ओः सुपि' से यण् की प्राप्ति 'न भूसुधियोः' से निषेध 'वर्षाभ्वश्च' से ऊ=व्—'यण्') =वर्षाभ्वौ । दृन्भू+सु=दृन्भूः । अर्थ—वृक्ष । (वा०)—'अजादि सुप् विभक्ति के परे रहते दृन्, कर, पुनः पूर्वक भू धातु के ऊवर्ण को यण् होता है ।'

उदाहरण—(१) दृन्भू+औ (ऊ=व् 'यण्') दृन्भ्वौ । (२) दृन्भू+जस् (अस्) ऊ= व्—'यण्'=दृन्भ्वस् (स्=र्, र्=:)=दृन्भ्वः । इसी शब्द के समान 'करभूः' शब्द के रूप बनेंगे । करभूः (नाखून), पुनर्भूः (पुनः उत्पन्न होने वाला), दृग्भू (दृष्टि से उत्पन्न होने वाला) तथा काराभूः (कारागृह में उत्पन्न होने वाला) शब्दों के रूप 'स्वयम्भू' शब्द के समान बनेंगे ।

(१) धातृ+सु (ऋ=अनङ् (अन्)—'ऋदुशनस्०') धातन् स्, (अ='आ' दीर्घ—'अप्तृन्तृच्०') धातान्+स्, (स्—का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यो०') धातान् ('न्' लोप)=धाता । (अर्थ=ब्रह्मा) । (२) हे धातृ+सु (स्) 'ऋ'='अर्'—गुण—'ऋतो ङि') धातर्+स् ('स्' का लोप) (र्=:)=हे धातः । (३) धातृ+औ (ऋ=अर् 'गुण') धातर्+औ (उपधा-दीर्घ—'अप्तृन्०')=धातारौ । (४) धातृ+जस् (अस्) (ऋ='अर्' गुण) धातर्+अस्, (दीर्घ) धातारस् (स्=र्, र्=:)=धातारः । (वा०) "ऋवर्ण से परे 'न्' के स्थान पर ण् (णत्व) होता है ।" (५) धातृ+आम् (नुट् का आगम—'ह्रस्व०') धातृ+नाम् ('नामि' से दीर्घ) धातॄनाम् (न्=ण्)=धातॄणाम् । इसी प्रकार नप्तृ, होतृ आदि शब्दों के रूप बनेंगे ।

'अप्तृन्निति'—'उणादि व्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं'—इस पक्ष में तृन् तथा तृजन्त होने से नप्तृ आदि शब्दों में 'दीर्घ' सिद्ध है, पुनः नप्त्रादि का 'अप्तृन्तृच्०' सूत्र में ग्रहण क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि—'उणादि से निष्पन्न तृन्प्रत्ययान्त तथा तृच्प्रत्ययान्त शब्दों को यदि उपधा-दीर्घ होता है तो सूत्र-पठित नप्त्रादि शब्दों की उपधा को ही हो; अन्य को नहीं' इस प्रकार के नियम के लिए 'नप्तृ' आदि शब्दों का सूत्र में ग्रहण किया गया है । फलतः पितृ, भ्रातृ आदि शब्दों में दीर्घ नहीं होता । (१) पितृ+सु (स्) (ऋ=अनङ् (अन्)–'ऋदुशनस्०') पितन्+ स् (उपधादीर्घ—'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'), पितान् स्, ('स्' लोप) पितान् ('न्' का लोप

जामात्रादयः । ना । नरौ । नरः । (२३३) नृ च ६।४।६ । अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम्-नृणाम् । (२३४) गोतो णित् ७।१।९० । ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । ओतो णिदिति वाच्यम् । गौः । गावौ । गावः । (२३५) औतोऽम्शसोः

---

(२३३) **नृ चेति** । अत्र 'नामि' इति सूत्रम्, 'ढ्रलोपे०' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'छन्दस्युभयथा' इत्यतः 'उभयथा' इत्यनुवर्तते । **नृणामिति** । नृशब्दादामि, नुडागमेऽनुबन्धलोपे 'नामि' इति नित्यं दीर्घे प्राप्ते 'नृ च' इत्यनेन नामि परे वा दीर्घे 'नृणाम्' इति, पक्षे नृणामिति रूपम् ।

(२३४) **गोतो णिदिति** । अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इत्यनुवर्तते । तच्च प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह—**ओकारादित्यादिना** । **गौरिति** ।

'नलोपः०')=पिता । (२) पितृ+औ (ऋ='अर्' गुण) पितर्+औ=पितरौ । (३) पितृ+जस् (अस्) (ऋ='अर्'—गुण)—पितरः । (४) पितृ+अम् (ऋ=अर्)=पितरम् । शेष रूप धातृ शब्द के समान बनेंगे ।

पितृ शब्द के रूप (पिता) पुंल्लिङ्ग

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०—	पिता	पितरौ	पितरः	प०—	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
द्वि०—	पितरम्	पितरौ	पितॄन्	ष०—	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
तृ०—	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः	स०-	पितरि	पित्रोः	पितृषु
च०—	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः	सं०-	हे पितः !	हे पितरौ !	हे पितरः !

इसी प्रकार जामातृ आदि शब्दों के रूप बनेंगे । (१) नृ+सु (स्) (ऋ=अनङ् (अन्) 'ऋदुशनस्०') न्+अन् स् (दीर्घ—'सर्वनामस्थाने०') नान् स् ('स्' का लोप) नान् ('न्' का लोप)=ना (मनुष्य) । (२) नृ+औ ('अर्'—गुण)=नरौ । (३) नृ+जस् (अस्) ('अर्'—गुण) नरस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=नरः ।

(२३३) पद—नृ च । **अनुवृत्ति**—नामि, दीर्घः, उभयथा । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'नाम्' के परे रहते 'नृ' शब्द को विकल्प से दीर्घ होता है । नृणाम्-नृणाम् ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'ढ्रलोपे पूर्वस्य' (६।३।१११) से 'दीर्घः', 'नामि' (६।४।४) सम्पूर्ण सूत्र तथा 'छन्दस्युभयथा' (६।४।५) से 'उभयथा' पद की अनुवृत्ति आती है । परिणामतः 'नाम् के परवर्ती होने पर नृ-शब्दावयव ऋ के स्थान में विकल्प से दीर्घ होता है' । यहाँ 'अचश्च' परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है ।

उदाहरण—नृ+आम्, (नुट् का आगम) नृ+नाम् (ऋ=ॠ—दीर्घ 'नृ च') विकल्प से—नॄनाम्, (न्=ण्)=नॄणाम् । दीर्घ के न होने पर—नृणाम् ।

(२३४) पद—गोतः, णित् । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—ओकार से विहित सर्वनामस्थान णिद्वत् होता है । 'गोतो णित्' के स्थान पर 'ओतो णित्' ऐसा कहना चाहिए । गौः । गावौ । गावः ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति आ रही है । अनुवृत्त 'सर्वनामस्थाने' पद प्रथमान्त में परिवर्तित हो जाता है । तदनुसार गोशब्द के

६।१।९३ । 'आ-ओत' इतिच्छेदः । औतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः-२ । (२३६) रायो हलि ७।२।८५ । रैशब्दस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ । राः । रायौ । रायः । राभ्यामित्यादि । ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्यामित्यादि ।

इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

गोशब्दात्सौ 'गोतो णित्' इति णिद्वद्भावे 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'गौरि'ति रूपम् ।

(२३५) **औतोऽम्शसोरिति** । 'आ ओतः' इति च्छेदः । 'इको यणची'त्यतः 'अची'त्यनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकृतम् । तदाह—**ओकारादिति** ।

(२३६) **रायो हलीति** । 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः विभक्ताविति, आ इति चानुवर्तते । तदाह—**रैशब्दस्येत्यादिना** । **रा इति** । **आत्वे रुत्वविसर्गाविति** । राः धनमित्यर्थः ।

इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः ।

ओकार से विहित सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय (सु, औ, जस्, अम्, औट्) ण्-इत् के समान समझे जाते हैं । यह अतिदेश सूत्र है ।

उदाहरण—(१) गो+सु (स्) (णिद्वद्भाव) फलतः 'अचो ञ्णिति' से 'ओ'='औ' वृद्धि) गौ स् (स्=र्, र्= :)=गौः । (२) गो+औ (णिद्वत, वृद्धि)–गौ+औ (औ=आव्) =गावौ । (३) गो+जस् (अस्), (णिद्वत्, वृद्धि) गौ+अस् (औ=आव्) गावस् (स्= र्, र्= :)=गावः ।

(२३५) पद—आ ओतः, अम्शसोः । **अनुवृत्ति**—अचि, एकः पूर्वपरयोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ओकार से अम् तथा शस् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्व-पर के स्थान में आकार एकादेश होता है । गाम् । गावौ । गावः । गाः । गवा । गवे । गोः-२ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इको यणचि' (६।१।७७) से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'एकः पूर्वपरयोः' का अधिकार है । तदनुसार ओकारान्त शब्द के अनन्तर अम् तथा शस् सम्बन्धी अच् वर्ण के परे रहते (ओ+अ=आ) आकार एकादेश होता है ।

उदाहरण—(१) गो+अम् (ओ+अ='आ')=गाम् । (२) गो+औ=गावौ । (३) गो+शस् (अस्), (ओ+अ='आ') गास् (स्=र्, र्=:)=गाः । (४) गो+टा (आ), (ओ=अव् आदेश)=गवा । (५) गो+ङे (ए), (ओ=अव्) गवे । (६) गो+ङसि (अस्) (ओ+अ=ओ—पूर्वरूप—'ङसिङसोश्च') गोस् ('स्' को रुत्व-विसर्ग)=गोः ।

(२३६) पद—रायः, हलि । **अनुवृत्ति**—आ, विभक्तौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—हलादि विभक्ति के परे रहने पर 'रै' शब्द को आकार अन्तादेश होता है । राः । रायौ । रायः । इत्यादि ।

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा । (२३७) औङ आपः ७।१।१८ । आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात् । 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः । (२३८) सम्बुद्धौ च ७।३।१०६ ।

रमा इति । रमत इति रमा । 'रमु क्रीडायाम्' इति पचाद्यचि, टाप् । रमा + सु हल्ङ्याबिति सुलोपः । रमा = लक्ष्मीः ।

(२३७) **औङ आपः ।** 'आपः' इति पञ्चम्यन्तम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया आबन्तं विवक्षितम् । अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते 'जसः शी' इत्यतः 'शी' इत्यनुवर्तते । तदाह—**आबन्तादित्यादि । रमे इति ।** 'रमा + औ' इति स्थिते 'औङ आपः' इत्यनेन औकारस्य स्थाने 'शी' इत्यादेशे, प्रत्ययत्वात् 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे 'आद् गुणः' इत्यनेन गुणे 'रमे' इति ।

विमर्श—यहाँ निमित्तवाचक पद विभक्तौ तथा आदेशवाचक पद 'आ' दोनों 'अष्टन आ विभक्तौ' (७।२।८४) से अनुवृत्ति द्वारा लाये जाते हैं । 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है । यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति होने से—'रै' शब्द के ऐकार के स्थान में 'आ' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) रै + सु (स्)—(ऐ=आ) रा स्, (स्=र्)-रार्, (र्=ः)=राः । (अर्थ—धन) । (२) रै + औ (ऐ=आय्)=रायौ । (३) रै + जस् (अस्) (ऐ=आय्)—रायस् (स्=र्, र्=ः)=रायः । (४) रै + भ्याम् (ऐ=आ)—राभ्याम् ।

औकारान्त ग्लौशब्द की रूप-सिद्धि का प्रकार—(१) ग्लौ + सु (स्) (स् को रुत्व-विसर्ग होकर) ग्लौः । (२) ग्लौ + औ (औ=आव्)=ग्लावौ । (३) ग्लौ + जस् (अस्) (औ=आव्) ग्लावस् (स्=र्, र्=ः)=ग्लावः । (४) ग्लौ + भ्याम्=ग्लौभ्याम् इत्यादि । ग्लौः=चन्द्रमा ।

अजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरण समाप्त ।

पूर्व प्रकरण में माहेश्वर सूत्रों के क्रमानुसार अजन्त पुंल्लिङ्ग शब्द की रचना-प्रक्रिया बतलायी गयी । अब प्रस्तुत प्रकरण में भी उसी क्रम से सर्वप्रथम आकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' शब्द के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है ।

रमा + सु (स्) (रमा—आबन्त (टाप्प्रत्ययान्त) होने से 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०' से 'स्' का लोप)=रमा (लक्ष्मी) ।

(२३७) पद—औङः, आपः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, शी । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—आबन्त अङ्ग से परे औङ् (औ—विभक्ति) को शी आदेश होता है । प्राचीन आचार्यों के मत में औकारान्त विभक्तियों को 'औङ्' कहा जाता है । रमे । रमाः ।

विमर्श—यहाँ 'जसः शी' से आदेशवाची पद 'शी' की अनुवृत्ति आती है । अङ्गस्य का अधिकार है । 'आपः' उसका विशेषण है, तदनुसार 'अङ्गस्य' पद भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । तदन्तविधि होकर 'आबन्त' अर्थ हुआ । इस प्रकार आबन्त अङ्ग से 'औङ्' विभक्ति परे रहने पर (शित् होने से सम्पूर्ण) 'औ' के स्थान में 'शी' आदेश होता है ।

आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ । हे रमे । हे रमे । हे रमाः । रमाम् । रमे । रमाः । (२३९) आङि चापः ७।३।१०५ । आङि, ओसि चाऽऽप एकारः । रमया । रमाभ्याम् । रमाभिः । (२४०) याडापः ७।३।११३ । आपः परस्य ङिद्वचनस्य

---

(२३८) हे रमा + स् इति स्थितौ । **सम्बुद्धौ चेति** । अत्र 'बहुवचने झल्येत्' इत्यतः 'एत्' इति, 'आङि चापः' इत्यतः 'आपः' इति चानुवर्तते । तदाह—**आप इत्यादि** ।

(२३९) **आङि चाप इति** । अत्र 'ओसि च' इति, 'बहुवचने झल्येत्' इत्यतः 'एदि'ति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । तदन्तविधिस्तदाह—**आङि ओसि चेत्यादिना** ।

उदाहरण—(१) रमा+औ, (औ=शी-ई) रमा+ई, (आ+ई=ए 'गुण')=रमे । (२) रमा+जस् (अस्), (आ+अ=आ—'पूर्वसवर्णदीर्घ')—रमास्, (स्=र्) रमार् (र्= :)=रमाः ।

(२३८) पद—सम्बुद्धौ, च । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, आपः, एत । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सम्बुद्धि के परे रहते आवन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है । हे रमे !

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आङि चापः' (७।३।१०५) से स्थानिवाचक पद 'आपः' तथा 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से आदेशवाचक पद 'एत्' की अनुवृत्ति आ रही है । अधिकार से प्राप्त अङ्गस्य का 'आपः' विशेषण होने से तदन्तविधि होती है । इस प्रकार सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन सु) के पश्चाद्वर्ती रहने पर आबन्त अङ्ग के अन्तिम वर्ण (अलोऽन्त्य परिभाषा द्वारा) के स्थान में 'ए' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) हे रमा+सु (स्), (आ=ए 'सम्बुद्धौ च') हे रमे+स् (स् का लोप —'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः')=हे रमे । (२) हे रमा+औ (औ=शी-ई)—(२३७), हे रमा+ई (आ+ई='ए'—गुण)=हे रमे । (३) हे रमा+जस् (अस्), (आ+अ='आ' दीर्घ)—रमास् (स्=र्)-रमार् (र्= :)=हे रमाः । (४) रमा+अम् (आ+अ='आ'—पूर्वरूप) =रमाम् । (५) रमा+औट् (औ) (औ=शी-ई)—रमा+ई, (आ+ई='ए' गुण)= रमे । रमा+शस् (अस्), (आ+अ='आ'—दीर्घ) रमास् (स्त्रीलिंग होने से स्=न् नहीं हुआ, स्=र्)—रमार् (र्= :)=रमाः ।

(२३९) पद—आङि, च आपः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ओसि, एत । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आङ् (टा) तथा ओस् परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार होता है । रमया । रमाभ्याम् । रमाभिः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) से 'एत्' तथा 'ओसि च' से 'ओस्' पद की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है, उसका विशेषण होने से 'आपः' में तदन्त विधि होती है । तदनुसार आङ् (टा) तथा ओस् विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर आबन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण (अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से) के स्थान पर 'ए' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) रमा+टा (आ), (आ=ए) रमे+आ (ए=अय्)=रमया । (२) रमा+भ्याम्=रमाभ्याम् । (३) रमा+भिस्, (स्=रुत्व-विसर्ग)=रमाभिः ।

याडागमः । वृद्धिरेचि । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः-२ । रमयोः-२ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गादयः । (२४१) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७।३।११४ । आबन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याड्, आपश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यै ।

---

(२४०) **याडाप इति** । आप इति पञ्चम्यन्तम् । 'घेर्ङिति' इत्यतो ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । तदाह—**आपः परस्येत्यादि । रमायै इति** । 'रमा + ङे' इत्यत्र 'याडापः' इति याडागमेऽनुबन्धलोपे रमा + या + ए इति जाते 'वृद्धिरेची'त्यनेन वृद्धौ 'रमायै' इति रूपम् ।

(२४१) **सर्वनाम्न इति** । 'याडापः' इत्यतः पञ्चम्यन्तम् 'आपः' इत्यनुवृत्तम् । तच्च 'सर्वनाम्नः' इत्यस्य विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः । 'घेर्ङिति' इत्यतः 'ङिती'-

---

(२४०) पद—याड् आपः । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, ङिति । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—आबन्त अङ्ग से परे ङित् वचन (ङकारेत्संज्ञक विभक्तियों) को याट् का आगम होता है । वृद्धि । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः-२ । रमयोः-२ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । इसी प्रकार दुर्गा आदि शब्दों के रूप बनते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'घेर्ङिति' (७।३।१११) से 'ङिति' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । सूत्रस्थ 'आपः' पञ्चम्यन्त के अनुसार 'अङ्गस्य' भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है । 'याट्' आगम **टकार**—इत्संज्ञक होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा द्वारा ङित् (ङे, ङसि, ङस् तथा ङि) विभक्तियों के आदि अवयव के रूप में 'या' स्थित रहेगा ।

उदाहरण—(१) रमा+ङे (ए), (याट् (या) का आगम) रमा+या+ए (आ+ए= 'ऐ'—वृद्धि—'वृद्धिरेचि')=रमायै । (२) रमा+भ्याम्=रमाभ्याम् । (३) रमा+भ्यस् (स् को रुत्व-विसर्ग)—रमाभ्यः । (४) रमा+अस् (ङसि तथा ङस्), (याट् का आगम)—रमा +या+अस्, (आ+अ='आ'—दीर्घ)-रमायास् (स्=र्, र्=ः)=रमायाः । (५) रमा+ ओस् (आ=ए—'आङि चापः') रमे+ओस्, (ए=अय्)—रमयोस् (स्=र्, र्=ः)= रमयोः । (६) रमा+आम् (नुट् (न्) का आगम), रमा+नाम्, (आ=आ—दीर्घ 'नामि') रमानाम् (न्=ण्)=रमाणाम् । (७) रमा+ङि (ङि=आम्—'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः')— रमा+आम्, (याट् का आगम) रमा या आम्, (आ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ)= रमायाम् । (८) रमा+सुप् (सु)=रमासु ।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग—'रमा' शब्द के रूप (अर्थ—लक्ष्मी)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	रमा	रमे	रमाः	पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः	ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	स०	रमायाम्	रमयोः	रमासु
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः	सं०	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

इसी प्रकार दुर्गा, अम्बा आदि आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनते हैं ।

(२४१) पद—सर्वनाम्नः, स्याट्, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, आपः, ङिति । **विधिसूत्र** ।

सर्वस्याः–२। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादामि सर्वनाम्न इति सुट्। **सर्वासाम्। सर्वस्याम्।** शेषं रमावत्। एवं विश्वादयोऽप्याबन्ताः। **(२४२) विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १।१।२८।** अत्र सर्वनामता वा। **उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै।** इत्यादि। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्यैव समासस्य ग्रहणान्नेह—योत्तरा सा

त्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। ततश्च आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यात्। ततश्चानुवृत्तम् 'आपः' इति पदमावर्त्तते, षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्यते आपश्च ह्रस्वो भवतीति तदर्थः। **सर्वस्यै इति।** 'सर्वा + ङे (ए) इत्यत्र 'याडापः' इति याडागमे प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि, आबन्तस्य च ह्रस्वे 'सर्व स्या ए' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'सर्वस्यै' इति।

(२४२) **विभाषा दिक्समासे।** 'सर्वादीनि' इत्यतः सर्वनामग्रहणमनुवर्तते।

मूलार्थ—आबन्त सर्वनाम से परे ङकारेत्संज्ञक विभक्तियों को स्याट् का आगम होता है तथा आप् (आ) को ह्रस्व होता है। सर्वस्यै। सर्वस्याः। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। अवशिष्ट रूप रमा शब्द की तरह बनेंगे। इसी प्रकार विश्वा आदि आकारान्त सर्वनाम शब्दों के रूप बनते हैं।

विमर्श—सूत्रार्थ हेतु—'याडापः' (२४०) से 'आपः' घेर्ङिति (१९३) से 'ङिति' की अनुवृत्ति लायी जाती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'सर्वनाम्नः' पद का विशेषण होने से 'आपः' में तदन्तविधि होती है। अनुवृत्त ङिति पद षष्ठ्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। तदनुसार आबन्त सर्वनाम से परवर्ती ङित् विभक्तियों को स्याट् (स्या) का आगम होता है। सूत्र के द्वितीय वाक्यांश 'ह्रस्वश्च' में भी 'आपः' की अनुवृत्ति आने से 'आप्' (स्त्री-प्रत्ययान्त 'आ') को ह्रस्व होता है। यह सूत्र 'याट्' का अपवाद है।

उदाहरण—(१) सर्वा+ङे (ए), (स्याट् (स्या) का आगम तथा आ=अ—ह्रस्व)—सर्वस्या+ए (आ+ए='ऐ'–वृद्धि)=सर्वस्यै। (२) सर्वा+ङसि अथवा ङस् (अस्), (स्याट् का आगम तथा 'आ' को ह्रस्व) सर्वस्या+अस्, (आ+अ='आ'—दीर्घ) सर्वस्यास्, (स्= र्)—सर्वस्यार् (र्=:)=सर्वस्याः। (३) सर्वा+आम् (आम् के पूर्व सुट् (स्) का आगम —'आमि सर्वनाम्नः०') सर्वा+स्+आम्=सर्वासाम्। (४) सर्वा+ङि, (ङि=आम्), सर्वा+आम् (स्याट् का आगम व 'आ' को ह्रस्व), सर्वस्या+आम् (आ+आ='आ'—दीर्घ) =सर्वस्याम्। शेष रूपों की रचना-प्रक्रिया रमा शब्द की तरह होगी। इसी प्रकार आकारान्त स्त्रीलिंग 'विश्वा' आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

स्त्रीलिङ्ग 'सर्वा' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः	पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
द्वि०	सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः	ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः	स०	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः	सं०	हे सर्वे!	हे सर्वे!	हे सर्वाः!

(२४२) पद—विभाषा, दिक्समासे, बहुव्रीहौ। **अनुवृत्ति**—सर्वादीनि सर्वनामानि। **संज्ञासूत्र।**

पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै। बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम्। अन्तरस्यै शालायै। अपुरीत्युक्तेर्नेह–अन्तरायै नगर्यै। तीयस्येति ङित्सु वा। द्वितीयस्यै। द्वितीयायै। एवं तृतीया। अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः। हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। * असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न *। हे अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। जरा। जरसौ। जरे। इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्। गोपा–विश्वपावत्। मतीः। मत्या। (२४३)

---

¹दिग्वाचके बहुव्रीहिसमासे सर्वनामता वा स्यादित्यर्थः। **उत्तरपूर्वस्यै इति।** उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्–उत्तरपूर्वा, तस्यै उत्तरपूर्वस्यै, स्याड्ढ्रस्वौ। सर्वनामत्वाभावपक्षे याट्—'उत्तरपूर्वायै' इति। अत्र 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिसमासः।

मूलार्थ—बहुव्रीहि समास में दिग्वाचक शब्दों की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है। उत्तरपूर्वस्यै–उत्तरपूर्वायै। सूत्र में बहुव्रीहि पद स्पष्टार्थक है—अन्तरस्यै शालायै। 'अन्तरं बहियोंग०' इस गणसूत्र में 'अपुरि' कहे जाने से सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई—'अन्तरस्यै नगर्यै'।

विमर्श—यहाँ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१।१।२७) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है। इस प्रकार दिशावाचक शब्दों के बहुव्रीहि समास में सर्वादिगण पठित शब्दों की सर्वनामसंज्ञा विकल्प से होती है।

उदाहरण—(विग्रह—उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालम्=उत्तरपूर्वा—उत्तर और पूर्व के बीच का कोण—ईशान)। उत्तरपूर्वा+ङे (ए)—(विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होने पर स्याट् (स्या) का आगम 'आ' को ह्रस्व) उत्तरपूर्वस्या+ए (आ+ए=ऐ—वृद्धि)=उत्तरपूर्वस्यै। सर्वनाम संज्ञा न होने पर (याट् का आगम, वृद्धि)—उत्तरपूर्वायै।

यहाँ 'दिङ्नामान्यन्तराले' सूत्र से प्रतिपदोक्त (साक्षात्) दिशावाची शब्दों का विशेष अर्थ में बहुव्रीहि समास होने से उसी का ग्रहण होता है। अतः अन्यपदार्थप्रधान दिशावाची उत्तरपूर्वा शब्द के चतुर्थी एकवचन में 'उत्तरपूर्वायै' रूप बनेगा। यथा—या उत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै—उत्तरपूर्वायै। अर्थ=पूर्व को उत्तर दिशा समझने वाली मूर्ख स्त्री के लिए।

सूत्र में 'बहुव्रीहौ' कहने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि दिशावाची प्रतिपदोक्त समास बहुव्रीहि के अधिकार में प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँ स्पष्ट प्रतीति के बहुव्रीहि का ग्रहण किया गया है।

'अन्तरा' शब्द का चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'अन्तरस्यै' रूप बनता है। क्योंकि अन्तर शब्द बाह्य तथा परिधान अर्थ में सर्वनाम है। अर्थ=बाहरी शाला। सर्वनाम संज्ञा के प्रकरण में 'अपुरीति वक्तव्यम्' कहा गया है। अर्थात् नगरी अर्थ से भिन्न अर्थ में 'अन्तरा' शब्द को सर्वनाम संज्ञा हो। अत एव नगरी अर्थ में अन्तरा शब्द का चतुर्थी एकवचन में 'अन्तरायै' रूप होगा।

तीयस्येति। तीय-प्रत्ययान्त शब्दों को ङित् विभक्तियों के परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। उदाहरण—द्वितीया+ङे (ए), (विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होने से स्याट् का आगम, 'आ' को ह्रस्व) द्वितीय+स्या+ए, (आ+ए=ऐ—'वृद्धि')—द्वितीयस्यै। पक्ष में (याट् का आगम) द्वितीया+या+ए (आ+ए='ऐ'—'वृद्धि')=द्वितीयायै। इसी प्रकार तृतीया शब्द के रूप बनेंगे।

'माता' अर्थ वाले अम्बा, अक्का तथा अल्ला शब्दों के सम्बोधन के एकवचन 'सु' विभक्ति में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से ह्रस्व होने के बाद 'स्' (सु) का लोप होने पर क्रमशः हे अम्ब! हे अक्क! तथा हे अल्ल! रूप बनते हैं।

ङिति ह्रस्वश्च १।४।६ । इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इ-उवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै—मतये । मत्याः-२—मतेः-२ । नदीत्वपक्षे परत्वात् 'औत्' इति ङेरौत्वे प्राप्ते । **(२४४) इदुद्भ्याम् ७।३।११७ ।**

---

(२४३) **ङिति ह्रस्वश्चेति ।** अत्र च-ग्रहणाद्वाक्यद्वयम् । 'ङिति' इत्येकम् । अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति, 'वामि' इत्यतो 'वे'ति, 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति सूत्रञ्च नञ्वर्जमनुवर्तते । इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्योग्यता ययोस्ताविति विग्रहः । इयङुवङ्-प्राप्तियोग्यावित्यर्थः । तदाह—**इयङुवङ्स्थानावित्यादि ।** ह्रस्वश्चेति द्वितीयं वाक्यम् । अत्र 'यू' इति, 'नदी' इति, 'स्त्र्याख्यावि'ति, वेति चानुवर्तते । एवञ्च—'स्त्रीवाचकौ ह्रस्वौ चेदुतौ ङिति वा नदीसंज्ञौ स्तः' इति द्वितीयवाक्यार्थः । अप्राप्तविभाषेयम् । **मत्यै इति ।** 'मति+ङे' इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्चे'त्यनेन विकल्पेन नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः'

(वा०) 'असंयुक्ता०'—अम्बार्थक शब्दों में ड, ल तथा क वर्णों के संयुक्त न होने पर उनको ह्रस्व नहीं होता है । अर्थात् इन वर्णों के संयुक्त होने पर ही ह्रस्व होता है । अतः अम्बार्थक अम्बाडा, अम्बाला तथा अम्बिका शब्दों में ह्रस्व नहीं हुआ ।

'जरा' (वृद्धावस्था) शब्द के विशेष रूपों का सिद्धि-प्रकार बतलाया जा रहा है—(१) जरा+सु (स्) (स् का लोप)=जरा । (२) जरा+औ (यहाँ जरसादेश तथा औ को 'शी' दोनों की युगपत् प्राप्ति होती है, परन्तु पर होने से जरा=जरस् आदेश होकर)=जरसौ । जरसादेश विकल्प से होने के कारण पक्ष में जरा+औ (औ=शी-ई)—जरा+ई (आ+ई =ए 'गुण')=जरे । जरसादेश न होने पर पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों में 'रमा' शब्द की तरह रूप चलते हैं । 'गोपा' शब्द के रूप 'विश्वपा' शब्द के समान बनेंगे ।

इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में सर्वप्रथम 'मति' शब्द के विशेष रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है । (१) मति+शस् (अस्), (इ+अ=ई 'पूर्वसवर्ण दीर्घ') मतीस् (स्=र्)—मतीर् (र्=ः)=मतीः । (२) मति+टा (आ) ('इ'='य्'—यण्)=मत्या ।

(२४३) पद—ङिति, ह्रस्वः, च । **अनुवृत्ति—**यू, स्त्र्याख्यौ, नदी, इयङुवङ्स्थानावस्त्री, वा । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—ङित् विभक्तियों के परे रहते इयङ्, उवङ् के स्थानी, स्त्रीशब्द से भिन्न, नित्य स्त्रीलिङ्गवाची ईकारान्त एवं ऊकारान्त तथा ह्रस्व इकारान्त व उकारान्त (शब्दों) की विकल्प से नदीसंज्ञा होती है । मत्यै-मतये । मत्याः-मतेः । 'ङि' विभक्ति में पर होने के कारण 'औत्' सूत्र से ङि='औ' प्राप्त है ।

विमर्श—इस सूत्र में चकार से दो वाक्य हैं—'ङिति' और 'ह्रस्वश्च' । प्रथम भाग में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) सूत्र, नञ्रहित 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' (१।४।४) सूत्र तथा 'वामि' (१।४।२) से 'वा' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'इयङुवङ्स्थानौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ नदीसंज्ञौ वा स्तो ङिति परे' 'ङिति' का अर्थ है । अर्थात्—इयङ्, उवङ् स्थानिक नित्य स्त्रीलिङ्ग स्त्री शब्द से भिन्न दीर्घ ईकार और ऊकार को ङित् विभक्ति के परे रहते विकल्प से नदीसंज्ञा होती है । 'ह्रस्वः' यह अपर वाक्य है । द्वितीय वाक्य में भी पूर्वोक्त 'यू स्त्र्याख्यौ नदी', 'इयङुवङ्स्थानौ' तथा 'वा' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ च इदुतौ ङिति

नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात् । पक्षे—अच्च घेः । मत्याम्—मतौ । शेषं हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः । (२४५) त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९ । स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ । (२४६) अचि र ऋतः ७।२।१०० । तिसृ-

---

इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'मति + आ + ए' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणादेशे 'मत्यै' इति । पक्षे (नदीसंज्ञाऽभावे)—घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणेऽयादेशे 'मतये' इति ।

(२४४) **इदुद्भ्याम् इति** । अत्र 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति सूत्रात् 'ङेरामि'ति, 'नदी' इति चानुवर्तते । तदाह—**नदीसंज्ञकाभ्यामिति । एवं बुद्ध्यादय इति ।** आदिना भूति-धृति-कान्ति-गति-रुचि-दीप्ति-श्रुति-स्मृतिप्रभृतयो ग्राह्याः ।

(२४५) **त्रिचतुर इति ।** 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यतो विभक्तावित्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् ।

नदीसंज्ञकौ वा स्तः ।' अर्थात् इयङ्, उवङ् स्थानिक स्त्रीलिंगवाची ह्रस्व इ-उवर्णान्त शब्दों की ङित् विभक्तियों में विकल्प से नदीसंज्ञा होती है ।

उदाहरण—(१) मति+ङे (ए), (विकल्प से नदीसंज्ञा होने से आट् का आगम—'आण्नद्याः') मति+आ+ए, (आ+ए='ऐ'—वृद्धि—'आटश्च') मति+ऐ (इ=य् 'यण्')= मत्यै । नदीसंज्ञा न होने पर पक्ष में मति+ए (घिसंज्ञा, गुण, अयादेश)=मतये । (२) मति+ अस् (ङसि, अथवा ङस्), (विकल्प से नदीसंज्ञा होकर 'आट्' का आगम) मति+आ+अस्, (वृद्धि) मति=आस्, (यण्) मत्यास्, (स्=र्) मत्यार्, (र्=ः)=मत्याः । नदीसंज्ञा के अभाव पक्ष में—मति+अस् (घि संज्ञा, गुण, पूर्वरूप)=मतेः ।

(२४४) पद—इदुद्भ्याम् । **अनुवृत्ति**—नदी, ङे, आम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार, उकार से परे 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है । मत्याम्–मतौ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'ङे, आम् तथा नदी' की अनुवृत्ति आती है । 'इदुद्भ्याम्' के अनुसार 'नदी' पद को भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित कर दिया जाता है । इस प्रकार नदीसंज्ञक ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त से परे 'ङि' को 'आम्' आदेश होता है ।

उदाहरण—मति+ङि (ङि=आम्)—मति+आम् (यण्)=मत्याम् । नदीसंज्ञा के अभाव में मति+ङि (घि संज्ञा, 'अच्च घेः' से 'इ'='अ' तथा 'ङि'='औ')—मत+औ (अ+ औ='औ'—वृद्धि)=मतौ । शेष रूप 'हरि' शब्द के समान बनेंगे ।

इकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'मति' शब्द के रूप (अर्थ=बुद्धि)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०–	मतिः	मती	मतयः	पं०–	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
द्वि०–	मतिम्	मती	मतीः	ष०–	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
तृ०–	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	स०–	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
च०–	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः	सं०–	हे मते	हे मती	हे मतयः

इसी प्रकार बुद्धि, श्रुति, स्मृति आदि शब्दों के रूप बनते हैं ।

(२४५) पद—त्रिचतुरः, स्त्रियां, तिसृचतसृ । **अनुवृत्ति**—विभक्तौ । **विधिसूत्र ।**

चतस्रो ऋतो रादेशोऽचि । गुणदीर्घोत्वानामपवादः । तिस्रः–२ । तिसृभिः । तिसृभ्यः–२ । आमि नुट् । (२४७) न तिसृचतसृ ६।४।४ । एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वे–२ । द्वाभ्याम्–३ । द्वयोः–२ । गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । हे गौरि ! गौर्यै—इत्यादि । शेषं बहुश्रेयसीवत् । एवं नद्यादयः । लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं

---

(२४६) **तिस्र इति** । 'त्रिशब्दाज्जसि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इत्यनेन तिसृ आदेशे 'तिसृ+अस्' इति जाते, प्राप्तं यणादेशं प्रबाध्य 'ऋतो ङि०' इत्यनेन गुणे प्राप्ते, तमपि प्रबाध्य 'अचि र ऋतः' इत्यनेन ऋकारस्य रेफादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'तिस्रः' इति रूपम् ।

(२४७) **न तिसृचतसृ इति** । 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'नामि' इति सूत्रश्चानुवर्तते । तदाह—**एतयोरिति** ।

मूलार्थ—विभक्ति के परे रहते स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान त्रि और चतुर् शब्दों को क्रमशः तिसृ और चतसृ आदेश होता है ।

विमर्श—इस सूत्र में 'अष्टन आ विभक्तौ' से निमित्तवाचक पद 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आती है । स्थानी त्रि और चतुर् तथा आदेश तिसृ और चतसृ दोनों की संख्या समान होने से यथासंख्य परिभाषा द्वारा क्रम से त्रि=तिसृ और चतुर्=चतसृ आदेश होते हैं ।

(२४६) पद—अचि, रः, ऋतः । **अनुवृत्ति**—तिसृचतसृ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अच् के परे रहने पर तिसृ, चतसृ शब्द के 'ऋ' के स्थान पर 'र्' आदेश होता है । गुण, दीर्घ तथा उत्व का यह अपवाद है । तिस्रः ।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है । अतः पूर्वसूत्र (२४५) से 'तिसृचतसृ' की अनुवृत्ति आती है । यह सूत्र 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' से प्राप्त गुण, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त दीर्घ तथा 'ऋत उत्' से प्राप्त उत्व विधि का बाधक है ।

उदाहरण—(१) त्रि+(अस्) जस् अथवा शस्, (त्रि=तिसृ—'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्०') तिसृ+अस् ('ऋतो ङि०' से प्राप्त गुण को बाधकर 'अचि र ऋतः' से ऋ=र्)—तिस्रस् (स्=र्) तिस्रर् (र्=:)=तिस्रः । (२) त्रि+भिस् (त्रि=तिसृ)—तिसृभिस् (स्=र्, र्=:)=तिसृभिः । (३) त्रि+भ्यस् (त्रि=तिसृ) तिसृभ्यस् (स्=र्, र्=:)=तिसृभ्यः ।

(२४७) पद—न, तिसृचतसृ । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, नामि । **विधिसूत्र (निषेध) ।**

मूलार्थ—'नाम्' परे रहते तिसृ और चतसृ शब्द को दीर्घ नहीं होता ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' (६।३।१११) से 'दीर्घः' तथा 'नामि' (६।४।३) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार नाम् (नुम् सहित 'आम्' विभक्ति) के परवर्ती रहने पर तिसृ, चतसृ शब्द को दीर्घ नहीं होता ।

उदाहरण—(१) त्रि+आम्, (त्रि=तिसृ) तिसृ+आम् (नुट् का आगम) तिसृ+नाम् ('नामि' से प्राप्त दीर्घ का 'न तिसृचतसृ' से निषेध; ऋ के पश्चाद्वर्ती 'न्' को 'ण'—'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्')=तिसृणाम् । (२) त्रि+सुप् (सु), (त्रि=तिसृ)—तिसृसु (स्=ष्)= तिसृषु ।

द्वि शब्द से प्रथमा द्विवचन में औ 'द्वि+औ' ('इ'='अ'—त्यदादीनामः) द्व+औ (टाप्

तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि! (२४८) स्त्रियाः ६।४।७९। अस्येयङजादौ प्रत्यये। स्त्रियौ। स्त्रियः। (२४९) वाऽम्शसोः ६।४।८०। अमि शसि च स्त्रिया इयङ्

---

(२४८) **स्त्रिया इति।** 'अचि श्नु०' इत्यतोऽचीति, इयङिति चानुवर्तते। **तदाह—स्त्रीशब्दस्येत्यादिना। स्त्रियाविति।** स्त्रीशब्दात् 'औ' विभक्तौ 'स्त्री+औ' इति जाते 'स्त्रियाः' इति इयङादेशे कृते 'स्त्रियौ' इति।

(२४९) **वाऽम्शसोरिति।** स्त्रिया इति इयङ् इति चानुवर्तते। तदाह—**अमि शसि चेत्यादि। स्त्रीणामिति।** स्त्रीशब्दादामि 'स्त्री+आम्' इति स्थिते 'स्त्रियाः'

तथा दीर्घ)=द्वा+औ (औ=शी—'ई') द्वा+ई (आ+ई='ए'—'गुण')=द्वे। (२) द्वि+भ्याम् (इ=अ) द्व+भ्याम्, (टाप् तथा दीर्घ)=द्वाभ्याम्। (३) द्वि+ओस् (इ=अ) द्व+ओस्, (टाप् तथा दीर्घ) द्वा+ओस्, (आ=ए—'आङि चापः')—द्वे+ओस् (ए=अय् आदेश)=द्वयोस्, (स्=र्, र्=:)—द्वयोः।

दीर्घ ईकारान्त गौरीशब्द—गौर+ङीष् स्त्रीप्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। (१) गौरी+सु ('हल्ङ्याब्भ्यो०' से स् का लोप)=गौरी। (२) गौरी+औ, (पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध—'दीर्घाज्जसि च' यण्)=गौर्यौ। (३) गौरी+जस् (अस्) (इ='य्'-यण्)—गौर्यस्, (स्=र्, र्=:)=गौर्यः। (४) हे गौरी+सु (ई=इ—ह्रस्व—'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः') हे गौरि+स् (स् का लोप—'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः')=हे गौरि! (५) गौरी+ङे (ए), (आट् का आगम) गौरी+आ+ए, (आ+ए=ऐ—'आटश्च' से वृद्धि) गौरी+ऐ (ई=य्—'यण्')=गौर्यै। इत्यादि। शेष रूप 'बहुश्रेयसी' शब्द की तरह बनते हैं। इसी प्रकार नदी, वाणी आदि शब्दों के रूप सिद्ध होंगे।

लक्ष्मी+सु (यहाँ स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी ईकार न होने से सुलोप नहीं हुआ (स्=र्, र्=:) =लक्ष्मीः। अवशिष्ट रूप गौरी शब्द के समान बनते हैं। इसी प्रकार तरी=(नाव), तन्त्री=(वीणा) आदि शब्दों के रूप निष्पन्न होंगे।

'स्त्री' शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) स्त्री+सु (स् का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः०')=स्त्री। (२) हे स्त्री+सु (ई=इ 'ह्रस्व'—'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः') हे स्त्रि+स् ('स्' का लोप—'एङ्ह्रस्वात्०')=हे स्त्रि।

(२४८) पद—स्त्रियाः। **अनुवृत्ति**—इयङ्, अचि। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अजादि प्रत्यय के परे रहने पर 'स्त्री' शब्द को 'इयङ्' आदेश होता है। स्त्रियौ। स्त्रियः।

विमर्श—यहाँ 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) से आदेशवाचक पद—इयङ तथा निमित्तवाची 'अचि' की अनुवृत्ति आती है। 'प्रत्यये' पद का अध्याहार करने पर 'अचि' में तदादि विधि होकर 'अजादि प्रत्यय परे होने पर स्त्री शब्द को इयङ् आदेश होता है। 'ङिच्च' सूत्र के द्वारा ई के स्थान पर 'इयङ्' होगा।

उदाहरण—(१) स्त्री+औ (ई=इयङ्-इय्)=स्त्रियौ। (२) स्त्री+जस् (अस्), (ई=इय्) स्त्रिय्+अस् (स्=र्, र्=:)=स्त्रियः।

(२४९) पद—वा, अम्शसोः। **अनुवृत्ति**—स्त्रियाः, इयङ्। **विधिसूत्र** (विकल्प)।

मूलार्थ—अम् और शस् विभक्ति के परे रहते 'स्त्री' शब्द को इयङ् आदेश विकल्प से होता है। स्त्रियम्-स्त्रीम्। स्त्रियः-स्त्रीः। इत्यादि।

वा। स्त्रियम्-स्त्रीम्। स्त्रियः-स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः-२। स्त्रियोः-२। परत्वान्नुट्-स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्। स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः। श्रियम्। श्रियौ। श्रियः। श्रिया। श्रीभ्याम्। श्रीभिः। (२५०) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४। इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री। हे श्रीः। ङिति ह्रस्वश्चेति

इति प्राप्तम् इयङादेशं परत्वात् बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुडागमेऽनुबन्धलोपे पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या दीर्घे णत्वे च कृते 'स्त्रीणामि'ति।

(२५०) नदीसंज्ञाया निषेधकमाह—**नेयङुवङिति**। अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यतो यू नदीत्यनुवर्तते। इयङुवङोः स्थाने स्थितिर्ययोरिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में स्थानी तथा आदेशवाची पदों का अभाव है। अतः 'स्त्रियाः' (२४८) से स्त्री तथा 'अचि श्नु०' (२२०) से आदेशवाचक पद 'इयङ्' की अनुवृत्ति आती है। अतः द्वितीया एकवचन अम् तथा बहुवचन शस् परे रहते 'स्त्री' शब्द के 'ई' को इयङ् विकल्प से होगा।

उदाहरण—(१) स्त्री+अम् (ई=इय्—विकल्प से)=स्त्रियम्। इयङ् न होने पर पक्ष में पूर्वरूप होकर—स्त्रीम्। (२) स्त्री+शस् (अस्), (ई=इय् विकल्प से) स्त्रियस्, (स्=र्, र्=ः)=स्त्रियः। पक्ष में—स्त्री+अस् (ई+अ='ई' पूर्वसवर्ण दीर्घ) स्त्रीस् (स्=र्, र्=ः) =स्त्रीः। (३) स्त्री+टा (आ), (ई=इय्)=स्त्रिया। (४) स्त्री+ङे (ए), (ई=इय्)—स्त्रिय्+ए, (आट् का आगम) स्त्रिय्+आ+ए (आ+ए='ऐ' वृद्धि—'आटश्च')=स्त्रियै। (५) स्त्री (ङसि अथवा ङस्)+अस्, (आट् का आगम) स्त्री+आ+अस् ('आटश्च' से वृद्धि) स्त्री+आस् (ई=इयङ्) स्त्रियास् (स्=र्, र्=ः)=स्त्रियाः। (६) स्त्री+ओस् (ई=इयङ्) स्त्रियोस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=स्त्रियोः। (७) स्त्री+आम्, ('स्त्रियाः' से प्राप्त इयङ् को बाधकर पर होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् (न्) का आगम) स्त्री+नाम् (दीर्घ, न्=ण्)= स्त्रीणाम्। (८) स्त्री+ङि (ङि=आम्), स्त्री+आम् (ई=इय्—'स्त्रियाः')=स्त्रियाम्। (९) स्त्री+सु (सुप्) (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः')=स्त्रीषु।

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'स्त्री' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	पं०	स्त्रियः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम्, स्त्रीम्	स्त्रियौ	स्त्रियः, स्त्रीः	ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि!	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः

'श्री' (शोभा, लक्ष्मी) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है। (१) √श्रि +क्विप्, दीर्घ—'क्विब्वचिप्रच्छि०')=श्री। श्री+सु (ङीप्-प्रत्ययान्त न होने से स् का लोप नहीं हुआ, स्=रुत्व-विसर्ग)=श्रीः। (२) श्री+औ (ई=इयङ् (इय्)—'अचि श्नु०')= श्रियौ। (३) श्री+जस् (अस्), (ई=इय्) श्रियस् (रुत्व-विसर्ग)=श्रियः। (४) श्री+अम् (ई=इय्)=श्रियम्। (५) श्री+औट् (औ), (ई=इय्)=श्रियौ। (६) श्री+शस् (अस्), (ई=इय्)—श्रियस् (स्=र्, र्=ः) श्रियः। (७) श्री+टा (आ), (ई=इय्) =श्रिया। (८) श्री+भ्याम्=श्रीभ्याम्। (९) श्री+भिस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=श्रीभिः।

(२५०) पद—न, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री। **अनुवृत्ति**—यू, नदी। **संज्ञासूत्र** (निषेध)।

वा नदीत्वम् । श्रियै-श्रिये । श्रियाः-श्रियः-२ । (२५१) वाऽऽमि १।४।५ । इयङ्-वङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो, न तु स्त्री । श्रीणाम्-श्रियाम् । ङौ-

---

इयङुवङ्योग्याविति यावत् । **श्रियै इति** । 'श्री + ङे' इत्यत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इत्यनेन नदीसंज्ञायां प्राप्तायाम्, 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधे 'ङिति ह्रस्वश्चे'ति विकल्पेन नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्याटि 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'अचि श्नु०' इत्यादिना इयङादेशे कृते 'श्रियै' इति । नदीसंज्ञाया अभावपक्षे तु—इयङि 'श्रिये' इति रूपम् ।

(२५१) **वाऽऽमीति** । अत्र 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' नञ्वर्जं 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति सूत्रद्वयमनुवर्तते । वा आमीति छेदः । आमि नदीकार्याभावात् । **श्रीणामिति** । नदीत्वपक्षे आमि 'ह्रस्वनद्यापः' इति नुटि पर्जन्यवन्न्यायेन दीर्घे णत्वे च 'श्रीणाम्' इति । नदीत्वाभावे इयङि श्रियामिति ।

मूलार्थ—'स्त्री' शब्द को छोड़कर, इयङ्-उवङ् के स्थानी नित्य स्त्रीलिंग ईकार एवम् ऊकार की नदीसंज्ञा नहीं होती । हे श्रीः । 'ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से नदीसंज्ञा होकर—श्रियै-श्रिये । श्रियाः-श्रियः-२ ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) से 'यू' तथा 'नदी' पदों की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार स्त्री शब्द से भिन्न इयङ्, उवङ् आदेश जिनके स्थान पर होते हों, ऐसे ही 'ई' और 'ऊ' को नदीसंज्ञा नहीं होती ।

उदाहरण—(१) हे श्री + सु (प्राप्त नदीसंज्ञा का निषेध होने से ह्रस्व नहीं हुआ तथा विभक्ति का लोप भी नहीं हुआ, स् को रुत्व-विसर्ग होकर)=हे श्रीः । (२) श्री + ङे (ए), ('ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से नदीसंज्ञा होने पर 'आट्' का आगम) श्री + आ + ए, (आ + ए ='ऐ' वृद्धि—'आटश्च') श्री + ऐ (इयङ्)=श्रियै । नदीसंज्ञा न होने पर इयङ् होकर=श्रिये । (३) श्री + ङसि एवं ङस् (विकल्प से नदीसंज्ञा होने पर 'आट् का आगम) श्री + आ + अस्, (वृद्धि—'आटश्च') श्री + आस्, (ई=इयङ्) श्रियास् (स्=रुत्व-विसर्ग)=श्रियाः । नदीसंज्ञा न होने पर इयङ्=श्रियः ।

(२५१) पद—वा, आमि । **अनुवृत्ति**—यू स्त्र्याख्यौ नदी, इयङुवङ्स्थानौ, अस्त्री । **संज्ञासूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—'आम्' विभक्ति के परे रहते स्त्रीशब्द को छोड़कर, इयङ् उवङ् के स्थानी नित्य-स्त्रीलिङ्ग ईकार एवम् ऊकार की विकल्प से नदीसंज्ञा होती है । श्रीणाम्-श्रियाम् । श्रियाम्-श्रियि । धेनु शब्द के रूप मति शब्द के समान बनते हैं ।

विमर्श—यहाँ सम्पूर्ण 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र तथा नञ् को छोड़कर 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' (२५०) सूत्र की अनुवृत्ति आती है ।

उदाहरण—(१) श्री + आम् (इयङ्स्थानिक नित्यस्त्रीलिङ्ग 'श्री' शब्द के ईकार को विकल्प से नदी संज्ञा होने पर 'नुट्' का आगम) श्री + नाम्, (दीर्घ, न्=ण्)=श्रीणाम् । नदीसंज्ञा के अभावपक्ष में 'इयङ्' होकर=श्रियाम् । (२) श्री + ङि ('ङिति ह्रस्वश्च' से विकल्प से नदी संज्ञा होने पर ङि=आम्) श्री + आम्, (ई=इय्)=श्रियाम् । नदीसंज्ञा न होने पर (ई= इयङ्)=श्रियि ।

श्रियाम्-श्रियि । धेनुर्मतिवत् । (२५२) स्त्रियाञ्च ७।१।९६ । स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्द-स्तृजन्तवद्रूपं लभते । (२५३) ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५ । ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री-गौरीवत् । वधूः । शेषं नदीवत् । भ्रूः-श्रीवत् । स्वयम्भूः-पुंवत् । (२५४) न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१० । एभ्यो ङीप्टापौ न स्तः ।

---

(२५२) **स्त्रियाञ्चेति ।** रूपातिदेशोऽयम् । 'तृज्वत्क्रोष्टुरि'ति सूत्रमनुवर्तते । तदाह—**क्रोष्टुशब्द इत्यादिना ।**

(२५३) **ऋन्नेभ्यो ङीप् ।** 'स्त्रियामि'ति 'प्रातिपदिकादि'ति चाधिक्रियते । 'ऋन्नेभ्यः' इति प्रातिपदिकादित्यस्य विशेषणत्वात्तदन्तविधिस्तदाह—**ऋदन्तेभ्य इति ।**

ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग श्री=(लक्ष्मी) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः	प०	श्रियाः, श्रियः	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः
द्वि०	श्रियम्	श्रियौ	श्रियः	ष०	श्रियाः, श्रियः	श्रियोः	श्रीणाम्, श्रियाम्
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः	स०	श्रियाम्, श्रियि	श्रियोः	श्रीषु
च०	श्रियै, श्रिये,	श्रीभ्याम्	श्रीभ्यः	सं०	हे श्रीः	हे श्रियौ	हे श्रियः

धेनु शब्द के रूप मति शब्द के समान बनेंगे ।

(२५२) पद—स्त्रियाम् , च । **अनुवृत्ति**—तृज्वत्क्रोष्टुः । **अतिदेश सूत्र ।**

मूलार्थ—स्त्रीलिङ्गवाची 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त के सदृश रूप को प्राप्त करता है ।

विमर्श—यहाँ 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७।१।९५) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आने से अर्थकृत सादृश्य को मानकर रूपातिदेश किया जा रहा है । तदनुसार—'स्त्रीलिङ्ग में भी 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग होगा ।

(२५३) पद—ऋन्नेभ्यः, ङीप् । **अनुवृत्ति**—स्त्रियाम् , प्रातिपदिकात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—ऋदन्त और नान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है । क्रोष्ट्री ।

विमर्श—'स्त्रियाम्' (४।१।१) का अधिकार है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति आती है । 'प्रातिपदिकात्' को पञ्चमी बहुवचन में परिवर्तित कर दिया जाता है । विशेषण होने से 'ऋन्नेभ्यः' में तदन्तविधि होकर ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से परे 'ङीप्' प्रत्यय होता है ।

उदाहरण—क्रोष्टु (तृज्वद्भाव) क्रोष्टृ, (ङीप्)—क्रोष्टृ+ई (ऋ=र् 'यण्')=क्रोष्ट्री+सु (स्)—(स् का लोप)=क्रोष्ट्री । 'क्रोष्ट्री' शब्द के रूप 'गौरी' शब्द के समान बनते हैं ।

ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'वधू' शब्द—वधू+सु (स् को रुत्व-विसर्ग)=वधूः । अवशिष्ट रूपसिद्धि 'नदी' शब्द की तरह होगी । भ्रू+सु (स्=रुत्व-विसर्ग)=भ्रूः । इसकी रूपावलि 'श्री' शब्द के समान जानी जाय । 'स्वयम्भू' शब्द के रूप पुंलिङ्ग के समान हैं ।

(२५४) पद—न, षट्स्वस्रादिभ्यः । **अनुवृत्ति**—ङीप् , टाप् । **विधिसूत्र (निषेध) ।**

मूलार्थ—षट्संज्ञक और स्वसृ आदि शब्दों से ङीप् और टाप् नहीं होते ।

विमर्श—यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (२५३) से 'ङीप्' तथा 'टाबृचि' (४।१।९) से 'टाप्' की अनुवृत्ति आ रही है । 'स्त्रियाम्' तथा 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार है । इस प्रकार षट्संज्ञक तथा

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥'

स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता पितृवत् । शसि–मातॄः । द्यौर्गोवत् । राः–पुंवत् । नौग्लौवत् ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गाः

(२५५) अतोऽम् ७।१।२४ । अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम् । ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वाद्' इति सम्बुद्धिलोपः । हे ज्ञान ! **(२५६) नपुंसकाच्च ७।१।१९ ।** क्लीबा-

---

(२५४) **न षट्स्वस्रादिभ्य इति ।** 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतो ङीबिति, 'टाबृचि' इत्यतः 'टाबि'ति चानुवर्तते । 'षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः' इति सूत्रार्थः ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

---

(२५५) 'ज्ञान + सु' इत्यत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि प्राप्तेऽपवादशास्त्रमाह—**अतोऽमिति ।** 'अतः' इत्यत्र पञ्चमी । अङ्गस्येत्यधिकृतं पञ्चम्या विपरिणम्यते ।

स्वसृ आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् तथा टाप् प्रत्यय नहीं होते । (स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ, मातृ—ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं ।)

उदाहरण—(१) स्वसृ+सु (ङीप् प्राप्त, उसका 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' से निषेध होने पर 'ऋदुशनस्०' से ऋ=अनङ्) स्वस्+अन्+स्, ('अप्तृन्०' से दीर्घ) स्वसान्+स् (स् का लोप, न् का लोप)=स्वसा (बहिन) । (२) स्वसृ+औ (गुण, रपर, दीर्घ)=स्वसारौ । (३) स्वसृ+जस् (अस्)—(गुण, रपर, दीर्घ) स्वसारस् (स् को रुत्व-विसर्ग)=स्वसारः । मातृ+सु (ङीप् का निषेध, अनङ्)—मातन् स् , (दीर्घ) मातान् स् (स् का लोप, न् का लोप)=माता । शस् के अतिरिक्त अन्य रूप 'पितृ' शब्द के समान बनेंगे । मातृ+शस् (अस्), (ऋ+अ='ऋ'—पूर्वसवर्ण दीर्घ) मातॄ स् (स् को रुत्व-विसर्ग)=मातॄः । 'द्यो'=(स्वर्ग) शब्द के रूप 'गो' शब्द के समान होते हैं । 'रै' शब्द के रूप भी पुंल्लिङ्ग के समान बनते हैं । नौ (नाव) शब्द के रूप भी 'ग्लौ' शब्द के समान बनेंगे ।

अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

प्रस्तुत प्रकरण के आरम्भ में वर्णक्रमानुसार सर्वप्रथम अकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञान' शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया का ज्ञान कराया जा रहा है ।

(२५५) पद—अतः, अम् । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, स्वमोः, नपुंसकात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अदन्त नपुंसक अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश होता है । ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वात्०' से सम्बुद्धि का लोप—हे ज्ञान !

विमर्श—यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) सूत्र की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का

दौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्। (२५७) यस्येति च ६।४।१४८। ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यकारलोपे प्राप्ते। * औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः *

अत इत्यनेन विशेष्यत्वात्तदन्तविधिः। 'स्वमोर्नपुंसकादि'त्यनुवर्तते। तदाह—**अतोऽङ्गा-दित्यादि। ज्ञानमिति।** सोरमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे ज्ञानमिति।

(२५६) **नपुंसकाच्चेति।** अत्र 'जसः शी' इत्यतः 'शी' इति, 'औङ आपः' इत्यतः 'औङः' इति चानुवर्तते। तदाह—**क्लीबादित्यादि। भसंज्ञायामिति।** 'सुड-नपुंसकस्ये'ति नपुंसकवर्जमेव सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञात्वात् 'यचि भम्' इति भसंज्ञाया-मित्यर्थः।

(२५७) **यस्येति चेति।** 'यस्य ईति' इतिच्छेदः। भस्येत्यधिक्रियते। चकारेण 'नस्तद्धिते' इत्यतस्तद्धिते इत्यनुवर्तते। तदाह—**भस्येत्यादिना। ज्ञाने इति।** 'ज्ञान +औ' इति स्थिते 'नपुंसकाच्च' इत्यनेनौकारस्य स्थाने 'शी' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'ज्ञान+ई' इति जाते भसंज्ञायां 'यस्येति च' इत्यकारलोपे प्राप्ते 'औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन निषेधे, गुणे च कृते 'ज्ञाने' इति।

अधिकार है। 'अतः' के अनुसार 'अङ्गस्य' भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। तदनुसार ह्रस्व अकारान्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सु और अम् प्रत्यय के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) ज्ञान+सु, (सु=अम्)—ज्ञान+अम् (अ+अ='अ'—'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप)=ज्ञानम्। (२) हे ज्ञान+सु ('एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से सम्बुद्धिसंज्ञक 'सु' का लोप)=हे ज्ञान[1]।

(२५६) पद—नपुंसकात् च। **अनुवृत्ति**—औङः, शी। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नपुंसक अंग से परे 'औङ्' को 'शी' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'औङ आपः' से स्थानिवाचक 'औङः' तथा 'जसः शी' से आदेश-वाचक 'शी' पद की अनुवृत्ति आती है। अङ्गस्य का अधिकार होने से क्लीब अङ्ग से परे औङ् (प्रथमा व द्वितीया का द्विवचन) के स्थान पर 'शी' आदेश होगा।

उदाहरण—ज्ञान+औ (औ=शी-ई)—'ज्ञान+ई'—यहाँ 'यचि भम्' से अङ्ग ज्ञान की भसंज्ञा होती है। उस (भसंज्ञा) का फल अग्रिम सूत्र द्वारा बतलाया जा रहा है।

(२५७) पद—यस्य, ईति, च। **अनुवृत्ति**—भस्य, लोपः, तद्धिते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ईकार और तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसंज्ञक इवर्ण और अवर्ण का लोप होता है। इस प्रकार अकार का लोप प्राप्त होने पर—(वा०—औङ् स्थानिक 'शी' के परे रहते लोप नहीं होता।) ज्ञाने।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता हेतु 'भस्य' (६।४।१२९) सूत्र, 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) तथा 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति आ रही है।

उदाहरण—'ज्ञान+ई' (ईकार परे होने से भसंज्ञक 'अ' का लोप प्राप्त है—उसका वार्तिक

---

१. 'एङ्ह्रस्वादिति हल्मात्रलोपः—हे ज्ञान।'—सिद्धान्तकौमुदी सू०—३०९ (तदनुसार हे ज्ञान+सु (सु=अम्)—ज्ञान+अम् (पूर्वरूप)—हे ज्ञानम् ('म्' का लोप—'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः')=हे ज्ञान!)।

ज्ञाने। **(२५८) जश्शसोः शिः ७।१।२०।** क्लीबात्परयोर्जश्शसोः शिः स्यात्। **(२५९) शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२।** 'शि' इत्येतत्सर्वनामसंज्ञं स्यात्। **(२६०) नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२।** झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने। **(२६१) मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४७।** अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं

---

(२६०) **नपुंसकस्येति**। अत्र झल् च अच्चेति समाहारद्वन्द्वः। अङ्गस्येत्यधिकृतं विशेष्यते। तदन्तविधिः। 'इदितो नुम्धातोः' इत्यतो नुमिति, 'उगिदचां सर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इति चानुवर्तते। तदाह—**झलन्तस्येत्यादिना**।

(२६१) **ज्ञानानीति**। 'ज्ञान + जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इत्यनेन जसः श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति शास्त्रबलेन

(औ के स्थान में होने वाला 'शी' यदि परे हो तो भसंज्ञक इवर्ण, अवर्ण का लोप नहीं होता) से निषेध), (अ+ई='ए' गुण)=ज्ञाने।

(२५८) पद—जश्शसोः, शिः। **अनुवृत्ति**—नपुंसकात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्लीबन्त (नपुंसक) अङ्ग से परे जस् और शस् के स्थान पर 'शि' आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ 'नपुंसकाच्च' (२५६) से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति आ रही है। अतः जस्-शस् के स्थान पर 'शि' आदेश केवल नपुंसकलिङ्ग में ही होता है।

उदाहरण—ज्ञान+जस् (जस्='शि'–इ) 'ज्ञान+इ' (शेष प्रक्रिया—आगे बतलायी जा रही हैं—)

(२५९) पद—शि, सर्वनामस्थानम्। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। इस प्रकार ज्ञान+'शि' इस स्थिति में 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई।

(२६०) पद—नपुंसकस्य, झलचः। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नुम्, सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान के परे रहते झलन्त और अजन्त क्लीब अङ्ग को नुम् का आगम होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' तथा 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से 'सर्वनामस्थाने' पद की अनुवृत्ति आती है। अङ्गस्य का अधिकार होने से उसके विशेषणवाची पदों में तदन्तविधि होती है। तदनुसार—'सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परे होने पर झलन्त एवं अजन्तनपुंसकलिङ्ग—अङ्ग को नुम् (न्) का आगम होता है।

(२६१) पद—मित्, अचः, अन्त्यात्, परः। **परिभाषासूत्र**।

मूलार्थ—मित् ('म्' इत्संज्ञक) आगम, अचों मध्य में अन्त्य 'अच्' से परे और उसी का अन्तावयव होता है। उपधादीर्घ। ज्ञानानि।

विमर्श—यहाँ 'अचः' पद में निर्धारण अर्थ में षष्ठी विभक्ति है। एकवचन का प्रयोग अच्त्व जाति का सूचक है। इस प्रकार 'अच्' समुदाय के अन्तिम अच् से परे मकारेत्संज्ञक आगम होता है और वह आगम उसी का अन्तिम अवयव होगा।

धन-वन-फलादयः । (२६२) अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५ । एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड्डादेशः स्यात् । (२६३) टेः ६।४।१४३ । डिति परे भस्य टेर्लोपः । कतरत्– कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । अन्यतमशब्दस्य तु अन्यतममित्येव । *एकतरात् प्रतिषेधो वाच्यः* एकतरम् ।

'नपुंसकस्य झलचः' इत्यनेन ज्ञानशब्दान्त्यस्याचः परत्र नुमि, अनुबन्धलोपे 'सर्वनाम-स्थाने–' इति दीर्घे 'ज्ञानानि' इति सिद्धम् ।

(२६२) **अद्ड्डतरादिभ्य इति ।** डतर-डतम-अन्य-अन्यतर-इतररूपाः डतरादयः सर्वाद्यन्तर्गताः । 'स्वमोर्नपुंसकादि'त्यनुवर्तते । तदाह—**'एभ्यः' इति ।** डित्करणं टिलोपार्थम् ।

(२६३) **टेरिति ।** अत्र 'तिर्विंशतेर्डिति' इत्यतः 'डिति' इति, 'अल्लोपोऽनः' इत्यतो लोप इति चानुवर्तते । भस्येति चाधिकृतम् । तदाह—**डिति परे इत्यादिना । कतरदिति ।** 'कतर+सु' इत्यत्र 'अद्डुतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति सुस्थाने अद्डादेशे डस्येत्संज्ञायां लोपे च 'कतर+अद्' इति जाते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'टेः' इति टिसंज्ञकस्य रेफोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे 'कतरद्' इति, 'वाऽवसाने' इत्यनेन विकल्पेन चर्त्वे 'कतरत्' इति । पक्षे 'कतरद्' इति च रूपम् ।

उदाहरण—ज्ञान+इ ('नपुंसकस्य झलचः' से यहाँ सर्वनामस्थान (इ) के परे रहते अजन्त अंग को नुम् का आगम, तथा 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा द्वारा वह 'ज्ञान' समुदाय का अन्तिम अवयव हुआ)—ज्ञान+न्+इ, (नान्त उपधा को दीर्घ—'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ') =ज्ञानानि । द्वितीया विभक्ति के रूप भी इसी तरह बनेंगे । तृतीया से सप्तमी विभक्ति तक के रूप 'राम' शब्द की तरह बनेंगे । इसी प्रकार धन, वन, फल आदि शब्दों के रूप भी 'ज्ञान' शब्द के समान होंगे ।

(२६२) पद—अद्ड्, डतरादिभ्यः, पञ्चभ्यः । **अनुवृत्ति**—स्वमोः, नपुंसकात् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—नपुंसकलिङ्ग में डतरादि पाँच से परे सु और अम् को 'अद्ड्' आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार 'डतरादि पाँच नपुंसकलिङ्ग शब्दों से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' (अद्) आदेश होता है । डतरादि में 'डतर, डतम प्रत्ययान्त तथा अन्य, अन्यतर एवं इतर शब्दों का ग्रहण होता है ।'

(२६३) पद—टेः । **अनुवृत्ति**—भस्य, लोपः, डिति । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—डित् प्रत्यय के परे रहने पर 'भ' संज्ञक टि का लोप होता है । कतरत्–कतरद् ।

विमर्श—यहाँ सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए सम्पूर्ण 'भस्य' (६।४।१२९), 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'लोपः' तथा 'तिर्विंशतेर्डिति' से 'डिति' पदों की अनुवृत्ति की जाती है । तदनुसार—'ड्' इत्संज्ञक प्रत्यय के परवर्ती होने पर भसंज्ञक अङ्ग की टि (अन्तिम अच् सहित वर्णसमुदाय) का लोप होता है ।

उदाहरण—(१) कतर+सु, (सु=अद्ड् (अद्) कतर+अद् (टि='अ' का लोप ,—कतरद्, ('द्'='त्' विकल्प से—'वाऽवसाने')=कतरत् । पक्ष में—कतरद् । (२) कतर+औ,

(२६४) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७। अजन्तस्येत्येव। श्रीपं ज्ञानवत्।
(२६५) स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३। क्लीबादङ्गात् स्वमोर्लुक् स्यात्। वारि।

---

(२६४) अथ आदन्ता निरूप्यन्ते। श्रियं पातीति श्रीपा शब्दो विश्वपावद् विजन्तः। **ह्रस्वो नपुंसके इति।** ह्रस्वपदश्रुत्या उपस्थितया अचश्चेति परिभाषया प्रातिपदिकस्य विशेषणात् तदन्तविधिः। नपुंसके विद्यमानस्याजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्व इत्यर्थः। **श्रीपमिति।** 'श्रीपा + सु' इत्यत्र 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये'ति ह्रस्वत्वे 'अतोऽम्' इति सोरमि पूर्वरूपे 'श्रीपमि'ति।

(२६५) **स्वमोर्नपुंसकादिति।** अत्र 'षड्भ्यो लुक्' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक् स्यादित्यर्थः।

(औङ्=शी) कतर+ई, (अ+ई='ए'-गुण)=कतरे। (३) कतर+जस् (जस्=शि)—कतर+इ, (नुम् का आगम) कतर+न्+इ (उपधादीर्घ, न्=ण्)=कतराणि। (४) हे कतर+सु' (सु=अद्)—कतर+अद्, (टि (अ) का लोप) हे कतरद् (द्=त् 'चर्त्व')=हे कतरत्! अवशिष्ट रूप पुंलिङ्ग की तरह बनेंगे। कतर (=दो में से कौन-सा एक), कतम (किम्+डतमच्) (=बहुतों में कौन-सा एक)। प्रथमा एकवचन में कतम+सु, (सु=अद्) कतर+अद् (टि (अ) का लोप)-कतरद् (द्=त् 'चर्त्व')=कतरत्। इसी प्रकार इतर (=दूसरा) से इतरत्, अन्य (=दूसरा) से अन्यत्, अन्यतर (=दो में से एक) से अन्यतरत् रूप प्रथमा एकवचन में बनते हैं।

'अन्यतम' शब्द डतम-प्रत्ययान्त न होने से 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' आदेश नहीं होगा। अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होने से—अन्यतम+सु (सु=अम्—पूर्वरूप)=अन्यतमम्।

(वा०) डतर-प्रत्ययान्त शब्दों में एकतर (कोई एक) शब्द से परे 'सु' और 'अम्' को 'अद्ड्' आदेश नहीं होता। **उदाहरण**—एकतर+सु (प्राप्त 'अद्ड्' आदेश का वार्तिक से निषेध, सु=अम्) एकतर+अम् (पूर्वरूप)=एकतरम्।

(२६४) पद—ह्रस्वः, नपुंसके, प्रातिपदिकस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान अजन्त प्रातिपदिक को 'ह्रस्व' होता है। श्रीपम्। ज्ञानवत्।

विमर्श—यहाँ 'अचश्च' परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है। प्रातिपदिक का विशेषण होने से 'अचः' में तदन्तविधि होती है, तदनुसार—अजन्त प्रातिपदिक को नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्व होगा।

उदाहरण—श्रीपा+सु, (आ='अ' ह्रस्व) श्रीप+सु, (सु=अम्) श्रीप+अम् (पूर्वरूप)=श्रीपम् (=सम्पत्ति वाला कुल)। शेष रूप ज्ञान शब्द की तरह बनेंगे।

(२६५) पद—स्वमोः, नपुंसकात्। **अनुवृत्ति**—लुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—क्लीब अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' का लुक् होता है। वारि।

विमर्श—यहाँ 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) से आदेशवाचक पद लुक् की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'नपुंसकात् के अनुसार 'अङ्गस्य' भी पञ्चम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे सु तथा अम् प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

उदाहरण—वारि+सु ('सु' का लुक्-लोप)=वारि।

(२६६) इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३ । इगन्तस्य क्लीबस्य नुमचि विभक्तौ। वारिणी । वारीणि । 'न लुमते'त्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे- हे वारि । 'घेर्ङिती'ति गुणे प्राप्ते । * वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन * वारिणे । वारिणः-२ । वारिणोः-२ । नुमचिरेति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् । **(२६७) तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४ ।**

---

(२६६) **इकोऽचीति ।** 'इदितो नुम् धातोः' इत्यतो नुमिति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नपुंसकस्येति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । इका विशेष्यते । तेन तदन्त- विधिस्तदाह—**इगन्तस्येति । वारिणी इति ।** 'वारि+औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्चे'ति औकारस्य 'शी' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'वारि + ई' इति जाते 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे णत्वे कृते 'वारिणी' इति रूपम् ।

---

(२६६) पद—इकः, अचि, विभक्तौ । **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, नपुंसकस्य, नुम् । **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अजादि विभक्ति के परे रहने पर इगन्त अङ्ग को नुम् का आगम होता है । वारिणी। वारीणि । 'न लुमता०' सूत्र से विहित निषेध अनित्य होने के कारण पक्ष में सम्बुद्धिनिमित्तक गुण हुआ । हे वारि, हे वारे । 'घेर्ङिति' सूत्र से गुण की प्राप्ति होने पर (वा०) 'वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव तथा गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुम् का आगम ही होता है ।' वारिणे । वारिणः । वारिणोः । 'नुमचिर०' के द्वारा नुट्—वारीणाम् । वारिणि । हलादि विभक्ति में 'हरि' शब्द के समान रूप बनते हैं ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' तथा 'नपुं- सकस्य झलचः' (७।१।७२) से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति आ रही है । अङ्गस्य का अधिकार है। तदनुसार—अजादि विभक्ति के परवर्ती रहने पर इगन्त (इ, उ, ऋ, लृ) नपुंसक अङ्ग को नुम् (न्) का आगम होगा । 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा के द्वारा यह नुम् अन्तिम् अच् का परवर्ती होकर अङ्ग का अवयव होगा ।

उदाहरण—(१) वारि+औ, (औ=शी) वारि+ई, (नुम् (न्) का आगम—'इकोऽचि विभक्तौ') वारिनी (न्=ण्)=वारिणी । (२) वारि+जस्, (जस्=शि)—वारि+इ, (नुम् का आगम) वारि+नि (उपधादीर्घ, णत्व)=वारीणि । (३) सम्बोधन एकवचन—हे वारि+सु ('सु' का लोप—'स्वमोर्नपुंसकात्')—हे वारि । यहाँ पक्ष में 'न लुमताङ्गस्य' से निषेध अनित्य होने के कारण प्रत्ययलक्षण होने से 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण होने पर 'हे वारे !' रूप बनता है । (४) वारि+ङे (ए), (घि संज्ञा होने से 'घेर्ङिति' से गुण प्राप्त है, उसका वार्तिक से निषेध होकर नुम् होता है । (वा०) 'वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण की अपेक्षा पूर्वशास्त्र की प्रबलता से नुम् का आगम होता है ।'—वारि+न्+ए (णत्व)—वारिणे । (५) वारि+अस् (ङसि तथा ङस्), (नुम्) वारिनस् (णत्व, रुत्व-विसर्ग)=वारिणः । (६) वारि+ओस् (नुम्)—वारि+न्+ओस् (न्=ण्, रुत्व-विसर्ग)=वारिणोः । (७) वारि+आम् (नुमचिर० वार्तिक के अनुसार नुट् (न्) का आगम)—वारि+न्+आम्, (दीर्घ—'नामि') वारीनाम् (न्=ण्)=वारीणाम् । (८) वारि+इ (ङि), (नुम्) वारिनि (न्=ण्)=वारिणि । हलादि विभक्तियों में हरिशब्द के समान रूप बनते हैं ।

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद् वा टादावचि । अनादये—अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् ।

'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते ।
क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥
पीलुर्वृक्षः, फलं पीलु, पीलुने, न तु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥'

पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु । तस्मै—पीलुने । अत्र न पुंवत् । प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् ।

---

(२६७) **तृतीयादिष्विति** । भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तद् भाषित-पुंस्कम्, शब्दस्वरूपं विशेष्यम् । अर्थात् नपुंसके लिङ्गान्तरे च यस्यैकमेव वाच्य-तावच्छेदकं तच्छब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कमिति यावत् । 'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यतः 'इकोऽची'ति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नपुंसकस्येति चानुवर्तते । षष्ठी चात्र प्रथमया विपरिणम्यते । तदाह—**प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये इत्यादि । अनादये इति** । अत्रादिरहितत्व-प्रवृत्तिनिमित्तमादाय पुंसि नपुंसके च अनादिशब्दो वर्तते, अतः 'अनादि + ङे (ए)' इत्यत्र विकल्पेन पुंवद्भावे 'घेर्ङिति' इति गुणेऽयादेशे 'अनादये' इति हरिवद्रूपम् । पुंवद्भावस्याभावे नपुंसकत्वान्नुमि 'अनादिने' इति ।

---

(२६७) पद—तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं, पुंवद्गालवस्य । **अनुवृत्ति**—इकः, अचि, नपुं-सकस्य । **अतिदेशसूत्र ।**

मूलार्थ—प्रवृत्ति-निमित्त एक होने पर भाषितपुंस्क इगन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द को टकारादि अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से पुंवद्भाव होता है ।

विमर्श—यह अतिदेश सूत्र की स्पष्टता के लिए—'इकोऽचि विभक्तौ' (२६६) सूत्र से 'इकः' एवम् 'अचि' तथा 'नपुंसकस्य झलचः' (२६०) से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति आ रही है । 'इकः' तथा 'नपुंसकस्य' पद प्रथमा विभक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं । तदनुसार तृतीयादि (टा आदि) अजादि विभक्ति के परवर्ती रहने पर इगन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द जो पुँल्लिङ्ग में भी समान अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो (भाषितपुंस्कम्) उसको गालवाचार्य के मत से पुंवद्भाव (पुंल्लिङ्ग शब्द के समान कार्य) होता है । अन्य आचार्यों के मत में पुंवद्भाव नहीं होता ।

उदाहरण—अनादि + ङे (ए), (प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव होने पर गुण) अनादे + ए, (ए =अय्)—अनादये । पुंवद्भाव के अभाव पक्ष में 'नुम्' का आगम—अनादिने । शेष रूप 'वारि' शब्द की तरह बनेंगे ।

'भाषितपुंस्क' शब्द की व्याख्या दो प्राचीन कारिकाओं द्वारा स्पष्ट की गई है—'यन्निमित्त-मुपादाये'त्यादि ।

जिस निमित्त (धर्म) को लेकर शब्द पुंलिङ्ग में प्रवृत्त होता है । नपुंसकलिङ्ग में भी यदि वही निमित्त रहे तो वह शब्द 'भाषितपुंस्क' कहलाता है । अनादि शब्द में इस प्रकार की समानता होने से वह भाषितपुंस्क है । परन्तु 'पीलु' शब्द पुंलिङ्ग में वृक्ष-विशेष निमित्त रखता है तथा नपुंसकलिङ्ग में तज्जन्य फल का बोध कराता है । 'पीलु' शब्द 'भाषितपुंस्क' नहीं है । इसलिए चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में 'पीलुने' रूप बनता है, 'पीलवे' नहीं ।

(२६८) अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५ । टादावचि । (२६९) अल्लोपोऽनः ६।४।१३४ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः-२ । दध्नोः-२ । (२७०) विभाषा

---

(२६८) **अस्थिदधीति ।** सूत्रेऽस्मिन् 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कमि'त्यतः 'तृतीयादिषु' इति, 'इकोऽची'त्यतः 'अचि' इति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतः 'नपुंसकस्ये'ति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । नपुंसकस्येति अस्थ्यादीनां विशेषणम् । निष्कर्षमाह— **टादावचीति ।**

(२६९) **अल्लोपोऽन इति ।** अदिति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम् । 'अनः' इत्यवयवषष्ठ्यन्तम् । तच्चातो विशेषणम्—अनोऽवयवो योऽकारः तस्य लोप इति । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । तदप्यवयवषष्ठीकमतो विशेषणम्—**अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान इति ।** भस्येत्यधिकाराल्लभ्यते, तच्चानः इत्यत्रान्वेति, तेन यजादिस्वादिप्रत्यया आक्षिप्यन्ते । तदाह—**अङ्गावयव इत्यादिना । दध्ना इति ।** दधिशब्दात् टाविभक्तौ 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि प्राप्ते, तं प्रबाध्य 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यनेन इकारस्य स्थाने अनङादेशेऽनुबन्धलोपे 'दधन् आ' इति जाते 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे 'दध्ना' इति रूपम् ।

---

(२६८) पद—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् , अनङ् , उदात्तः । **अनुवृत्ति**—तृतीयादिषु, अचि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—टादि अजादि विभक्ति के परे होने पर अस्थि आदि शब्दों को अनङ् आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्०' (२६७) से 'तृतीयादिषु' तथा 'इकोऽचि विभक्तौ' (२६६) से 'अचि' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—अजादि तृतीयादि विभक्तियों के पश्चाद्वर्ती होने पर अस्थि (=हड्डी), दधि (=दही), सक्थि (=जंघा) तथा अक्षि (=आँख) को अनङ् आदेश होता है। वह आदेश उदात्त होता है। यह आदेश ङित् होने से अङ्ग के अन्त्य वर्ण 'इ' के स्थान में होगा।

(२६९) पद—अत्, लोपः, अनः । **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अङ्ग का अवयव, सर्वनामस्थान से भिन्न यजादि-स्वादि प्रत्ययपरक जो 'अन्' उसके अकार का लोप होता है । दध्ना । दध्ने । दध्नः-२ । दध्नोः-२ ।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है। प्रकृत सूत्र द्वारा ह्रस्व अकार का लोप विधान किया गया है। 'भस्याङ्गस्य' के अधिकार से अकार भी सर्वनामस्थानभिन्न यजादि-स्वादि प्रत्ययपरक 'अन्' सम्बन्धी अपेक्षित है। यहाँ 'यजादि' में 'य्+अजादि' विच्छेद है। अर्थात् यादि और अजादि ।

उदाहरण—(१) दधि+टा (आ), (इ=अन्)—दधन्+आ, ('अ' का लोप—'अल्लोपोऽनः')=दध्ना । (२) दधि+ङे (ए), (इ=अन्) दधन्+ए ('अ' का लोप)=दध्ने । (३) दधि+अस् (ङसि, ङस्), (अनङ् आदेश) दधन्+अस् , ('अ' लोप)—दध्नस् (स्=

ङिश्योः ६।४।१३६ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा, ङिश्योः । दध्नि–दधनि । शेषं वारिवत् । एवमस्थिसक्थ्यक्षि । सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे–हे सुधि । सुधिया–सुधिना । सुधिये–सुधिने इत्यादि । मधु । मधुनी । मधूनि । मधुना । हे मधो–हे मधु ! एवमम्ब्वादयः । सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुल्वा–सुलुना । इत्यादि । धातृ । धातृणी । धातॄणि । हे धातः–हे धातृ । धात्रा । धातृणा । धातॄणाम् । एवं ज्ञातृकर्त्रादयः । (२७१) एच

---

(२७०) **विभाषेति ।** ङिश्च, शीश्चेति विग्रहे इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अत्र 'अल्लोपोऽनः' इत्यनुवर्तते । भस्याङ्गस्येति चाधिकाराल्लभ्यते । भस्येत्यनेन च असर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरत्वमाक्षिप्यते । तदाह—**अङ्गावयव इति । दध्नीति ।** 'दधि + ङि' इत्यत्र इकारस्य स्थाने अनङादेशे 'दधन् + इ' इति जाते 'विभाषा ङिश्योः' इति विकल्पेन अकारस्य लोपे 'दध्नि' इति । अकारलोपाभावे तु 'दधनि' इति च रूपम् ।

रुत्व-विसर्ग)=दध्नः । (४) दधि+ओस्, (इ=अन्) दधन्+ओस्, (अकार लोप) दध्नोस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=दध्नोः ।

(२७०) पद—विभाषा, ङिश्योः । **अनुवृत्ति**—अल्लोपः, अनः, भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अङ्ग के अवयव, सर्वनामस्थान से भिन्न, यजादि-स्वादि प्रत्ययपरक अन् के अकार का लोप 'ङि' और 'शि' के परे रहते विकल्प से होता है ।

विमर्श—'भस्य' तथा 'अङ्गस्य' का अधिकार है । पूर्वसूत्र 'अल्लोपोऽनः' की अनुवृत्ति आती है । 'ङि' तथा 'शि' विभक्तियों के परे रहते अकारलोप का विकल्प किया जा रहा है ।

उदाहरण—दधि+ङि, (इ=अन्)—दधन्+इ ('विभाषा ङिश्योः' से विकल्प से 'अ' का लोप)=दध्नि । लोप न होने पर—दधनि । शेष रूपों की सिद्धि 'वारि' शब्द के समान होगी ।

इकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'दधि' शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि	पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि	ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः	स०	दध्नि, दधनि	दध्नोः	दधिषु
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः	सं०	हे दधे !, हे दधि	हे दधिनी	हे दधीनि

इसी प्रकार अस्थि, सक्थि और अक्षि शब्दों के रूप जाने जायें । सुधि (शोभना धीर्यस्येति तत्कुलम्=सुबुद्धि युक्त कुल) शब्द के भी प्रथमा व द्वितीया विभक्ति में सुधि, सुधिनी, सुधीनि रूप बनते हैं । सम्बोधन एकवचन 'सु' में भी वारि शब्द की तरह 'हे सुधे !, हे सुधि' दो रूप होते हैं । सुधी+टा, ('यहाँ पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में शोभनध्यानकर्तृत्व रूप प्रवृत्ति-निमित्त समान होने के कारण 'तृतीयादिषु०' से विकल्प से पुंवद्भाव होकर 'इयङ्' आदेश)—सुधिया । पुंवद्भाव के अभाव में नुम् होकर—सुधिना । इसी प्रकार 'ङे' विभक्ति में—सुधिये-सुधिने' रूप बनेंगे ।

एग्घ्रस्वादेशे १।१।४८। आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युना इत्यादि। प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। प्ररिणा। 'एकदेश-विकृतमनन्यवत्'। प्रराभ्याम्। प्ररीणाम्। सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना—इत्यादि।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः॥

---

(२७१) **एच इति।** आदिश्यते इत्यादेशः कर्मणि घञ्। 'आदेशे' इति निर्धारणे सप्तमी। सौत्रमेकवचनमिति। तदाह—**'आदिश्यमानेष्वि'ति। प्रद्यु इति।** प्रकृष्टा द्यौर्यस्येति विग्रहः। प्रद्योशब्दात् सौ 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये'ति ह्रस्वे 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति एज्रूपस्यौकारस्य उकारे कृते 'प्रद्यु + सु' इति जाते, 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लोपे 'प्रद्यु' इति।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

उकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों में—(१) मधु+सु (सु का लोप)=मधु। (२) मधु+औ (औ=शी (ई) और नुम्)=मधुनी। (३) मधु+जस् (जस्=शि (इ), नुम्, उपधा-दीर्घ)=मधूनि। सम्बोधन के एकवचन 'सु' में 'हे मधो!' तथा 'हे मधु!' वारि शब्द की तरह दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार अम्बु (जल) आदि शब्दों के रूप होते हैं। (१) ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग धातृ (=धारण करनेवाला) शब्द से प्रथमा एकवचन सु—धातृ+सु (सु का लोप) =धातृ। (२) धातृ+औ (औ=शी, नुम्, णत्व)=धातृणी। (३) धातृ+जस् (जस्=शि, नुम्, उपधादीर्घ, णत्व)=धातॄणि। (४) हे धातृ+सु ('न लुमता०' से निषेध के अनित्य होने से पक्ष में गुण, रपर र्=:, 'स्' का लोप)=हे धातः। गुण के अभाव में—(सम्बुद्धि लोप) हे धातृ! (५) धातृ+टा (आ)—('तृतीयादिषु' से विकल्प से पुंवद्भाव, यण्)=धात्रा। पुंवद्भाव न होने पर (नुम् तथा णत्व)=धातृणा। (६) धातृ+आम् (नुट्, 'नामि' से दीर्घ, णत्व)=धातॄणाम्।

इसी तरह ज्ञातृ (जानने वाला), कर्तृ (करने वाला) आदि शब्दों के रूप भी बनेंगे।

(२७१) पद—एचः, इक्, ह्रस्वादेशे। **नियमसूत्र।**

सूलार्थ—आदिश्यमान ह्रस्व होने पर एच् के स्थान में इक् ही ह्रस्व होता है। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि इत्यादि।

विमर्श—यह नियमसूत्र है। ह्रस्व का विधान होने पर एच्=ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर इक्=इ, उ, ऋ, लृ ही ह्रस्व होता है।

उदाहरण—(१) प्रद्यो+सु, ('ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व 'एच इग्घ्रस्वादेशे' नियम से ओ=उ) प्रद्यु+सु ('सु' का लोप—'स्वमोर्नपुंसकात्')=प्रद्यु। (२) प्रद्यो+औ, (ह्रस्व ओ=उ, औ=शी) प्रद्यु+ई, (नुम्)=प्रद्युनी। (३) प्रद्यो+जस् (जश्=शि, ह्रस्व), प्रद्यु+इ (नुम्, उपधादीर्घ)=प्रद्यूनि। प्रद्यो+टा (ओ=उ ह्रस्व) प्रद्यु+आ (नुम्)=प्रद्युना।

अथ हलन्तपुंल्लिङ्गाः

(२७२) हो ढः ८।२।३१ । हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च । 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपः । पदान्तत्वाद्धस्य ढः । जश्त्वचर्त्वे । लिट्-लिड् । लिहौ-२ । लिहः । लिड्-

---

(२७२) हो ढ इति । ह इति पदं षष्ठ्यन्तम् । अत्र पदस्येत्यधिक्रियते । 'झलो झलि' इत्यतः 'झली'ति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतोऽन्ते इत्यनुवर्तते । तदाह— **हस्येति ।** झलि परतः पूर्वस्य हकारस्य, पदान्ते विद्यमानस्य हकारस्य च ढत्वमिति भावः । **लिडिति ।** 'लिह् आस्वादने' इत्यतः कर्तरि क्विप् । प्रत्ययलक्षणेन कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे सौ, तस्य लोपे प्रत्ययलक्षणेन पदत्वम् 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झलां जश् झशि' इति ढस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'लिट्' इति । पक्षे 'लिडि'ति ।

ऐकारान्त 'प्ररै' शब्द में ह्रस्व होने पर—(१) प्ररि+सु (सु का लुक्)=प्ररि (अधिक धनवान्)। (२) औ—प्ररिणी । (३) जस्—प्ररीणि । (४) टा—प्ररिणा । (५) प्ररि+भ्याम् (एकदेशविकृतन्याय से ऐ को इ में परिवर्तित हो जाने पर भी 'रायो हलि' से रै=आत्व)=प्राराभ्याम् । (६) प्ररि+आम् ('नुमचिर०' वार्तिक के आश्रयण से 'नुट्' का आगम, दीर्घ तथा णत्व होकर)=प्ररीणाम् ।

औकारान्त 'सुनौ' शब्द (शोभना नौर्यस्य—सुन्दर नौका वाला) के रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) सुनौ+सु (औ=उ ह्रस्व—सुनु+सु, (सु का लुक्)=सुनु । (२) औ—सुनुनी । (३) जस्—सुनूनि । (४) टा—सुनुना इत्यादि । अवशिष्ट रूप 'मधु' शब्द के समान बनते हैं ।

अजन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

वर्णसमाम्नाय के अनुसार व्यञ्जनवर्णों में सर्वप्रथम 'ह्' का पाठ होने से यहाँ हकारान्त पुंल्लिङ्ग लिह् (=चाटने वाला) शब्द के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—

(२७२) पद—हः, ढः । **अनुवृत्ति—**पदस्य, झलि, अन्ते । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झल् परे रहते और पदान्त में हकार के स्थान में ढकार (ढ्) आदेश होता है । 'हल्ङ्याप्०' से सु का लोप । पदान्त होने से ह्=ढ् । जश्त्व, चर्त्व होने पर—लिट्-लिड् । लिहौ । लिहः । लिड्भ्याम् । लिट्त्सु-लिट्सु ।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए—'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' (८।१।१६) का अधिकार है । तदनुसार—झल् प्रत्याहारस्थ वर्णों के परे रहने पर 'ह्' के स्थान में 'ढ्' आदेश होता है तथा पदान्त में स्थित 'ह्' के स्थान में 'ढ्' होता है ।

उदाहरण—(१) लिह्+सु (स्), ('हल्ङ्याप्०' से विभक्ति लोप) लिह्, (पदान्त में ह्=ढ्)—लिढ्, (ढ्=ड्—'झलां जशोऽन्ते') लिड्, (ड्=ट् विकल्प से—'वाऽवसाने')=लिट् । पक्ष में—लिड् । (२) लिह्+औ=लिहौ । (३) लिह्+जस् (अस्)—लिहस् (स्=र्, र्=ः)=लिहः । (४) लिह्+भ्याम् (ह्=ढ्=ड्)=लिड्भ्याम् । (५) लिह्+सुप्

भ्याम् । लिट्त्सु, लिट्सु । (२७३) दादेर्धातोर्घः ८।२।३२ । झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः । (२७४) एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७ । धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष्, से ध्वे पदान्ते च । इह व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः । जश्त्वचर्त्वे । धुक्-धुग् । दुहौ । दुहः । दुहा । धुग्भ्याम् ।

---

(२७३) **दादेर्धातोरिति** । अत्र 'हो ढः' इत्यतो ह इति, 'झलो झलि' इत्यतो 'झली'ति, 'स्कोः संयोगाद्योः०' इत्यतोऽन्ते इति चानुवर्तते । पदस्येत्यधिकृतम् । दादिपदं चौपदेशिकदादिपरमित्याह—**झलीत्यादिना** ।

(२७४) **एकाचो बशो** । स् च ध्व् चेति विग्रहे द्वन्द्वः । बश इति स्थानषष्ठी । 'दादेर्धातोः०' इत्यतो धातोरित्यनुवृत्तमवयवावयविभावसम्बन्धेन एकाचि सम्बध्यते । झषन्तस्येत्यभेदेनैकाचो विशेषणम् । पदस्येत्यधिकृतम् । 'स्कोः' इत्यतः अन्ते चेत्यनुवर्तते । तदाह—**धातोरवयव इत्यादिना** । **व्यपदेशिवद्भावेनेति** । विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशः=मुख्यव्यवहारः, सोऽस्याऽस्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं व्यपदेशिवत् । धातावेव धात्ववयवत्वव्यवहारो गौणः, 'राहोः शिरः' इत्यादिवत्—अमुख्ये मुख्यव्यवहार इति यावत् । **धुगिति** । दुह् प्रपूरणे' इत्यस्माद् क्विप् । 'दुह्+स्' इत्यत्र सलोपे 'हो ढः'

(सु), (ह्=ढ्)—लिढ्+सु, (ढ्=ड्—'झलां जशोऽन्ते')—लिड्+सु (धुट् (ध्) का आगम—'डः सि धुट्') लिड्+ध्+सु (ड्=ट्, पुनः ध्=त्—'खरि च')=लिट्त्सु । धुट् आगम वैकल्पिक होने से पक्ष में—लिट्सु ।

(२७३) पद—दादेः, धातोः, घः । **अनुवृत्ति**—पदस्य, हः, झलि, अन्ते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—झल् परे रहते और पदान्त में—उपदेश अवस्था में दकारादि धातु के अवयव 'ह्' के स्थान में 'घ्' आदेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'हो ढः' (२७२) से 'हः' 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः०' (८।२।२९) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति की जा रही है । 'पदस्य' का अधिकार है । यह सूत्र 'हो ढः' का अपवाद है । इस प्रकार—झल् वर्णों के परवर्ती रहने पर अथवा पदान्त में विद्यमान दकारादि धातु के 'ह' के स्थान में 'घ्' होता है ।

(२७४) पद—एकाचः, बशः, भष् , झषन्तस्य, स्ध्वोः । **अनुवृत्ति**—पदस्य, धातोः, अन्ते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सकार या 'ध्व' शब्द के परे रहते अथवा पदान्त में—धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त, तदवयव बश् के स्थान में 'भष्' आदेश होता है । व्यपदेशिवद्भाव से धातु का अवयव माने जाने से भष्भाव हुआ । जश्त्व, चर्त्व होने से—धुक्-धुग् । दुहौ । दुहः । दुहा । धुग्भ्याम् । धुक्षु ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'दादेर्धातोर्घः' (२७३) से 'धातोः' 'स्कोः०' से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आती है । अवयवषष्ठ्यन्त 'धातोः' पद का सम्बन्ध 'एकाचः' के साथ होता है । 'झषन्तस्य' भी 'एकाचः' का विशेषण है । 'पदस्य' का अधिकार है । इस प्रकार 'स्' या 'ध्व' के परवर्ती होने पर अथवा पदान्त में जो झषन्त एकाच् धातु, उसका अवयव बश् (ब्, ग्, ड्, द्) वर्णों के स्थान में भष् (भ्, ढ्, ध्) आदेश होते हैं ।

ध्रुक्षु । (२७५) वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३ । एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च । ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-

---

इति ढत्वे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'दादेधातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशो०' इत्यनेन दस्य धत्वे 'धुघ्' इति जाते 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'धुक्' इति । पक्षे 'धुगि'ति रूपम् ।

(२७५) वा द्रुह इति । अत्र 'दादेरि'त्यतो घ इति, धातोरिति, झलीति, पदस्येति हस्येति च पूर्ववदनुवर्तते । तदाह—एषामिति ।

उदाहरण—(१) दुह्+सु, (ह्=घ्—'दादेर्धातोर्घः' स् का लोप) दुघ् (यहाँ दुह् धातु एकाच् है; धातु का अवयव एकाच् नहीं है। अतः धातु में धात्ववयव का गौण व्यवहार कर (व्यपदेशिवद्भाव से) 'दुघ्' को झषन्त एकाच् मानकर भष्भाव से (द्=ध्) धुघ्, (जश्त्व घ्=ग्)=धुग् । चर्त्व (ग्=क्—'वाऽवसाने')=धुक् । पक्ष में-धुग् । (२) दुह्+औ=दुहौ । (३) दुह्+जस् (अस्)—दुहस् (स्=र्, र्=ः)=दुहः । (४) दुह्+भ्याम् (ह्=घ्—'दादेः०') दुघ्+भ्याम्, (द्=ध्—भष्भाव) धुघ्+भ्याम् (घ्=ग्—'झलां जशोऽन्ते')=धुग्भ्याम् । (५) दुह्+सुप् (सु) (ह=घ्)—दुघ्+सु (द्=ध्—भष्भाव) धुघ्+सु (जश्त्व घ्=ग्) धुग्+सु (ग्=क्—चर्त्व—'खरि च') धुक्+सु (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') (क्+ष्=क्ष्)=धुक्षु ।

हकारान्त पुँल्लिङ्ग दुह् शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धुक्-धुग्	दुहौ	दुहः	पं०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
द्वि०	दुहम्	दुहौ	दुहः	ष०	दुहः	दुहोः	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	स०	दुहि	दुहोः	धुक्षु
च०	दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः	सं०	हे धुक्-धुग्	हे दुहौ	हे दुहः

(२७५) **पद**—वा, द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् । **अनुवृत्ति**—पदस्य, झलि, अन्ते, घः । **विधिसूत्र** (विकल्प) ।

मूलार्थ—झल् परे रहते अथवा पदान्त में द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् के 'ह्' को 'घ्' विकल्प से होता है । ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-ध्रुट्सु ।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए—'झलो झलि' से 'झलि', 'स्कोः' से 'अन्ते' तथा 'दादेर्धातोर्घः' से 'घः' पदों की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । इस प्रकार—झल् वर्णों के परवर्ती रहने पर अथवा पदान्त में स्थित होने पर द्रुह् (=द्रोही), मुह् (=मुग्ध), ष्णुह् (=वमन करने वाला) तथा ष्णिह् (=प्रिय) शब्दों के 'ह्' के स्थान में 'घ्' आदेश विकल्प से होता है ।

उदाहरण—(१) द्रुह्+सु (विभक्ति का लोप) द्रुह् (ह्=घ् आदेश विकल्प से—'वा द्रुह०') द्रुघ् (द्=ध्—'एकाचो बशो०') ध्रुघ्, (घ्=ग्—'जश्त्व') ध्रुग् (ग्=क् चर्त्व—'वाऽवसाने')=ध्रुक् । चर्त्व के अभाव में—ध्रुग् । घ् न होने पर पक्ष में 'हो ढः' से ह्=ढ् (जश्त्व तथा विकल्प से चर्त्व होकर)=ध्रुट्-ध्रुड् । (२) द्रुह्+औ=द्रुहौ । (३) द्रुह्+जस् (अस्), द्रुहस् (स्=र्, र्=ः)=द्रुहः । (४) द्रुह्+भ्याम् (ह्=घ् विकल्प से) द्रुघ्+भ्याम् (द्=ध्—भष्भाव) ध्रुघ्+भ्याम् (घ्=ग्—जश्त्व)=ध्रुग्भ्याम् । ह्=घ् न होने पर पक्ष में 'हो ढः' से

ध्रुट्सु । एवं मुहः । (२७६) **धात्वादेः षः सः** ६।१।६४ । उपदेशे धातोरादेः षस्य सः स्यात् । स्नुक्-स्नुग् । स्नुट्-स्नुड् । एवं ष्णिहः । (२७७) **इग्यणः सम्प्रसारणम्** १।१।४५ । यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् सः सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् । (२७८) **वाह ऊठ्** ६।४।१३२ । भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् । (२७९) **सम्प्रसारणाच्च** ६।१।१०८ ।

---

(२७६) **स्नुगिति** । ष्णुह् धातोः षस्य सत्वे, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इति 'ण्' इत्यस्य स्थाने नत्वम् । स्नुह्+सु' इत्यत्र सुलोपे 'वा द्रुह०' इत्यादिना हस्य घत्वे जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति विभाषया चर्त्वे स्नुक् इति । चर्त्वाभावे स्नुगिति । घत्वाभावे च 'हो ढः' इति ढत्वे, जश्त्वे, विकल्पेन चर्त्वे 'स्नुट्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'स्नुड्' इति रूपम् ।

(२७८) **वाह ऊठिति** । अत्र 'भस्ये'त्यधिकृतम् । 'वसोः सम्प्रसारणमि'त्यतः 'सम्प्रसारणमि'त्यनुवर्तते । तच्च ऊठि अभेदेनान्वेति । तदाह—**भस्य इत्यादि** ।

(२७९) **सम्प्रसारणाच्चेति** । अत्र 'इको यणचि' इत्यतोऽचीति, 'अमि पूर्वः'

ह्=ढ्, जश्त्व से (ढ्=ड्)=ध्रुड्भ्याम् । (५) द्रुह्+सुप् (सु), (ह्=घ् विकल्प से—'वा द्रुह०') द्रुघ्+सु (द्=ध्—भष्भाव) ध्रुघ्+सु, (घ्=ग्—जश्त्व) ध्रुग्+सु, (ग्=क्—चर्त्व 'खरि च') ध्रुक्+सु, (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') (क्+ष्=क्ष)=ध्रुक्षु । घत्वाभाव पक्ष में ('हो ढः' से ह्=ढ्, जश्त्व से ढ्=ड्) ध्रुड्+सु, (धुट् (ध्) का आगम—विकल्प से)—ध्रुड्+ध्+सु, (ड्=ट्, ध्=त्—खरि च)=ध्रुट्त्सु । धुट् आगम न होने पर—ध्रुट्सु । इसी प्रकार मुह् आदि शब्दों के रूप भी बनते हैं ।

(२७६) पद—धात्वादेः षः सः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—उपदेश अवस्था में धातु के आदि 'ष्' के स्थान में 'स्' आदेश होता है ।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है । (१) ष्णुह्+सु (विभक्ति का लोप) ष्णुह् (ष्=स्—'धात्वादेः षः सः') स्णुह् ('निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' अर्थात् निमित्त **(कारण)** ष् के हट जाने पर नैमित्तिक (कार्य) णत्व भी हट गया)=स्नुह् (ह्=घ् विकल्प से—'वा द्रुह०') स्नुघ् (घ्=ग् जश्त्व, 'वाऽवसाने' से चर्त्व विकल्प से)=स्नुक् । पक्ष में—स्नुग् । घत्व के अभाव पक्ष में ('हो ढः' से ह्=ढ्, जश्त्व से ढ=ड्, 'वाऽवसाने' से चर्त्व विकल्प से ड्=ट्)=स्नुट् । चर्त्व के अभाव में—स्नुड् । इसी प्रकार 'ष्णिह्' शब्द के रूप बनेंगे ।

(२७७) पद—इक्, यणः, सम्प्रसारणम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—'यण्' के स्थान में होने वाले 'इक्' की सम्प्रसारण संज्ञा होती है ।

विमर्श—यण्=य्, व्, र्, ल् तथा इक्=इ, उ, ऋ, लृ की संख्या समान होने से य् के स्थान में स्थानकृत सादृश्य से क्रमानुसार इ, व्=उ, ऋ=र् तथा लृ=ल् सम्प्रसारणसंज्ञक होंगे ।

(२७८) पद—वाहः, ऊठ् । **अनुवृत्ति**—भस्य, सम्प्रसारणम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भसंज्ञक 'वाह्' को सम्प्रसारणसंज्ञक 'ऊठ्' आदेश होता है ।

विमर्श—'भस्य' (६।४।१२९) का अधिकार है । 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६।४।१३१) सूत्र से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार "भसंज्ञक 'वाह्' शब्द के 'व्' के स्थान पर 'ऊठ्' (ऊ) सम्प्रसारण होता है ।"

(२७९) पद—सम्प्रसारणात् च । **अनुवृत्ति**—पूर्वः, अचि, एकः पूर्वपरयोः । **विधिसूत्र ।**

सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः । विश्वौहः । इत्यादि । (२८०) चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८ । सर्वनामस्थाने । (२८१) सावनडुहः ७।१।८२ । अस्य

इत्यतः पूर्वं इति चानुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिक्रियते । तदाह—**सम्प्रसारणादचीत्यादि ।** **विश्वौह इति ।** विश्ववाह्शब्दाच्छसि शस्येत्संज्ञायां लोपे च **'इग्यणः सम्प्रसारणमि'**ति यणः स्थाने इग्रूपस्य सम्प्रसारणसंज्ञायां 'वाह ऊठ्' इत्यनेन **वकारस्य सम्प्रसारणे** ऊकारे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे 'विश्व+ऊह्+अस्' **इति जाते** 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने **वृद्धौ संयोगे च कृते सस्य रुत्वे विसर्गे 'विश्वौहः'** इति ।

(२८०) चतुरनडुहोरामिति । अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' **इत्यनुवर्तते ।** चतुरनडुहोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे स चोदात्त इत्यर्थः ।

मूलार्थ—सम्प्रसारण से अच् परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। विश्वौहः। इत्यादि ।

विमर्श—सूत्रार्थ हेतु यहाँ 'अमि पूर्वः' (१५२) से 'पूर्वः' तथा 'इको यणचि' (१५) से **अचि** की अनुवृत्ति आती है । 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८३) का अधिकार है । तदनुसार सम्प्रसारण (इ, उ, ऋ, ऌ) के पश्चात् अच् वर्ण के परे रहते पूर्व-पर वर्णों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है ।

उदाहरण—विश्ववाह् (=परमात्मा) + शस् (अस्), ('इग्यणः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण संज्ञा होने पर 'वाह ऊठ्' से व=ऊठ् (ऊ)—सम्प्रसारण) विश्व+ऊ+आह्+अस्, (ऊ+आ=ऊ—पूर्वरूप 'सम्प्रसारणाच्च')—विश्व+ऊह्+अस् (अ+ऊ='औ' वृद्धि—'एत्येधत्यूठ्सु')—विश्वौह स् (स्=रुत्व-विसर्ग)=विश्वौहः ।

हकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विश्ववाह्' (ईश्वर) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः	पं०	विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
द्वि०	विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः	ष०	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः	स०	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्त्सु, विश्ववाट्सु
च०	विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः	सं०	हे विश्ववाट्-ड्	हे विश्ववाहौ	हे विश्ववाहः

इसी प्रकार पृष्ठवाह्, भारवाह् इत्यादि शब्दों के रूप बनेंगे ।

(२८०) पद—चतुरनडुहोः, आम्, उदात्तः । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सर्वनामस्थान परे रहते 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्द को 'आम्' का आगम होता है और वह उदात्त भी होता है ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार चतुर् (=चार) और अनडुह् (=बैल) शब्द को आम् आगम होता है, सर्वनामस्थानसंज्ञक (सु, औ, जस्, अम्, औट्) प्रत्यय के परवर्ती रहने पर । 'आम्' में 'म्' की इत्संज्ञा होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा की उपस्थिति से अन्त्य अच् से परे 'आ' होगा ।

नुम् स्यात्सौ परे । 'आच्छीनद्योरि'ति सूत्रादादित्यधिकारादवर्णात् परोऽयं नुम् । अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते । आमा नुम् न बाध्यते । सुलोपः । संयोगान्तस्य लोपः । नुम्विधिसामर्थ्याद्वसुस्रंस्विति दत्वं न । संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । अनड्वान् । (२८२) अम् सम्बुद्धौ ७।१।९९ । चतुरनडुहोः अम् स्यात् सम्बुद्धौ

---

(१८१) **सावनडुह इति** । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यतो 'नुमि'त्यनुवर्तते । तदाह—**अस्येति** । अनडुह्शब्दस्येत्यर्थः । **अनड्वानिति** । 'अनुडुह् + स्' (सु) इति स्थिते 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यनेनामागमेऽनुबन्धलोपे 'अनडु + आ + ह + स्' इति जाते 'सावनडुहः' इति नुमि उमिगते अनडु 'आ न् ह स्' इति जाते, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' इति सस्य लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन हकारस्य लोपे, यणि कृते अनड्वान् इत्यत्र 'नलोपः' इति नलोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् लोपाभावे 'अनड्वान्' इति सिद्धम् ।

(२८२) **अमिति** । 'चतुरनडुहोः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**चतुरनडुहोरिति** । **हे अनड्वन्निति** । 'अम्सम्बुद्धावि'ति अम्, यण्, नुम्, सुलोपः संयोगान्तलोपश्च ।

---

(२८१) पद—सौ, अनडुहः । **अनुवृत्ति**—नुम् , आत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सु' के परवर्ती रहने पर 'अनडुह्' शब्द को नुम् का आगम होता है । 'आच्छीनद्योः' से अनुवृत्त 'आत्' अधिकार होने के कारण यह नुम् अवर्ण से परे होता है । विशेष विधान होने के कारण 'नुम्' आम् का बाधक नहीं होता । अम् भी नुम् का बाधक नहीं होता है । सु का लोप । संयोगान्त लोप । नुम्-विधान के सामर्थ्य से 'वसुस्रंसु०' सूत्र से द् भी नहीं होता । संयोगान्त लोप असिद्ध होने के कारण 'नलोपः' से न लोप भी नहीं होता । अनड्वान् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार सु विभक्ति के परे रहते 'अनडुह्' शब्द को नुम् का आगम होता है । यह 'नुम्' मित् होने से अन्त्य अच् से परे होना चाहिए था । परन्तु यहाँ 'आच्छीनद्योर्नुम्' से अधिकार के रूप में 'आत्' पद की अनुवृत्ति आने से अनडुह् शब्द के अन्तिम अवर्ण से पर में नुम् (न्) होगा । अतः नुम् होने से पूर्व आ (आम्) किया जाता है । नुम् के प्रवृत्त होने में आम् उपजीव्य है । इस प्रकार नुम् शास्त्र में विशेषता होने पर भी वह आम्-विधायक शास्त्र का बाधक नहीं होता । सम्बोधन के एकवचन सु में होने वाला अम् भी नुम् का बाधक नहीं होता है ।

उदाहरण—(१) अनडुह् + सु (स्) (अन्तिम अच् 'उ' के पश्चात् आम् (आ) का आगम—'चतुरनडुहोराम्०') अनडु + आह् + स् , (उ = व्—'यण्') अनड्वा + ह् + स् , (आ से पर 'नुम्'—'सावनडुहः') अनड्वा न् ह् स् , (स्—विभक्तिलोप)—अनड्वान् ह् (ह् का संयोगान्त लोप) = अनड्वान् । (यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' से 'संयोगान्तस्य लोपः' के असिद्ध हो जाने से 'नलोपः०' से 'न्' का लोप नहीं होता ।

(२८२) पद—अम् , सम्बुद्धौ । **अनुवृत्ति**—चतुरनडुहोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सम्बुद्धिसंज्ञक प्रत्यय के परे रहते चतुर् और अनडुह् शब्द को अम् का आगम होता है ।

विमर्श—यहाँ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' (७।१।९८) से 'चतुरनडुहोः' की अनुवृत्ति आ रही

परतः । हे अनड्वन् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । अनडुहः । (२८३) **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२** । सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्ते किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् । (२८४)

---

(२८३) वसुस्रंस्विति । अत्र वसोः प्रत्ययत्वेन 'प्रत्ययग्रहणे' इति परिभाषया तदन्तं गृह्यते । 'ससजुषो रुः' इत्यतः स इति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदमनुवृत्तम्, तेन वसुर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । सान्तत्वं स्रंसादेर्न विशेषणम् । अव्यभिचारात् सर्वत्र सान्तत्वस्यैव सत्वात् । पदस्येत्यधिकृतम् । फलितार्थमाह—**सान्तेत्यादि** ।

है। तदनुसार सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन) परवर्ती रहने पर चतुर् और अनडुह् शब्द को अम् (अ) का आगम होता है । यह सूत्र 'आम्' का अपवाद है ।

उदाहरण—(२) हे अनडुह्+सु (स्), ('उ' के बाद 'अम्' का आगम) अनडु+अह्+स्, (उ=व्—यण्) अनड्व ह् स्, (नुम् का आगम—'सावनडुहः') अनड्वन् ह् स्, (स् का लोप) अनड्वन् ह् (ह् का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः') हे अनड्वन् ! (३) अनडुह्+औ ('आम्' का आगम) अनडु आह्+औ, (उ=व्—'यण्') अनड्वाहौ । (४) अनडुह्+जस् (अस्) (आम्—आगम) अनडु—आह्+अस्, (उ=व्) यण्—अनड्वाह स् (स्=रुत्व-विसर्ग)=अनड्वाहः । (५) अनडुह्+शस् (अस्), (सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्ति न होने से आम् नहीं) अनडुहस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=अनडुहः ।

(२८३) पद—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां, दः । **अनुवृत्ति**—पदस्य, सः, अन्ते । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पदान्त में सान्त वसु प्रत्ययान्त और स्रंसु आदि को द् आदेश होता है । अनडुद्भ्यामित्यादि ।

विमर्श—यहाँ 'ससजुषो रुः' से 'सः' (षष्ठ्यन्त) की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है । उसे बहुवचन में परिवर्तित कर दिया जाता है । 'सः' पद 'वसु' का विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से अनुवृत्त 'अन्ते' पद के साथ 'पदानाम्' का योग होता है । तदनुसार—'पदान्त में सकारान्त वसु प्रत्ययान्त शब्द, स्रंस्, ध्वंस् तथा अनडुह् के अन्तिम वर्ण के स्थान पर 'द्' आदेश होता है ।'

उदाहरण—(६) अनडुह्+भ्याम् (हलादि विभक्ति (भ्याम्) के परे होने पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'अनडुह्' की पद संज्ञा होने पर ह्=द्—'वसु०')=अनडुद्भ्याम् ।

प्रत्युदाहरण—(१) सूत्र में सान्त पद वसु-प्रत्ययान्त का विशेषण है । अत एव वसु-प्रत्ययान्त 'विद्वान्' रूप सिद्ध पर यह सकारान्त न होने के कारण 'न्' के स्थान पर द् नहीं हुआ । (२) पदान्त में 'स्' होने की अपेक्षा होने से स्रस्तम्, ध्वस्तम् में 'क्त' प्रत्यय के बाद 'स्' पदान्त में न होने 'द्' नहीं हुआ ।

अनडुह् (=बैल) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
पं०	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
ष०	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
स०	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः

सहेः साडः सः ८।३।५६। साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्-तुराषाड्। तुरासाहौ। तुराषाड्भ्यामित्यादि। (२८५) दिव औत् ७।१।८४। दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ। सुद्यौः। सुदिवौ। (२८६) दिव उत् ६।१।१३१। दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्यामित्यादि। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः।

---

(२८४) **सहेः साड इति।** 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' इत्यधिकृतम्। 'षह मर्षणे' इत्यस्माद्धातोरिक्प्रत्यये 'धात्वादेः०' इति षस्य सत्वे सहिपदम्। षह्धातोरित्यर्थः। सूत्रे साडिति कृतढत्वडत्ववृद्धेरनुकरणम्। तदाह मूले—**साड्रूपस्येति।** साड्रूपता-मापन्नस्य सह्धातोरित्यर्थः। **तुराषाट् इति।** 'तुरासाह्+स्' इत्यत्र सलोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे तस्य जश्त्वेन डत्वे 'सहेः साडः सः' इति साड्रूपस्य सकारस्य षत्वे 'वाऽवसाने' इत्यनेन विकल्पेन चर्त्वे 'तुराषाट्' इति। चर्त्वाभावे तुराषाडिति।

(२८५) **दिव औदिति।** दिव इत्यनेनाव्युत्पन्नस्य 'दिवेर्डिविः' इत्युणादि-निष्पन्नस्य ग्रहणम्। 'सावनडुहः' इत्यतः सावित्यनुवर्तते। तदाह—**दिविति।**

(२८६) **दिव उदिति।** अत्र 'एङः पदान्तादति' इत्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्च सप्तम्या विपरिणम्यते। तदाह—**दिवोऽन्तादेश इत्यादिना।**

---

(२८४) पद—सहेः, साडः, सः। **अनुवृत्ति**—मूर्द्धन्यः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सह् के साड्रूप में परिवर्तित हो जाने पर सकार के स्थान में मूर्धन्य (षकार) हो जाता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) से 'मूर्द्धन्यः' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार जब सह् धातु 'साड्' रूप में परिवर्तित हो जाय तब उस 'स्' के स्थान पर मूर्द्धन्य (ष्) हो जाता है।

उदाहरण—(१) तुरासाह्+सु (स्), (विभक्ति स् का लोप) तुरासाह्, (ह्=ढ्)—तुरासाढ्, (ढ्=ड्) तुरासाड्, ('साड्' के स्=ष्) तुराषाड् ('वाऽवसाने' से विकल्प से चर्त्व ड्=ट्)=तुराषाट्। पक्ष में—तुराषाड्। (२) तुरासाह्+औ=तुरासाहौ। (३) तुरासाह्+भ्याम्, (ह=ढ, ढ्=ड्—'जश्त्व') तुरासाड्+भ्याम् (स्=ष्)=तुराषाड्भ्याम्।

(२८५) पद—दिवः, औत। **अनुवृत्ति**—सौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के परवर्ती होने पर दिव् शब्द को औकार अन्तादेश होता है। सुद्यौः। सुदिवौ।

विमर्श—यहाँ 'सावनडुहः' (२८१) सूत्र से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से 'सु' (प्रथमा एकवचन) के पर होने पर दिव् शब्द के व् केस्थान पर 'औ' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) सुदिव्+सु (स्), (व्=औ) सुदि+औ+स् (इ=य्—'यण्') सुद्यौ स् (स्=रुत्व-विसर्ग)=सुद्यौः। (२) सुदिव्+औ=सुदिवौ।

(२८६) पद—दिवः, उत। **अनुवृत्ति**—पदान्तात। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में दिव् शब्द के उकार अन्तादेश होता है। सुद्युभ्याम्—इत्यादि। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः।

चतुर्भ्यः—२ । (२८७) षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५ । एभ्य आमो नुडागमः स्यात् । (२८८) रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१ । चतुर्णाम् । (२८९) रोः सुपि ८।३।

---

(२८७) **षट्चतुर्भ्यश्चेति** । अत्र 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्यतः 'आमी'त्यनुवर्तते षष्ठ्यन्तेन विपरिणम्यते च । षडिति पदेन षट्संज्ञकमेव गृह्यते । 'ह्रस्वनद्यापो नुडि'-त्यतः 'नुट्' इत्यनुवर्तते । तदाह—**एभ्य इत्यादि** ।

(२८८) **चतुर्णामिति** । चतुर्शब्दादामि 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति आमो नुडागमेऽनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे 'चतुर् न् आम्' इति जाते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति णकारस्य द्वित्वे कृते चतुर्ण्णामिति ।

(२८९) **रोः सुपीति** । 'खरवसानयोः' इत्यतः 'खरि' इति, 'विसर्जनीयः' इति

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'एङः पदान्तादति' (४८) से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति आ रही है, जो सप्तम्यन्त में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार 'पदान्त में स्थित दिव् के 'व्' के स्थान पर 'उ' हो जाता है।

उदाहरण—(३) सुदिव्+भ्याम् ('सुदिव्' की पदसंज्ञा होने से व्=उ)—सुदि+उ+भ्याम् (इ=य् 'यण्')—सुद्युभ्याम् ।

रकारान्त चतुर् (=चार) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है। यह शब्द बहुवचनान्त है।

(१) चतुर्+जस् (अस्), (उ के बाद आम् (आ)—'चतुरनडुहोः०') चतु आर्+अस्, (उ=व् 'यण्')—चत्वारस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चत्वारः । (२) चतुर्+शस् (अस्)—चतुरस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चतुरः । (३) चतुर्+भिस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चतुर्भिः । (४) चतुर्+भ्यस् (स्=रुत्व-विसर्ग)=चतुर्भ्यः ।

(२८७) पद—षट्, चतुर्भ्यः, च । **अनुवृत्ति**—नुट्, आमि । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—षट्संज्ञक और चतुर् शब्द से पर आम् को 'नुट्' का आगम होता है।

विमर्श—यहाँ 'आमि सर्वनाम्नः' (७।१।५२) से 'आमि' (विभक्ति-विपरिणाम द्वारा आमः) तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१६५) से 'नुट्' की अनुवृत्ति लाई जाती है। नुट् में टकार की इत्संज्ञा होने से 'आम्' का आद्यवयव होगा। इस प्रकार—'षट्संज्ञक तथा चतुर् शब्द से परवर्ती आम् के आदि में 'न्' आगम होता है।

(२८८) पद—रषाभ्याम्, नः, णः समानपदे । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—समानपद (एक पद) में रेफ और षकार से परे 'न्' के स्थान में 'ण्' आदेश होता है। चतुर्ण्णाम् ।

विमर्श—सूत्र स्वतः पूर्ण है।

उदाहरण—(५) चतुर्+आम्, (नुट् का आगम) चतुर्+न् आम्, (न्=ण् 'रषाभ्याम्०') चतुर्णाम्, (ण् को विकल्प से द्वित्व—'अचो रहाभ्यां द्वे')=चतुर्ण्णाम् । पक्ष में—चतुर्णाम् ।

(२८९) पद—रोः, सुपि । **अनुवृत्ति**—खरि, विसर्जनीयः । **नियमसूत्र** ।

मूलार्थ—सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति के परे रहते 'रु' सम्बन्धी रेफ के स्थान में ही विसर्ग होता है, अन्य रेफ को नहीं। चतुर्षु ।

१६। रोरेव विसर्जनीयः सुपि, नान्यरेफस्य। चतुर्षु। (२९०) **मो नो धातोः** ८।२।६४। पदान्ते। प्रशान्। प्रशामौ। (२९१) **किमः कः** ७।२।१०३। विभक्तौ। कः। कौ। के। इत्यादि। (२९२) **इदमो मः** ७।२।१०८। इदमो मस्य मः स्यात्सौ

चानुवर्तते। तेन सुपीत्यनेन सप्तमीबहुवचनस्यैव ग्रहणम्, न तु प्रत्याहारस्य। तत्र 'खरवसानयोः' इत्येव विसर्गे सिद्धे नियमार्थमिदं सूत्रम्। अत एव 'चतुर्षु' इत्यत्र नानेन विसर्गः।

(२९०) **'मो नो धातोः' इति**। पदस्येत्यधिकृतम्। 'स्कोः' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते। 'मान्तस्य धातोर्नः स्यात् पदान्ते' इति सूत्रार्थः।

(२९१) **किमः क इति। विभक्ताविति**। 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतस्तदनुवृत्ते-रिति भावः।

(२९२) **इदमो म इति**। अत्र 'तदोः सः सौ' इत्यतः 'सावि'त्यनुवर्तते। 'इदम्' शब्दस्य मस्य मः स्यात् सौ' इत्यर्थः। मकारस्य मकारविधानं 'त्यदादीनामः' इत्यत्व-बाधनार्थम्।

विमर्श—सूत्र में आदेशवाचक पद का अभाव है। अतः 'खरवसानयोः०' (८।३।१५) से 'विसर्जनीयः' पद की अनुवृत्ति आती है। यह नियम सूत्र है। तदनुसार सप्तमी एकवचन सुप् में 'रु' के स्थान पर ही विसर्ग होता है, अन्य रेफ को नहीं।

उदाहरण—(६) चतुर्+सुप् (सु), (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') चतुर्षु ('खरव-सानयोः०' से र्= : की प्राप्ति 'रोः सुपि' नियम से विसर्ग नहीं हुआ) 'अचो०' से ष् को द्वित्व प्राप्त, उसका 'शरोऽचि' से निषेध)=चतुर्षु।

(२९०) पद—मः, नः, धातोः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में मान्त धातु के 'म्' के स्थान में 'न्' आदेश होता है। प्रशान्।

विमर्श—'पदस्य' का अधिकार है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (८।२।२९) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—पद के अन्त में स्थित धातु सम्बन्धी 'म्' को 'न्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) प्रशाम्+सु, ('सु' विभक्ति का लोप) प्रशाम्, (म्=न्)=प्रशान्। (२) प्रशाम्+औ=प्रशामौ।

(२९१) पद—किमः, कः। **अनुवृत्ति**—विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विभक्ति के पर रहते 'किम्' के स्थान में 'क' आदेश होता है। कः। कौ। के।

विमर्श—यहाँ 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से निमित्त-वाचक 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। क आदेश (क्+अ) अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान में होगा।

उदाहरण—(१) किम्+सु (स्), (किम्=क)—क+स्, (स्=र्=:)=कः। (२) किम्+औ, (किम्=क)—क+औ (अ+औ='औ'—'वृद्धि')=कौ। (३) किम्+अस्, (किम्=क)—क+जस्, (जस्=शी)—क+ई, (अ+ई='ए'—गुण)=के। शेष रूप सर्व शब्द की तरह बनेंगे।

(२९२) पद—इदमः, मः। **अनुवृत्ति**—सौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के पर रहते 'इदम्' शब्द के 'म्' के स्थान में 'म्' ही आदेश होता है। 'त्यदादीनामः' से प्राप्त अ आदेश का यह अपवाद है।

परे। त्यदाद्यत्वापवादः। (२९३) इदोऽय् पुंसि ७।२।१११। इदम इदोऽय् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे। (२९४) अतो गुणे ६।१।९७। अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः स्यात्। (२९५) दश्च ७।२।१०९। इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः। (२९६) अनाप्यकः ७।२।११२।

---

(२९३) **इदोऽयिति**। 'यः सौ' इत्यतः सावित्यनुवर्तते। **अयमिति**। 'इदम्+सु' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इति प्राप्तमकारं प्रबाध्य 'इदमो मः' इति मस्य मकारे कृते 'इदम्+स्' इति स्थिते 'इदोऽय् पुंसि' इति इद्भागस्य अयादेशे, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सस्य लोपे अयमिति।

(२९४) **अतो गुणे इति**। अत्र 'एङि पररूपमि'त्यतः पररूपमित्यनुवर्तते, 'उस्यपदान्तादि'त्यत अपदान्तादिति च। तदाह—**अपदान्तादित्यादि**।

(२९५) **दश्चेति**। 'इदमो मः' इत्यत इदम इति, 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते। तदाह—**इदमो दस्येत्यादिना। इमाविति**। 'इदम्+औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इति मस्य अत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद+औ' इति जाते 'दश्चे'त्यनेन दकारस्य मकारे वृद्धौ च कृतायाम् 'इमौ' इति रूपम्।

विमर्श—यहाँ 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आने से—सु विभक्ति के परवर्ती होने पर इदम् शब्द के मकार के स्थान पर 'म्' ही आदेश होता है।

(२९३) पद—इदः, अय्, पुंसि। **अनुवृत्ति**—इदमः, सौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश होता है, पुँल्लिङ्ग में 'सु' के परे रहते। अयम्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः' तथा 'यः सौ' (७।२।११०) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार 'पुंलिङ्ग में सु विभक्ति के परे रहते 'इदम्' शब्दावयव इद् के स्थान पर 'अय्' आदेश होगा।

उदाहरण—इदम्+सु (इद्=अय्) अय्-अम्+स् ('स्' विभक्ति का लोप)=अयम्।

(२९४) पद—अतः, गुणे। **अनुवृत्ति**—अपदान्तात्, पररूपम्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपदान्त अकार से गुण पर रहते पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'उस्यपदान्तात्' (६।१।९६) से 'अपदान्तात्' तथा 'एङि पररूपम्' से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'पदान्त-भिन्न ह्रस्व अकार से गुणसंज्ञक वर्ण (अ, ए, ओ) पश्चाद्वर्ती रहने पर पूर्व-पर वर्णों के स्थान में परवर्ण रूप एकादेश हो जाता है।

(२९५) पद—दः, च। **अनुवृत्ति**—इदमः, मः, विभक्तौ। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—विभक्ति के परवर्ती रहने पर 'इदम्' शब्द सम्बन्धी दकार के स्थान में मकार आदेश होता है। इमौ। इमे। त्यदादि शब्दों का सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'इदमो मः' (२९२) सूत्र तथा 'अष्टन आ०' से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार (सुभिन्न) विभक्ति के परे रहते 'इदम्' शब्द के 'द्' के स्थान पर 'म्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) इदम्+औ (म्=अ 'त्यदादीनामः' इद अ+औ, (अ+अ='अ'

अककारस्य इदम इदोऽन्, आपि विभक्तौ । 'आबि'ति प्रत्याहारः । अनेन । (२९७) **हलि लोपः ७।२।११३** । अककारस्य इदम इदो लोप आपि हलादौ । * नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे * । (२९८) **आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१** । एकस्मिन् क्रिय-

---

(२९६) अनाप्यक इति । 'अन् + आपि + अकः' इति पदच्छेदः । न विद्यते कोऽस्येति अक् तस्य अकः ककाररहितस्येति भावः । 'इदमो मः' इत्यत इदम इति, 'इदोऽय्०' इत्यतः इद इति, 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते । एवं ककाररहितस्य 'इदम्'शब्दस्य यः इद्भागस्तस्य 'अन्' आदेशः स्यादापि विभक्तौ परत इत्यर्थः । **अनेनेति** । 'इदम् + (टा) आ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे पररूपे 'इद + आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इत्यद्भागस्य अनादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अनेन' इति रूपम् ।

(२९७) **हलि लोप इति** । पूर्वसूत्रादाप्यक इति, 'इदमो मः' इत्यतः 'इदमः' इति, 'इदोऽय्०' इत्यत इद इति 'अष्टन आ' इत्यतः विभक्ताविति चानुवर्तते । विभक्तौ हलीत्यस्य विशेषणत्वेन तदादिविधिस्तदाह—**अककारस्येत्यादि** । **नानर्थक इति** । अभ्यासविकारं वर्जयित्वाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिर्न भवतीत्यर्थः । अभ्यासविकारे त्वनर्थकेऽपि तत्प्रवर्त्तते यथा 'विभर्ति' ।

पररूप—'अतो गुणे')—इद+औ (द्=म्—'दश्च') इम+औ (पूर्वसवर्णदीर्घ का बाधकर अ+औ='औ'—वृद्धि)=इमौ । (२) इदम्+जस् (म्=अ) इद+अ+जस् , (अ+अ='अ'—पररूप)—इद+जस् , (जस्=शी–ई)—इद+ई (द्=म्—'दश्च') इम+ई(अ+ई='ए'—गुण)=इमे ।

(२९६) पद—अन्, आपि, अकः । **अनुवृत्ति**—इदमः, इदः, विभक्तौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—'आप्' विभक्ति के पर रहते ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्'भाग को 'अन्' आदेश होता है । टा से लेकर 'सुप्' के पकार पर्यन्त 'आप्' प्रत्याहार है । अनेन ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः', 'इदोऽय् पुंसि' (२९३) से 'इदः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति लाई जा रही है । आप् प्रत्याहार के अन्तर्गत तृतीया एकवचन टा (आ) से लेकर सुप् (सप्तमी बहुवचन) पर्यन्त विभक्तियों का समावेश होता है ।

उदाहरण—(३) इदम्+टा (म्=अ, पररूप) इद+टा (इद्=अन्—'अनाप्यकः') अन+टा (टा=इन)—अन+इन (अ+इ='ए'—गुण)=अनेन ।

(२९७) पद—हलि, लोपः । **अनुवृत्ति**—आपि, अकः, इदमः, इदः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—हलादि आप् विभक्ति के पर रहते, ककार-रहित इदम् शब्द के इद्भाग का लोप होता है । ('अभ्यास-विकार को छोड़कर अनर्थक में अलोऽन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती' परि०) ।

विमर्श—यहाँ—'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः', 'इदोऽय्०' (२९३) से 'इद्', 'अनाप्यकः' (२९६) से 'आपि' एवं 'अकः', तथा 'अष्टन आ०' (३२१) से विभक्तौ पदों की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार हलादि आप् (तृतीयादि) विभक्ति के पर रहने पर ककार रहित इदम् शब्द के अवयव 'इद्' का लोप होता है ।

माणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। 'सुपि चे'ति दीर्घः। आभ्याम्। (२९९) नेद-मदसोरकोः ७।१।११। अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात्। एभिः। अस्मै।

---

(२९८) **आद्यन्तवदिति।** एकशब्दश्चात्राऽसहायवाची। सप्तम्यन्तात् 'तत्र तस्येव' इति वतिः, 'एकस्मिन्' इत्युपमेये सप्तमीदर्शनात्। वतिश्चोभाभ्यां सम्बध्यते; 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमात्। तदाह—**एकस्मिन्निति।** तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इवाऽसहाये केवलेऽपि स्यादित्यर्थः। **आभ्यामिति।** 'इदम्+भ्याम्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे पररूपे 'इद+भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इतीद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अन्लोऽन्त्यस्ये'ति अत्यस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषयाऽलोऽन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'अ+भ्यामि'ति स्थिते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारेऽन्तवद्भावेन अदन्तत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घे कृते 'आभ्यामि'ति।

(२९९) **नेदमदसोरकोरिति।** अत्र 'अतो भिस ऐस्' इत्यतो 'भिस ऐसि'त्यनु-

---

यहाँ अलोऽन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति इद्भाग के अनर्थक होने से नहीं हुई। क्योंकि—'अभ्यास (द्वित्व के पूर्व भाग) को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में अलोऽन्त्यपरिभाषा से विधि नहीं होती।'

(२९८) पद—आद्यन्तवद्, एकस्मिन्। **अतिदेशसूत्र।**

मूलार्थ—एक (असहाय) में किया जाने वाला कार्य आदि और अन्त की तरह होता है। 'सुपि च' से दीर्घ—आभ्याम्।

विमर्श—यह अतिदेशसूत्र है। एक शब्द यहाँ असहायवाची है। इस प्रकार जहाँ एक ही वर्ण को मानकर आदि या अन्त सम्बन्धी कोई विधान करना हो तो ऐसी अवस्था में उसी (एक) में आदिवत् तथा अन्तवद्भाव हो जाता है। यह लोकन्याय से सिद्ध है। यथा—'देवदत्तस्यैक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः, स एव मध्यमः।' अर्थात् किसी व्यक्ति का एक ही पुत्र होने पर उसी में ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठादि का व्यवहार होता है। इसी को व्यपदेशिवद्भाव भी कहा जाता है।

उदाहरण—(४) इदम्+भ्याम्, (द्=अ, पररूप)—इद+भ्याम्, (अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से 'हलि लोपः' सूत्र द्वारा 'द्' के लोप की प्राप्ति, 'नानर्थके०' से निषेध होकर इद्भाग का लोप) अ+भ्याम्, ('आद्यन्तवदेकस्मिन्' से 'अ' को ही आदि और अन्त मानकर 'सुपि च' से अदन्त अंग 'अ'='आ'—दीर्घ=आभ्याम्।

(२९९) पद—न, इदमदसोः, अकोः। **अनुवृत्ति**—भिसः, ऐस्। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—ककार रहित इदम् औ अदस् शब्द से परे 'भिस्' को ऐस् नहीं होता। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। एषु।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अतो भिस ऐस्' (१५९) से 'भिसः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार ककार युक्त प्रत्ययों से रहित इदम् तथा अदस् शब्द से पश्चाद्वर्ती 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश नहीं होगा।

उदाहरण—(१) इदम्+भिस् (म्=अ—'त्यदादीनामः', पररूप)—इद+भिस् ('इद्'

एभ्यः-२ । अस्मात् । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । एषु । (३००) द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४ । द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम्-अन्वादेशः । यथा-'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापये'ति । 'अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं

वर्तते । अकोरिति षष्ठी । तदाह—**अककारयोरित्यादिना । अस्मै इति ।** 'इदम् ए' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे स्मैभावे कृते हलि लोपः ।

(३००) **द्वितीयाटौस्स्वेन इति ।** द्वितीया च, टा च ओश्चेति द्वितीयाटौसः, तेष्विति द्वन्द्वः । 'इदमोऽन्वादेशे' इत्यत इदम इति, अन्वादेशे इति, 'एतदस्त्रतसोः' इत्यत एतदिति चानुवर्तते । तदाह— **द्वितीयायामित्यादि ।**

का लोप-'हलि लोपः')—अ+भिस् ('अतो भिस०' से भिस्=ऐस् प्राप्त, उसका 'नेदमदसोरकोः' से निषेध, 'बहुवचने झल्येत्' से अ=ए)—ए भिस् (स्=रु=ः)=एभिः । (२) इदम्+ङे, (म्=अ, पररूप) इद+ङे, (ङे=स्मै)—इद+स्मै ('इद्'भाग का लोप)=अस्मै । (३) इदम्+भ्यस् (पूर्ववत्, एत्व)=एभ्यः । (४) इदम्+ङसि, (अ, पूर्वरूप)—इद+ङसि, (ङसि=स्मात्) इद+स्मात्, ('इद्' का लोप)=अस्मात् । (५) इदम्+ङस् (अ, पररूप) इद+ङस्, (ङस्=स्य)—इद+स्य, (इद्भाग का लोप)=अस्य । (६) इदम्+ओस् (म्=अ, पररूप)—इद+ओस्, इद्=अन्—'अनाप्यकः') अन्+अ+ओस् ('ओसि च' से अ=ए) अने+ओस् (ए=अय् आदेश)—अनयोस् (स्=रु=ः)=अनयोः । (७) इदम्+आम् (म्=अ, पररूप) इद+आम्, (सुट् (स्) का आगम)—इद+स्+आम्, (इद्भाग का लोप) अ+स्+अम् (अ=ए)—एसाम्, (स्=ष्)=एषाम् । (८) इदम्+ङि, (म्=अ, पररूप)—अद+ङि (ङि=स्मिन्, इद्भाग का लोप)=अस्मिन् । (९) इदम्+सुप् (सु), (अ, पररूप)—इद+सु (इद् का लोप, एत्व) एसु (स्=ष्)=एषु ।

मकारान्त सर्वनाम इदम् (=यह) शब्द के रूप (पुंल्लिङ्ग)

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	—अयम्	इमौ	इमे	पं०	—अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	—इमम्	इमौ	इमान्	ष०	—अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ०	—अनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	—अस्मिन्	अनयोः	एषु
च०	—अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः				

प्रचुरप्रयोगादर्शनात् त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति ।

(३००) **पद**—द्वितीयाटौस्सु, एनः । **अनुवृत्ति**—एतदः, इदमः, अन्वादेशे, अनुदात्तः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अन्वादेश में द्वितीया विभक्ति एवम् टा और ओस् विभक्ति पर रहते इदम् और एतद् शब्द के स्थान में 'एन' आदेश होता है । किसी कार्य के विधान के लिए जिसका उपादान किया गया हो, उसी का कार्यान्तर विधान के लिए पुनः उपादान करना अन्वादेश है । जैसे—'इसने व्याकरण पढ़ लिया, अब छन्द पढ़ाओ' । 'इन दोनों का कुल बड़ा पवित्र है, इनके पास बहुत धन भी है ।' एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः-२ । राजा ।

स्वमि'ति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन–२ । एनयोः । राजा । (३०१) न ङिसम्बु-द्धयोः ८।२।८ । नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् । * ङावुत्तरपदे प्रतिषेधः * । ङौ तुच्छन्दस्युदाहरणम् । परमे व्योमन् सर्वा भूतानि । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । जञोर्ज्ञः । अल्लोपोऽनः । चुत्वम् । राज्ञः ।

---

(३०१) **न ङिसम्बुद्धयोरिति** । 'नलोपः०' इत्यतः 'न' इति लुप्तषष्ठीकं 'लोपः' इति चानुवर्तते । तदुक्तं—**ङौ सम्बुद्धौ चेति** । **ङावुत्तरेति** । समासोत्तरपदे परतो यो ङिस्तस्मिन्परे 'न ङिसम्बुद्धयोः' इति प्राप्तस्य निषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इति निष्कृष्टोऽर्थः । तेन 'ब्रह्मनिष्ठः' इत्यत्र नलोपो भवत्येव, समासे 'निष्ठा' इत्यस्योत्तर-पदत्वात् ।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का अभाव है । अतः 'इदमोऽन्वादेशे' (२।४।३२) से 'इदमः' तथा 'अन्वादेशे' एवम् 'एतदस्त्रतसोः' (२।४।३३) से 'एतदः' की अनुवृत्ति की जाती है । इस प्रकार द्वितीया विभक्ति, टा और ओस् के परवर्ती रहने पर अन्वादेश में इदम् तथा एतद् शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश होता है । किसी कार्य के सम्पन्न करने में पूर्व में ही किसी की प्रवृत्ति हो चुकी हो, पुनः उसी को अन्य कार्य के लिए प्रेरित करना 'अन्वादेश' कहलाता है । अनेकाच् होने से 'एन' सर्वादेश है । उदाहरण—'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय' वाक्य में किसी ने अपने पुत्र आदि के व्याकरण अध्ययन के विषय में ज्ञात कराया । पुनः उसको वेद पढ़ाने के लिए निवेदन किया । यहाँ द्वितीय वाक्य में एन आदेश युक्त 'एनम्' पद का प्रयोग किया गया है । इदम्+अम् (इदम्=एन) एन+अम् (पूर्वरूप) =एनम् । इसी प्रकार—'अनयोः कुलं पवित्रम्, एनयोः प्रभूतं स्वमिति ।' इस वाक्य में भी 'एनयोः' अन्वादेश का रूप है । षष्ठी द्विवचन में—एतद्+ओस्, (एतद्=एन)—एन+ओस् (अ=ए—'ओसि च') एने+ओस् (ए=अय् आदेश)—एनयोस् (स्=रु=:)= एनयोः । इसी प्रकार अन्वादेश में एनौ (औ), एनान् (शस्), एनेन (टा) रूप बनेंगे ।

नकारान्त पुंल्लिङ्ग राजन् (=राजा) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—राजन्+सु (उपधा दीर्घ)—राजान्+य्, ('स्' का लोप—'हल्ङ्याब्भ्यः') राजान् ('न्' का लोप—'नलोपः प्राति०')=राजा ।

(३०१) पद—न, ङि, सम्बुद्धयोः । **अनुवृत्ति**—नलोप । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—'ङि' और 'सम्बुद्धि' (सम्बोधन का एकवचन 'सु') के पर होने पर 'न्' का लोप नहीं होता । हे राजन् ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (२०२) से 'नलोपः' की अनुवृत्ति आती है । यह सूत्र 'नलोपः प्राति०' का बाधक है ।

उदाहरण—हे राजन्+सु (स् का लोप हो जाने पर 'नलोपः प्राति०' से 'न्' के लोप की प्राप्ति, उसका 'न ङिसम्बुद्धयोः' से निषेध)=हे राजन् !

(वा०) 'ङि' के विषय में उत्तरपद पर रहते 'न ङिसम्बुद्धयोः' से प्राप्त नलोप के निषेध का प्रतिषेध कहना चाहिए । इस वार्तिक द्वारा ब्रह्मन्+निष्ठः='ब्रह्मनिष्ठः' इत्यादि समासयुक्त स्थान में नलोप हो जाने से इष्ट रूप निष्पन्न होता है ।

(३०२) नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२। सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति-तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो, नान्यत्र —'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि–राजनि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः। **(३०३) न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७।** वमन्तसंयोगादनो-

---

(३०२) **नलोप इति।** सुप्च, स्वरश्च, संज्ञा च तुक् चेति द्वन्द्वः, तेषां विधयस्तेषु सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमि'ति नियमेन विधिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः। 'पूर्वत्रासिद्धमि'त्यतः 'असिद्धमि'त्यनुवर्तते। तदाह—**सुब्विधाविति। राजभ्यामिति।** 'राजन् + भ्याम्' इत्यत्र नलोपे कृते 'नलोपः' इत्यादिना नलोपस्यासिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घो न भवति, राजभ्यामिति।

ङि प्रत्यय का उदाहरण वेद में प्राप्त होता है। 'परमे व्योमन्' यहाँ ङि विभक्ति 'सुपां सुलुक्०' से लोप होने पर 'न्' लोप प्राप्त था, उसका प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध किया गया है।

(१) राजन्+औ (उपधादीर्घ)=राजानौ। (२) राजन्+जस् (अस्)—(उपधादीर्घ) —राजानस्, (स्=रु= :)=राजानः। (३) राजन्+अम् (उपधादीर्घ)—राजानम्। (४) राजन्+(औट्) औ (उपधादीर्घ)=राजानौ। (५) राजन्+(शस्) अस्, ('अन्' के 'अ' का लोप—'अल्लोपोऽनः') राज्न्+अस्, (न्=ञ्—श्चुत्व) राज् ञ्+अस् (ज्+ञ=ज्ञ्)—राज्ञस् (स=र्= :)=राज्ञः।

(३०२) पद—नलोपः, सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु, कृति। **अनुवृत्ति**—असिद्धः। **नियमसूत्र।**

मूलार्थ—सुप्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्ययपरक तुक्विधि में न का लोप असिद्ध रहता है, अन्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादि प्रयोगों में असिद्ध नहीं रहता। इस प्रकार नलोप असिद्ध होने से आत्व, एत्व तथा ऐस् विधियाँ नहीं होतीं। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि। राजनि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः।

विमर्श—यहाँ 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (८।२।१) से विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा 'असिद्धः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार सुप्विधि (कार्य), स्वर्विधि, संज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्यय पर रहने पर तुक् (आगम) विधि में 'न्' का लोप असिद्ध होता है। इनके अतिरिक्त दीर्घ आदि कार्यों में नलोप असिद्ध नहीं होता। यथा—(राज्ञः अश्वः) राजन्+अश्वः (न् लोप) राज+अश्वः (न् का लोप असिद्ध न होने से सवर्णदीर्घ)=राजाश्वः।

उदाहरण—(१) राजन्+भ्याम् ('न्' लोप होने पर, प्रकृत सूत्र द्वारा नलोप असिद्ध हो जाने से 'सुपि च' से दीर्घ नहीं होता)=राजभ्याम्। (२) राजन्+भिस् ('न' का लोप) राजभिस् (स्=रु=:)=राजभिः (यहाँ न लोप असिद्ध होने से भिस्=ऐस् नहीं होता। (३) राजन्+भ्यस् (नलोप, स=र्=:)=राजभ्यः (यहाँ न् लोप असिद्ध होने से 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व नहीं होता)। (४) राजन्+ङि (इ), ('अन्' के अ का विकल्प से लोप—'विभाषा ङिश्योः') राज् न्+इ (श्चुत्व न्=ञ्, ज्+ञ्=ज्ञ्)=राज्ञि। पक्ष में—राजनि।

(१) यज्वन् (=यज्ञकर्ता)+सु (स्), (उपधादीर्घ सु लोप) यज्वान् (न् का लोप) =यज्वा। (२) यज्वानौ (३) यज्वानः (राजन् शब्द की तरह बनते हैं)।

(३०३) पद—न संयोगात्, वमन्तात्। **अनुवृत्ति**—अल्लोपः, अनः। **विधि(निषेध)सूत्र।**

ऽकारस्य लोपो न । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा । (३०४) **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२ । एषां शावेवोपधाया दीर्घः । (३०५) सौ च ६।४।१३ । इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ । वृत्रहा । हे वृत्रहन् । (३०६)**

---

(३०३) **न संयोगादिति ।** वश्च मश्चेति द्वन्द्वः, वयावन्तौ यस्येति बहुव्रीहिः । 'अल्लोपोऽनः' इति सूत्रमनुवर्तते । अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम् । तदाह—**वमन्तेत्यादिना ।**

(३०४) **इन्हन्निति ।** 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इति, 'नोपधायाः' इत्यत उपधाया इति चानुवर्तते । 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्येव दीर्घे सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह— **शावेति ।**

(३०५) **सौ च इति ।** 'शौ'वर्जं इन्हन्निति सूत्रम्, 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घ इति, 'सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'असम्बुद्धौ' इति चानुवर्तते । तदाह—**इन्नादीनामिति । वृत्रहा इति ।** वृत्रं हतवानिति वृत्रहा इन्द्रः । 'वृत्रहन्+सु' इत्यत्र 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'सौ च' इति दीर्घे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपे 'वृत्रहा' इति ।

मूलार्थ—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए सम्पूर्ण 'अल्लोपोऽनः' सूत्र की अनुवृत्ति लाई जा रही है । तदनुसार मकारान्त और वकारान्त संयोग से परवर्ती 'अन्' के 'अ' का लोप नहीं होता ।

उदाहरण—(१) यज्वन्+शस् (अस्) ('अल्लोपोऽनः' से प्राप्त 'अ' लोप का प्रकृत सूत्र से निषेध, क्योंकि यहाँ वकारान्त संयोग से परे अन् है, लोप नहीं हुआ) यज्वनस् (स्=र्=:)=यज्वनः । (२) यज्वन्+टा ('अ' के लोप का निषेध)=यज्वना । (३) यज्वन्+भ्याम् (न् का लोप)=यज्वभ्याम् ।

इसी प्रकार नकारान्त ब्रह्मन् शब्द से शस् में 'ब्रह्मणः' तथा 'टा' विभक्ति में 'ब्रह्मणा' रूप बनते हैं ।

(३०४) पद—इन्हन्पूषार्यम्णां, शौ । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, उपधायाः । **नियमसूत्र ।**

मूलार्थ—केवल 'शि' के पर रहते—इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है; अन्यत्र नहीं ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'ढ्रलोपे०' (६।३।१११) से 'दीर्घः' तथा 'नोपधायाः (६।४।७) से 'उपधायाः' पदों की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ नकारान्त शब्दों में 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' सूत्र से स्वतः दीर्घ सिद्ध था; पुनः यह सूत्र नियम करता है कि इन् आदि शब्दों की उपधा को 'शि' परवर्ती होने पर ही दीर्घ हो, अन्यत्र नहीं ।

(३०५) पद—सौ, च । **अनुवृत्ति**—इन्हन्पूषार्यम्णाम्, दीर्घः, उपधायाः, असम्बुद्धौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' के पर रहते इन् आदि की उपधा को दीर्घ होता है । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ।

विमर्श—यह पूर्वसूत्र का अपवाद है । 'इन्हन्पूषार्यम्णाम्', 'ढ्रलोपे' (६।३।१११) से 'दीर्घः', 'सर्वनामस्थाने' (६।४।८) से 'असम्बुद्धौ' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'सम्बुद्धि-भिन्न सु विभक्ति के परवर्ती होने पर इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है ।

एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्थस्य नस्य णत्वं स्यात्। वृत्रहणौ। वृत्रहणः।
(३०७) हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४। ञिति णिति प्रत्यये ने च परे हन्तेर्हस्य कुत्वं

---

(३०६) **एकाजिति।** एकः अच् यस्मिन् तत् एकाच्। उत्तरपदश्च समासस्य चरमावयवे रूढः, तेन समास आक्षिप्यते। अत्र 'रषाभ्यां णो नः' इति, 'पूर्वपदात्संज्ञायामि'त्यतः 'पूर्वपदादि'ति, 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' इति चानुवर्तते। तदाह—**एकाजुत्तरपदमित्यादिना।** 'वृत्रहणावि'त्यत्र एकाजुत्तरपदं 'हन्' इति, तस्मिन्समासे 'वृत्रहन्नि'ति समुदायरूपे पूर्वपदं वृत्रेति, तत्र स्थितं निमित्तं रकारः, तस्मात्परस्य प्रातिपदिकान्तनकारस्य णकारः।

(३०७) **हो हन्तेरिति।** ह इति स्थानषष्ठी, हन्तेरित्यवयवषष्ठी। हन्तेरित्यत्र स्तिपा निर्देशाद् हन्धातोरिति लभ्यते। अङ्गस्येत्यधिकारात् ञ्णितोर्प्रत्ययत्वं लभ्यते। 'चजोः कु घिण्यतोः' इत्यतः 'कु' इत्यनुवर्तते। तदाह—**ञितीत्यादिना।**

उदाहरण—(१) वृत्रहन्+सु (उपधा दीर्घ)—वृत्रहान् स् (स् का लोप–'हल्ङ्याब्भ्यः') वृत्रहान् ('न्' का लोप)=वृत्रहा। (२) हे वृत्रहन्+सु (सम्बुद्धि परे होने से दीर्घ नहीं हुआ, नलोप का 'न ङि०' से निषेध, 'स्' का लोप)=हे वृत्रहन्।

(३०६) पद—एकाजुत्तरपदे णः। **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नः, पूर्वपदात्, प्रातिपदिकान्त-नुम् विभक्तिषु च। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—एक अच् है उत्तरपद में जिसके, ऐसा जो समास, उसमें पूर्वपदस्थित निमित्त रेफ सकार से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्ति में स्थित 'न्' को 'ण्' होता है। वृत्रहणौ। वृत्रहणः।

विमर्श—सूत्र में स्थानीवाचक पद का निर्देश नहीं किया गया है। अतः 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (८।४।१) से 'रषाभ्याम् नः', 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' से 'पूर्वपदात्' तथा 'प्राति-पदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' सूत्र की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार सूत्र का आशय यह है कि "जिस समस्त पद में उत्तरपद एक अच् वर्णात्मक हो, उस समास युक्त शब्द के पूर्व पद में स्थित र्, ष् से परे प्रातिपदिक के अन्त्य नकार, 'नुम्' के नकार तथा विभक्ति के नकार के स्थान पर णकार होता है।"

उदाहरण—(१) वृत्रहन्+औ (दीर्घ नहीं हुआ (३०४), 'न्'='ण्'—'एकाजुत्तरपदे णः')=वृत्रहणौ। (२) वृत्रहन्+जस् (अस्) (न्=ण्, स्=र्=ः)=वृत्रहणः।

(३०७) पद—हः, हन्तेः, ञ्णिन्नेषु। **अनुवृत्ति**—'कु'। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ञित्, णित् प्रत्यय तथा नकार परे रहते हन् धातु के 'ह्' को कुत्व (कवर्ग) होता है।

विमर्श—यहाँ 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।३।५२) से 'कु' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। तदनुसार ञ्-इत्संज्ञक, ण्-इत्संज्ञक अथवा 'न्' पर रहते ह् के स्थान पर (कु) कवर्गीय वर्ण 'घ्' होता है। क्योंकि कवर्गीय वर्णों में ह् के सदृश संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण प्रयत्नवान् 'घ्' ही है।

स्यात्। (३०८) हन्तेः ८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णः। प्रहण्यात्। (३०९) अत्पूर्वस्य ८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णो नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वेति न्यायं बाधित्वा 'कुमति चे'ति णत्वमपि निवर्त्तते। वृत्रघ्नः इत्यादि। एवं शार्ङ्गिन्। यशस्विन्। अर्यमन्। पूषन्। (३१०) मघवा बहुलम् ६।४।१२८। मघवन्शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः। ऋ इत्।

---

(३०८) **हन्तेरिति**। 'हन्तेरत्पूर्वस्ये'ति सूत्रं योगविभागेन व्याचष्टे। 'रषाभ्यां णो नः' इति 'उपसर्गादसमासेऽपि' इत्यत उपसर्गादिति चानुवर्तते। तदाह—**उपसर्गस्थादिति**।

(३०९) **अत्पूर्वस्येति**। अत्र 'हन्तेः' इति, 'रषाभ्यां नो णः' इति चानुवर्तते। उपसर्गादिति तु निवृत्तम्। हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णः स्यादिति लभ्यते। 'हन्तेः' इत्यनेनैव णत्वे सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—**हन्तेरत्पूर्वस्यैवेति**।

(३१०) **मघवेति**। 'अवर्णस्त्रसौ' इत्यतः तृ इत्यनुवर्तते। तदनुरोधात् 'मघवे'ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा। तदाह—**मघवन्नित्यादि**।

---

(३०८) पद—हन्तेः। **अनुवृत्ति**—रषाभ्यां नः णः, उपसर्गात्। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् धातु के 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है।

विमर्श—योगविभाग से 'हन्तेरत्पूर्वस्य' सूत्र को विभक्त कर प्रथम भाग 'हन्तेः' का विवेचन किया जा रहा है। सूत्रार्थ हेतु 'रषाभ्याम्' (८।४।१) से 'रषाभ्याम् नः णः' तथा 'उपसर्गादसमासेऽपि' (८।४।१४) से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति लाई जा रही है। तदनुसार—"उपसर्ग में स्थित निमित्त 'र्' तथा 'ष्' से पर 'हन्' धातु के 'न्' के स्थान पर 'ण्' होता है।"

उदाहरण—'प्र+हन्+यात्' (यहाँ 'प्र' उपसर्ग में स्थित 'र्' से पर हन् धातु के न्=ण्) =प्रहण्यात्।

(३०९) पद—अत्पूर्वस्य। **अनुवृत्ति**—हन्तेः, रषाभ्यां नः णः, उपसर्गात्। **नियमसूत्र**।

मूलार्थ—हन् धातु के अत् (ह्रस्व अकार) पूर्वक 'न्' को ही 'ण्' होता है, अन्य को नहीं। सूत्र का योगविभाग करने से 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वा' न्याय का बाधकर 'कुमति च' से प्राप्त णविधान की निवृत्ति हो जाती है। वृत्रघ्नः' इत्यादि।

विमर्श—'हन्तेरत्पूर्वस्य' के द्वितीय भाग की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। 'अत्पूर्वस्य' में 'हन्तेः', 'रषाभ्यां नो णः' तथा 'उपसर्गात्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "ह्रस्व अकार के पूर्व में रहने पर ही हन् धातु के 'न्' को 'ण्' होता है।" सूत्र द्वितीय भाग के नियम के लिए है। पृथक् योगविभाग का फल यह है कि 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' अर्थात् अनन्तर=अव्यवहित को विधान या निषेध होता है। परिभाषा का बाधकर 'एकाजुत्तरपदे णः' (८।४।१२), 'कुमति च' (८।४।१३) तथा 'प्रातिपदिकान्त०' (८।४।११) से प्राप्त णत्व का भी यह निवर्तक होता है।

उदाहरण—वृत्रहन्+शस् (अस्), ('अ्' का लोप—'अल्लोपोऽनः')—वृत्रह् न्+अस् (ह्=घ्—'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु'—वृत्रघ् नस् (यहाँ 'आ' पूर्व न होने से णत्व नहीं—'अत्पूर्वस्य' स्=र्=ः)=वृत्रघ्नः। इसी प्रकार शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन् तथा पूषन् शब्दों के रूप बनेंगे।

(३१०) पद—मघवा, बहुलम्। **अनुवृत्ति**—'तृ'। **विधिसूत्र**।

(३११) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७० । अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने । मघवान् । इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुलग्रहणात् । मघवन्तौ । मघवन्तः । मघवन्तम् । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे सुटि—राजवत् । (३१२) श्वयुवमघो-

---

(३११) **उगिदचामिति** । उक् प्रत्याहार इद् येषान्ते उगितः, ते च अच्च उगिदचस्तेषाम् । 'अच्' इति लुप्तनकारस्य 'अञ्चु गतिपूजनयोः' इति धातोर्ग्रहणम् । अधातोरित्युगितामेव विशेषणम्, न त्वचः, असम्भवात् । 'इदितो नुम्धातोः' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह—**अधातोरुगित इत्यादि । मघवानिति** । 'मघवन् + सु' इत्यत्र 'मघवा बहुलम्' इति विकल्पेन 'तृ' इत्यन्तादेशेऽनुबन्धलोपे मघवत् + स् इति जाते 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि 'मघवन् त् स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सस्य लोपे, तकारस्य संयोगान्तलोपे उपधादीर्घे 'मघवान्' इति । तृत्वाभावपक्षे—'मघवा' इति ।

मूलार्थ—मघवन् शब्द को विकल्प से 'तृ' अन्तादेश होता है ।

विमर्श—'अर्वणस्त्रसावनञः' (६।४।१२७) सूत्र से 'तृ' पद की अनुवृत्ति आ रही है । अलोऽन्त्य परिभाषा द्वारा मघवन् के अन्त्य वर्ण 'न्' के स्थान पर 'तृ' आदेश होता है; 'तृ' में ऋ की इत्संज्ञा होती है ।

(३११) पद—उगिदचां, सर्वनामस्थाने, अधातोः । **अनुवृत्ति**—नुम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—सर्वनामस्थान के पर होने पर धातुभिन्न जो उगित् और नलोपी अञ्च् धातु को 'नुम्' का आगम होता है । मघवान् । सूत्र में 'बहुल' पद का ग्रहण होने से दीर्घ की कर्तव्यता में संयोगान्त लोप असिद्ध नहीं होता । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । तृत्व के अभाव में मघवा । सुट् में—राजन् की तरह ।

विमर्श—यहाँ 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है । सूत्रस्थ उगित् का तात्पर्य है—जिसमें उक्—उ, ऋ, लृ वर्णों की इत्संज्ञा हो । 'अच्' पद से नलोप युक्त 'अञ्च्' धातु का ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों के पश्चाद्वर्ती होने पर धातुभिन्न उगित् और नकार लोप वाले अञ्च् धातु को नुम् का आगम होता है । 'नुम्' मित् होने से अन्त्य अच् से परे होगा ।

उदाहरण—(१) मघवन्+औ, (न्=तृ–त्)—मघवत्+औ, (नुम् (न्) का आगम)—मघवन् त्+औ=मघवन्तौ । (२) मघवन्+जस् (अस्) (न्=त्), मघवत्+औ (नुम् का आगम)=मघवन्तस्, (स्=र्=:)=मघवन्तः । (३) मघवन्+अम्=मघवन्तम् (पूर्ववत्प्रक्रिया) । (४) मघवन्+औट् (औ)=मघवन्तौ । (५) मघवन्+शस् (अस्) (सर्वनामस्थान परे न होने से नुम् नहीं हुआ)—मघवतस् (स्=र्=:)=मघवतः । (६) मघवत्+टा (आ)=मघवता । (७) मघवन्+भ्याम् (न्=त्; त्=द्—जश्त्व)=मघवद्भ्याम् । तृ—अन्तादेश के वैकल्पिक होने से उसके अभाव में सुट् (सु, औ, जस्, अम्, औट्) में—राजन् शब्द की तरह रूप बनते हैं ।

नामतद्धिते ६।४।१३३। अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। मघोनः मघवभ्यामित्यादि। एवं श्वन्, युवन्। (३१३) न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।

---

(३१२) **श्वयुवमघोनामिति।** [1]श्वा च युवा च मघवा चेति द्वन्द्वस्तेषाम्। 'वसोः सम्प्रसारणमि'त्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते। 'अल्लोपोऽनः' इत्यत अन इत्यनुकृष्यते। तच्च त्रयाणां विशेषणम्, तदन्तविधिः। भस्येत्यधिकृतमित्याह—**अन्नन्ताना-**

---

(३१२) पद—श्वयुवमघोनाम्, अतद्धिते। **अनुवृत्ति**—अनः, भस्य, सम्प्रसारणम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—तद्धितभिन्न प्रत्यय के पर रहते अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों को सम्प्रसारण होता है। मघोनः। मघवभ्याम्—इत्यादि।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'अनः' तथा 'वसोः सम्प्रसारणम्' (६।४।१३१) से 'सम्प्रसारणम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'श्वयुवमघोनाम्' का 'अनः' पद विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। 'भस्य' का अधिकार है, विशेष्यानुसार बहुवचन में परिवर्तित हो जाता है। तदनुसार—तद्धितभिन्न प्रत्यय के परवर्ती रहने पर अन्नन्त भसंज्ञक श्वन् आदि को सम्प्रसारण होता है।

उदाहरण—(१) मघवन्+शस् (अस्), (व्=उ—'सम्प्रसारण') मघ उ अन्+अस्, (उ+अ='उ'—पूर्वरूप) मघ उ नस् (अ+उ='ओ'—गुण)—मघोनस् (स्=र्=ः) =मघोनः। (२) मघवन्+भ्याम् (न् लोप)=मघवभ्याम्। इसी प्रकार श्वन् और युवन् शब्द के रूप बनते हैं।

नकारान्त पुँल्लिङ्ग मघवन् (=इन्द्र) शब्द के रूप

'तृ' अन्तादेश पक्ष में			तृत्वाभाव पक्ष में		
एक०	**द्वि०**	**बहु०**	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०–मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः	प्र०–मघवा	मघवानौ	मघवानः
द्वि०–मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः	द्वि०–मघवानम्	मघवानौ	मघोनः
तृ०–मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः	तृ०–मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः
च०–मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	च०–मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
पं०–मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः	पं०–मघोनः	मघवभ्याम्	मघवभ्यः
ष०–मघवतः	मघवतोः	मघवताम्	ष०–मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
स०–मघवति	मघवतोः	मघवत्सु	स०–मघोनि	मघोनोः	मघवसु
सं०–हे मघवन्	हे मघवन्तौ	हे मघवन्तः	सं०–हे मघवा	हे मघवानौ	हे मघवानः

---

१. अस्मिन् सूत्रे सुभाषितमेतत्प्रसिद्धं वर्तते—

'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम्। (प्रश्नः)
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥' (उत्तरम्)

हिन्दी अर्थ—माला गूँथती हुई बाला से किसी ने प्रश्न किया कि तुम काँच, मणि और स्वर्ण को एक ही माला में क्यों गूँथ रही हो? यह तो बड़ी विचित्र स्थिति है। तब उस बाला ने उत्तर दिया कि विचारशील आचार्य पाणिनि ने भी एक ही सूत्र में श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवक) और मघवन् (इन्द्र) को गूँथ दिया है।

३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य न सम्प्रसारणम्। यूनः। युवभ्यामित्यादि। अर्वा। हे अर्वन्! (३१४) अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७। नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः।

न्निति। **मघोन इति**। 'मघवन्+(शस्) अस्' इत्यत्र भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे वकारस्य उकारे 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपैकादेशो 'मघ उ नस्' इति जाते 'आद् गुणः' इति गुणे, सस्य रुत्वे तस्य विसर्गे च कृते मघोनः' इति।

(३१३) **न सम्प्रसारण इति**। 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्ये'ति परिभाषया 'पूर्वस्ये'त्युपतिष्ठते। तदाह—**सम्प्रसारणे परत इत्यादि। यून इति**। 'युवन्+शस्' इत्यत्र शस्येत्संज्ञायां लोपे भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामि'ति सम्प्रसारणे वकारस्योकारे पूर्वरूपे 'यु उन् अस्' इति जाते पुनः यकारस्य सम्प्रसारणे प्राप्ते, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमि'त्यनेन निषेधे सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'यूनः' इति।

(३१४) **अर्वणस्त्रसावनञ इति**। अर्वणः, तृ, असौ, अनञ इतिच्छेदः। न विद्यते नञ् यस्येति बहुव्रीहिः। अङ्गस्येत्यधिकृतम्, तच्चार्वणा विशेष्यते। तेन तदन्तविधिस्तदाह—**नञेत्यादिना**।

---

(३१३) पद—न सम्प्रसारणे, सम्प्रसारणम्। **विधि(निषेध)सूत्र।**

मूलार्थ—सम्प्रसारण पर रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। अतः 'य्' को इकार सम्प्रसारण नहीं हुआ। यूनः। युवभ्याम्—इत्यादि।

विमर्श—सूत्र पूर्ण है। यहाँ 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषा द्वारा 'पूर्वस्य' पद की उपस्थिति होती है। तदनुसार—यदि पूर्व वर्ण 'यण्' हो और पर वर्ण सम्प्रसारण हो तो पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता।

उदाहरण—(१) युवन्+शस् (अस्), (व=उ सम्प्रसारण—'श्वयुव०', पूर्वरूप) यु उ न्+अस्, (उ+उ=ऊ—'दीर्घ')—यूनस् (य् को सम्प्रसारण की प्राप्ति, उसका 'न सम्प्रसारणे०' से निषेध, स्=र्=ः)=यूनः। (२) युवन्+भ्याम् ('न्' का लोप)= युवभ्याम् इत्यादि।

अर्वन् (=घोड़ा) शब्द के विशिष्ट रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) अर्वन्+सु (सुलोप, दीर्घ—'सर्वनामस्थाने०')—अर्वान् ('न्' का लोप—'नलोपः प्राति०')=अर्वा। (२) हे अर्वन्+सु ('स्' विभक्ति का लोप)=हे अर्वन्!

(३१४) पद—अर्वणः, तृ, असौ, अनञः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सु-भिन्न विभक्ति के पर रहते नञ् रहित अर्वन् शब्द को 'तृ' अन्तादेश होता है। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वतः। अर्वद्भ्याम्।

विमर्श—यहाँ 'अङ्गस्य' का अधिकार है। वह अर्वन् का विशेषण है। इस प्रकार नञ् रहित अर्वन् अङ्ग के स्थान पर 'तृ' अन्तादेश होता है, किन्तु 'सु' परे रहते नहीं होता।

उदाहरण—(१) अर्वन्+औ, (न्=तृ (त)—'अर्वणः०') अर्वत+औ, ('नुम्'—'उगिदचाम्') अर्वन् त औ=अर्वन्तौ। (२) अर्वन्+जस् (अस्) (न्=त, नुम्)—अर्वन्तस् (स्=र्=ः)=अर्वन्तः। (३) अर्वन्+ङसि अथवा ङस् (अस्), (न्=त)—अर्वतस्

अर्वतः । अर्वद्भ्याम् । (३१५) पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५ । एषामकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे । (३१६) इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६ । पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने । (३१७) थो न्थः ७।१।८७ । पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनाम-

---

(३१५) **पथिमथ्यृभुक्षामादिति ।** अत्र 'सावनडुहः' इत्यतः सावित्यनुवर्तते । 'अलोऽन्त्यस्ये'ति परिभाषयाऽन्त्यस्यादेशो भवतीति आह—**एषामिति ।**

(३१६) **इतोऽदिति ।** 'पथिमथ्यृभुक्षामि'त्यनुवर्तते । भाव्यमानत्वादेव सवर्णाग्राहकत्वे अदिति तपरकरणं स्पष्टार्थमेवेत्याह—**पथ्यादेरित्यादि ।**

(३१७) **थो न्थ इति ।** 'थः' इति षष्ठ्यन्तम् । आदेशेऽकार उच्चारणार्थः । पूर्वसूत्रात् पथिमथिग्रहणमनुवर्तते 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति च । तदाह—**पथिमथोरित्यादिना । पन्था इति ।** 'पथिन् + सु' इत्यत्र 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्यनेन आकारान्तादेशे, 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यनेन चेकारस्याकारादेशे 'पथ आ सु' इति जाते 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे, सवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'पन्थाः' इति रूपम् ।

(स्=रु=ः)=अर्वतः । (४) अर्वन्+भ्याम् (न्=त=द्—जश्त्व)=अर्वद्भ्याम् । शेष रूप 'मघवत्' शब्द की तरह बनेंगे ।

(३१५) पद—पथिमथ्यृभुक्षाम् , आत् । **अनुवृत्ति**—सौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सुविभक्ति पर रहते पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्दों को आकार अन्तादेश होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए—'सावनडुहः' (२८१) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आती है ।

(३१६) पद—इतः, अत्, सर्वनामस्थाने । **अनुवृत्ति**—पथिमथ्यृभुक्षाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सर्वनामस्थान पर रहते पथिन् आदि शब्दों के इकार को अकार अन्तादेश होता है ।

विमर्श—यहाँ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (३१५) से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार सर्वनामसंज्ञक विभक्तियों के परवर्ती होने की स्थिति में पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के इकार के स्थान में ह्रस्व अकार आदेश होता है ।

(३१७) पद—थः, न्थः । **अनुवृत्ति**—पथिमथोः, सर्वनामस्थाने । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—सर्वनामस्थान पर रहते पथिन् और मथिन् के 'थ्' को 'न्थ्' आदेश होता है । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (३१६) से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'मथिमथ्यृभुक्षामात्' (३१५) से 'पथिमथोः' की अनुवृत्ति आती है । 'ऋभुक्षिन्' में 'थ्' न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं आती । इस प्रकार सर्वनामस्थानसंज्ञक विभक्तियों के पर रहने पर पथिन्, मथिन् के शब्दावयव 'थ्' के स्थान पर न्थ् आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) पथिन्+सु (न्=आ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्') पथि+आ+स् , (इ=अ —'इतोऽत्०') पथ आ+स् ('थ्'='न्थ्—'थो न्थः'), पन्थ+आ+स् (अ+आ='आ' सवर्ण-

स्थाने । पन्थाः । हे पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । (३१८) **भस्य टेर्लोपः ७।१।८८ ।** भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात् । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवं मन्थाः । ऋभुक्षाः । (३१९) **ष्णान्ता षट् १।१।२४ ।** षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात् । पञ्च-२ । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः-२ । 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति नुट् । (३२०) **नोपधायाः ६।४।७ ।**

---

(३१८) **भस्य टेर्लोप इति ।** 'पथिमथ्यृभुक्षामि'त्यनुवर्तते । तदाह—**भस्येति ।** **पथ इति ।** 'पथिन् अस्' इति स्थिते इनो लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च पथ इति ।

(३१९) **ष्णान्ता षडिति ।** ष् च नश्च ष्णौ ष्टुत्वेन नकारस्य णकारः । ष्णौ अन्तौ यस्याः सा ष्णान्ता । 'बहुगण' इत्यतः 'संख्या' इत्यनुवर्तते । संख्याशब्देनात्र स्वरूपपरतया संख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकबोधजनकाः पञ्चादयो गृह्यन्ते । तदाह—**षान्तेत्यादिना । पञ्च इति ।** 'पञ्चन् + जस्' इत्यत्र 'ष्णान्ता षट्' इति पञ्चन्शब्दस्य षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि, 'नलोपः प्राति०' इति नकारस्य लोपे 'पञ्च' इति रूपम् । एवमेव शसि 'पञ्च' इति रूपम् ।

दीर्घ, स्=र्=ः)=पन्थाः । (२) इसी प्रकार—हे पन्थाः । (३) पथिन्+औ, (इ=अ—'इतोऽत्०' (पथ न्+औ, (थ्=न्थ्)—पन्थन्+औ (उपधादीर्घ)=पन्थानौ । (४) पथिन्+जस् (अस्), (इ=अ, थ्=न्थ्) पन्थन्+अस्, (उपधादीर्घ, स्=रु=ः)=पन्थानः ।

(३१८) पद—भस्य, टेः, लोपः । **अनुवृत्ति**—पथिमथ्यृभुक्षाम् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—भसंज्ञक पथिन् आदि की 'टि' का लोप होता है । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवम्—मन्थाः, ऋभुक्षाः ।

विमर्श—'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (३१५) से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार 'भसंज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् की टि (अन्त्य अच् वर्ण सहित समुदाय) का लोप होता है ।'

उदाहरण—(१) पथिन्+शस् (अस्) (टि-इन् का लोप)—पथ्+अस् (स्=र्=ः) =पथः । (२) पथिन्+भ्याम् ('न्' का लोप)=पथिभ्याम् । (३) पथिन्+भ्यस् ('न्' लोप, स्=र्=ः)=पथिभ्यः ।

पथिन् (=रास्ता) शब्द के रूप—पुँल्लिङ्ग

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	पं०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः	ष०	पथः	पथोः	पथाम्
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	स०	पथि	पथोः	पथिषु
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः	सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

इसी प्रकार मथिन् (=मथने वाली रई) तथा ऋभुक्षिन् (=इन्द्र) शब्दों के रूप बनेंगे ।

(३१९) पद—ष्णान्ता, षट् । **अनुवृत्ति**—संख्या । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—षान्त, नान्त संख्यावाचक शब्दों की 'षट्' संज्ञा होती है । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः ।

विमर्श—यह संज्ञासूत्र है । यहाँ 'बहुगणवतुडति संख्या' से 'संख्या' पद की अनुवृत्ति आती है । संख्यावाची शब्द जो षकारान्त और नकारान्त हों—षट्संज्ञक होते हैं ।

नान्तस्योपधाया दीर्घो, नामि । पञ्चानाम् । पञ्चसु । (३२१) अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४ । 'अष्टन्'शब्दस्याऽऽत्वं वा हलादौ । (३२२) अष्टाभ्य औश् ७।१।२१ । कृताऽऽकारादष्टनो जश्शसोरौश् । 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति । वैकल्पिकञ्चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घादि'ति ज्ञापकात् । अष्टौ–२ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः–२ । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाभावे–अष्ट । पञ्च-

---

(३२०) **नोपधाया इति ।** नुटि नलोपे तु तस्याऽसिद्धत्वान्नामीति न प्रवर्तते, अत एवेदं सूत्रमारभ्यते । नेति लुप्तषष्ठीकं पदम्, तच्चाङ्गस्य विशेषणतया तदन्त-ग्राहकम् । 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'दीर्घः' इति, 'नामि' इति सूत्रञ्चानुवर्तते । तदाह—**नान्तस्येत्यादि ।**

(३२१) **अष्टन इति ।** 'रायो हलि' इत्यतः 'हली'त्यपकृष्यते, तस्य विभक्ते-र्विशेषणतया यस्मिन्विधिरिति परिभाषया तदादिविधिः । 'अष्टनो दीर्घादि'ति सूत्रे दीर्घग्रहणसामर्थ्यादस्य आत्वस्य वैकल्पिकत्वं ज्ञायते । तदाह—**अष्टन्निति ।**

(३२२) **अष्टाभ्य इति ।** अत्र 'जश्शसोः शिः' इत्यतः जश्शसोरित्यनुवर्तते । यस्मिन्नष्टन् शब्दे आत्वं कृतं तस्मात्कृताकारादष्टाशब्दात्परयोर्जश्शसोरौश् स्यादित्यर्थः ।

उदाहरण—(१) पञ्चन्+जस् (षट्संज्ञा होने पर जस् का लुक्—'षड्भ्यो लुक्')= पञ्च । इसी प्रकार 'शस्' में भी=पञ्च । (२) पञ्चन्+भिस् ('न्' का लोप, स्=र्=ः)= पञ्चभिः । (३) पञ्चन्+भ्यस् (न् का लोप, स्=रु=ः)=पञ्चभ्यः ।

(३२०) पद—नः, उपधायाः । **अनुवृत्ति**—दीर्घः, नामि, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—नाम् पर रहते नान्त की उपधा को दीर्घ होता है । पञ्चानाम् । पञ्चसु ।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए—'ढ्रलोपे पूर्वस्य' (१२८) से 'दीर्घः' तथा 'नामि' (१६६) सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है । अङ्गस्य का अधिकार है । 'नः' पद उसका विशेषण है । अतः तदन्तविधि होती है । तदनुसार—नकारान्त अङ्ग की उपधा को 'नाम्' के पश्चाद्वर्ती रहने पर दीर्घ होता है ।

उदाहरण—(१) पञ्चन्+आम्, (नुट् (न्) का आगम—'षट्चतुर्भ्यश्च') पञ्चन् न् आम्, (उपधादीर्घ—'नोपधायाः') पञ्चान् नाम्, (न् का लोप—'नलोपः प्राति०')=पञ्चानाम् । (२) पञ्चन्+सुप् (सु), (न् का लोप)=पञ्चसु ।

(३२१) पद—अष्टनः, आ, विभक्तौ । **अनुवृत्ति**—हलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—हलादि विभक्ति के पर रहते अष्टन् शब्द को विकल्प से आत्व होता है ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'रायो हलि' से 'हलि' पद की अनुवृत्ति आती है । 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है । इस प्रकार—हलादि विभक्ति के परवर्ती होने पर अष्टन् शब्द के अन्त्य वर्ण 'न्' को (अलोऽन्त्यपरिभाषा से) 'आ' आदेश होता है ।

(३२२) पद—अष्टाभ्यः, औश् । **अनुवृत्ति**—जश्शसोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—कृताकार अष्टन् शब्द से परे जस्-शस् को औश् आदेश होता है । 'अष्टभ्यः' के स्थान पर 'अष्टाभ्यः' कहना जश्-शस् के विषय में आत्व विधि का ज्ञापन है । अष्टौ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्व के अभाव में—अष्ट । पञ्चन् शब्द की तरह ।

वत्। (३२३) **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९।** एभ्यः क्विन्। अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः—केवलयोः क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ। (३२४) **कृदतिङ् ३।१।९३।** अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।

अष्टौ। अष्टन्शब्दाज्जसि 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेनाकारान्तादेशे सवर्णदीर्घे 'अष्टा+जस्' इति जाते, 'अष्टाभ्य औश्' इति जसः स्थाने 'औश्' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति।

(३२३) **ऋत्विगिति।** अत्र 'धातोः' इत्यधिक्रियते। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः 'क्विन्' इत्यनुवर्तते, पञ्चम्यर्थेऽत्र षष्ठी। तदाह—**एभ्य इति।**

(३२४) **कृदतिङ् इति।** धातोरित्यधिक्रियते प्रत्यय इति च। धातोरिति विहितविशेषणम्, धातोर्विहितो यः प्रत्यय इति लभ्यते। तदाह—**अत्रेति।**

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता हेतु 'जश्शसोः शिः' से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—'आकार अन्तादेश होने पर अष्टन् शब्द से पर जस्, शस् के स्थान में 'औश्' (औ) आदेश होता है। यह सूत्र 'षड्भ्यो लुक्' का अपवाद है।

उदाहरण—(१) अष्टन्+जस् (न्=आ—'अष्टन आ') अष्ट आ+जस्, (जस्=औश् (औ)—'अष्टाभ्य ओश्') अष्ट आ+औ, (अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ)—अष्टा+औ (आ +औ=औ—'वृद्धि')=अष्टौ। शस् में भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार 'अष्टौ' रूप बनता है। (२) अष्टन्+भिस्, (न्=आ, सवर्णदीर्घ)—अष्टा+भिस् (स्=र्=ः)=अष्टाभिः। (३) अष्टन्+भ्यस् (न्=आ, दीर्घ, स्=रु=ः)=अष्टाभ्यः। (४) अष्टन्+आम्, (नुट् का आगम)—अष्टन्+नाम्, (नुट् होने पर हलादि विभक्ति मानकर न्=आ—सवर्णदीर्घ) =अष्टानाम्। (५) अष्टन्+सुप् (सु), (न्=आ, दीर्घ)=अष्टासु। आत्व के विकल्प से होने पर उसके अभाव में पञ्चन् शब्द की तरह रूप बनेंगे। जश्, शस् में—अष्ट-२।

(३२३) पद—ऋत्विक्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगन्चुयुजिक्रुञ्चां, च। **अनुवृत्ति**—धातोः, प्रत्ययः, परश्च, क्विन्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ऋत्विज् आदि शब्द क्विन्प्रत्ययान्त निपातित होते हैं। अञ्च् धातु से सुप् उपपद रहते। युजि, क्रुञ्च् केवल धातु से क्विन् प्रत्यय होता है। क्रुञ्च् धातु से क्विन् और नलोप का अभाव भी निपातनात् होता है। क्विन् प्रत्यय में क् और न् की इत्संज्ञा लोप होता है।

विमर्श—यहाँ 'प्रत्ययः' 'परश्च' तथा 'धातोः' का अधिकार है। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (३।२।५८) से 'क्विन्' पद की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार सूत्रोक्त ऋत्विक्, दधृक्, स्रक्, दिक् और उष्णिक् शब्द क्विन्प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध होते हैं। √अन्चु, √युजि एवं √क्रुञ्च धातुओं से भी क्विन् प्रत्यय होता है। सूत्रोक्त सिद्ध रूपों के निर्देश से यह ज्ञात होता है कि तत्तत् रूपों में आचार्य पाणिनि को सूत्रों से विधान न किये गये कुछ अन्य कार्य भी स्वीकार्य हैं। इस प्रकार के कार्यों को 'निपातन'[1] कहा गया है। अतः अन्चु धातु से सुबन्त उपपद रहते ही क्विन् प्रत्यय होता है। युज् और क्रुञ्च् धातुओं से बिना उपपद के ही क्विन्प्रत्यय होता है। क्रुञ्च् में न् लोप के अभाव का भी निपातन होता है।

---

१. 'धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्॥'—महाभाष्यप्रदीपः (५।१।११४)

(३२५) वेरपृक्तस्य ६।१।६७। लोपः। (३२६) क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात्पदान्ते। ऋत्विक्–ऋत्विग्। ऋत्विजौ।

---

(३२५) **वेरपृक्तस्येति**। 'लोपो व्योर्वलि' इत्यतः लोप इत्यनुवर्तते। विशब्देनात्र क्विन्क्विप्विचां ग्रहणम्, केवलस्य वेः प्रत्ययस्याभावादिति।

(३२६) **क्विन्प्रत्ययस्येति**। पदस्येत्यधिकृतम्। 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्सः क्विन्प्रत्यय इति तद्गुणसंविज्ञो बहुव्रीहिः। तदाह—**क्विन्प्रत्यय इत्यादि**। **ऋत्विगिति**। ऋतुपदे उपपदे युज्धातोः 'ऋत्विग्द-धृक्–' इत्यादिना क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां, 'हलन्त्यमि'ति नकारस्येत्संज्ञायां तयोर्लोपे, इकारस्योच्चारणार्थत्वे 'वचिस्वपि०' इति यजेः सम्प्रसारणे पूर्वरूपैकादेशे 'कृदतिङ्' इति प्रत्ययस्य कृत्संज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इति वस्य लोपे 'ऋतु + इज्' इति जाते यणि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ ऋत्विज् + स् इति स्थिते, 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कवर्गान्तादेशे जकारस्य गकारे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वेन ककारे ऋत्विक्, पक्षे ऋत्विगिति।

---

(३२४) पद—कृत्, अतिङ्। **अनुवृत्ति**—धातोः, प्रत्ययः। **संज्ञासूत्र**।

मूलार्थ—इस (सन्निहित) 'धातोः' के अधिकार में पठित तिङ्भिन्न प्रत्ययों की कृत्संज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ 'धातोः' (३।१।९२) तथा 'प्रत्ययः' (३।१।१) का अधिकार है। तदनुसार—'धातु के अधिकार में पठित तिङ्भिन्न प्रत्यय कृत्संज्ञक होते हैं।'

(३२५) पद—वेः, अपृक्तस्य। **अनुवृत्ति**—लोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) से 'लोपः' पद की अनुवृत्ति आती है।

(३२६) पद—क्विन्प्रत्ययस्य, कुः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—क्विन्प्रत्यय जिससे किया जाय, उसको पदान्त में कवर्ग अन्तादेश होता है। ऋत्विक्–ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

विमर्श—'पदस्य' का अधिकार है। 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'पदस्य' का अन्ते के साथ अन्वय होता है। इस प्रकार क्विन् प्रत्यय जिससे विहित हो, उसको पदान्त में कवर्ग अन्तादेश होगा।

उदाहरण—ऋतु + √यज् (क्विन्प्रत्यय—'ऋत्विग्दधृक्०' से, क्विन् में 'लशक्वतद्धिते' से 'क्' की तथा 'हलन्त्यम्' से न् की इत्संज्ञा होती है, इकार उच्चारणार्थक है। अवशिष्ट 'व' की कृत्संज्ञा 'कृदतिङ्' से। 'वेरपृक्तस्य' से व् का लोप) (उ=व्—यण्)=ऋत्विज् ('कृत्तद्धित-समासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सु') (१) ऋत्विज् (यज्ञकर्ता)+सु (स्), (स्—विभक्ति का लोप) ऋत्विज्, (ज्=ग्—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः')—ऋत्विग् (ग्=क्—विकल्प से—'वाऽवसाने')=ऋत्विक्। पक्ष में—ऋत्विग्। (२) ऋत्विज्+औ=ऋत्विज्+भ्याम् (ज्=ग्)=ऋत्विग्भ्याम्।

ऋत्विग्भ्याम्। (३२७) युजेरसमासे ७।१।७१। युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्–३। असमासे किम्? (३२८) चोः कुः ८।२।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्–सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुजा। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ।

---

(३२७) **युजेरसमासे इति।** अत्र 'उगिदचाम्०' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति, 'इदितो नुम्' इत्यतः 'नुमि'त्यनुवर्तते। तदाह—**युजेरित्यादिना।**

(३२८) **चोः कुरिति।** अत्र 'पदस्ये'त्यधिक्रियते। 'स्कोः' इत्यतः 'अन्ते' इत्यनुवर्तते। तदाह—**चवर्गस्येत्यादिना।**

---

(३२७) पद—युजेः, असमासे। **अनुवृत्ति**—नुम्, सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—समास के अतिरिक्त सर्वनामस्थान पर रहते युज् धातु को 'नुम्' होता है। सुलोप। संयोगान्त लोप। कुत्व से न्=ङ्। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्। असमासे क्यों कहा?

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए—'उगिदचाम्०' (७।१।७०) से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।८५) से 'नुम्' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार—समास-भिन्न क्विन्प्रत्ययान्त 'युज्' को नुम् का आगम होता है, सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते।

उदाहरण—(१) √युज्+क्विन् (पूर्ववत् क्–न् की इत्संज्ञा लोप होने पर 'व्' की कृत्संज्ञा 'वेरपृक्तस्य' से व् का लोप)=युज् (=योग देने वाला)+सु (स्), (नुम् (न्) का आगम—'युजेरसमासे') युन् ज्+स् (स् का लोप, ज् का संयोगान्त लोप) युन् (न्=ङ् 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः')=युङ्। (२) युज्+औ, (नुम्)—यु न् ज्+औ (न्=अनुस्वार—'नश्चापदान्तस्य झलि', अनुस्वार='ञ्' परसवर्ण)=युञ्जौ। (३) युज्+जस्=युञ्जः (पूर्ववत्)। (४) युज्+भ्याम् (ज्=ग्—'कुत्व')=युग्भ्याम्।

प्रत्युदाहरण—सूत्र में 'असमास में नुम् हो' ऐसा कहने से 'सुष्ठु युनक्ती'ति 'सुयुज्'—(सु+√युज्+क्विप्) में नुम् नहीं होता। पूर्वसूत्र से प्राप्त कुत्व असिद्ध होने के कारण कुत्व-विधायक सूत्र का उल्लेख किया जा रहा है।

(३२८) पद—चोः, कुः। **अनुवृत्ति**—झलि, अन्ते, पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—झल् पर रहते और पदान्त में चवर्ग को कवर्ग आदेश होता है। सुयुक्–सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुजा। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खञ्जः।

विमर्श—सूत्र में निमित्तवाचक पदों का अभाव है। अतः 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः' (३३१) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है, उसका 'अन्ते' के साथ अन्वय होता है। इस प्रकार पदान्त में अथवा झल्-प्रत्याहारस्थ वर्णों के पर रहते 'च' वर्ग के स्थान में 'क' वर्ग आदेश होता है।

उदाहरण—(१) सुयुज्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, ज्=ग्)—सुयुग् (ग्=क्—'वैकल्पिक चर्त्व')=सुयुक्। पक्ष में=सुयुग्। (२) सुयुज्+औ=सुयुजौ। (३) सुयुज्+जस् (अस्), (स्=रु=:)=सुयुजः। (४) सुयुज्+टा (आ)=सुयुजा। (५) सुयुज्+भ्याम् (ज्=ग्)=सुयुग्भ्याम्।

खञ्ज् (=लंगड़ा) शब्द की रूप-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—(√खजि+क्विप् (क्विप् का सर्वापहारी लोप नुम्) खन्ज् (अनुस्वार, परसवर्ण)=खञ्ज्। (१) खञ्ज्+सु

खञ्जः । खन्भ्याम् । (३२९) व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६ । व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षः स्याज्झलि, पदान्ते च । जश्त्वचर्त्वे । राट्-राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं—विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् । परिमृट् । * परौ व्रजेः षः पदान्ते * परावुपपदे व्रजेः क्विप् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि । परित्यज्य सर्वं व्रज-

---

(३२९) **व्रश्चेति ।** 'झलो झलि' इत्यतः 'झलि' इति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतः 'अन्ते' इति चानुवर्तते । पदस्येत्यधिकृतम् । तदाह—**व्रश्चादीनामित्यादि । 'राट्' इति ।** राज्+सु इत्यत्र सोर्लोपे 'वश्चभ्रस्ज०' इति षकारान्तादेशे 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य डत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन डस्य टत्वे 'राट्' इति । पक्षे 'राडि'ति रूपम् ।

(स्), (स—विभक्ति का लोप, संयोगान्त ज् का लोप, ञ्=न्—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' के अनुसार निमित्त ज् के हट जाने से, उसी के कारण होने वाले अनुस्वार-परसवर्ण भी हट गए)=खन् । (२) खञ्+औ=खञ्जौ । (३) खञ्+जस्=खञ्जः । (४) खञ्ज्+भ्याम् (ज् का लोप, ञ्=न्)=खन्भ्याम् ।

(३२९) पद—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां, षः । **अनुवृत्ति**—झलि, अन्ते, पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झल् पर रहते अथवा पदान्त में व्रश्च आदि सात धातुओं को तथा छकारान्त और शकारान्त को षकारान्त आदेश होता है । राट्-राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । (वा०—परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विप् होता है, (उपधा अकार) को दीर्घ होता है तथा पदान्त में षत्व भी होता है ।) सब कुछ छोड़कर जाने वाला—अर्थ वाले परिव्राज् शब्द के 'सु' में परिव्राट् । परिव्राजौ ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए—'झलो झलि' से 'झलि' तथा 'स्कोः' (३३१) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है । 'पदस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"√व्रश्च् (=काटना), भ्रस्ज् (=भूनना), सृज् (=उत्पन्न करना), मृज् (=पवित्र करना), यज् (=यज्ञ करना), राज् (=शोभित होना), भ्राज् (=प्रदीप्त होना) धातुओं तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के अन्त्यवर्ण के स्थान पर 'ष्' आदेश होगा ।"

उदाहरण—(१) (राज्+क्विप्)=राज्+सु (स्), (सु लोप, ज्=ष्—'व्रश्चभ्रस्ज०') राष्, (ष्=ड्—जश्त्व, ड=ट् विकल्प से—'वाऽवसाने')=राट् । पक्ष में=राड् । (२) राज्+औ=राजौ । (३) राज्+जस् (अस्), (स्=रु=ः)=राजः । (४) राज्+भ्याम् (ज्=ष्, जश्त्व से ष्=ड्)=राड्भ्याम् ।

इसी प्रकार विभ्राज् (=सूर्य), देवेज् (=देवताओं का पूजक), विश्वसृज् (=संसार का सृष्टिकर्ता) और परिमृज् (=शुद्ध करने वाला) शब्दों के प्रथमा एकवचन सु विभक्ति में क्रमशः—विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट् और परिमृट् रूप बनते हैं । (वा०) परि-उपसर्गपूर्वक √व्रज् धातु से क्विप् प्रत्यय दीर्घ तथा पदान्त में 'ष्' आदेश होता है । सर्वं परित्यज्य व्रजति (सब कुछ त्यागकर जाता है) अर्थ में 'परिव्राज्' शब्द है । (१) परिव्राज्+सु (स्), (स् लोप, ज्=ष्)—परिव्राष्, (ष्=ड् तथा वैकल्पिक चर्त्व ड्=ट्)=परिव्राट् । पक्ष में=परिव्राड् । (२) परिव्राज्+औ=परिव्राजौ ।

तीति—परिव्राट्। परिव्राजौ। (३३०) **विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८।** विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम्। विश्वाराट्। विश्वाराजौ। विश्वाराड्भ्याम्। (३३१) **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९।** पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः। भृट्-भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' इति शस्य जः। भृज्जौ। भृज्जः। भृड्भ्याम्। त्यदाद्यत्वं, पररूप-

---

(३३०) **विश्वस्येति।** अत्र 'ढ्रलोपे पूर्वस्ये'त्यतः 'दीर्घः' इति सम्बध्यते।

(३३१) **'स्कोः संयोगाद्योरन्ते चे'ति।** पदस्येत्यधिक्रियते। चकारात् 'झलो झलि' इत्यतो झलीत्यनुवर्तते। 'संयोग' इति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम्। स् च् क् च स्कौ, तयोः स्कोरिति। 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यत 'लोपः' इत्यनुवर्तते। तदाह—**पदान्त इत्यादिना। भृट् इति।** भृस्ज्+सु इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे 'स्कोः' इत्यादिना सकारस्य लोपे 'व्रश्चे'त्यादिना जकारस्य षकारे, तस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति डकारे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वे 'भृट्' इति। पक्षे 'भृड्' इत्युभयं रूपं सिद्धम्।

---

(३३०) पद—विश्वस्य, वसुराटोः। **अनुवृत्ति**—दीर्घः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—वसु और राट् शब्द के पर रहते विश्व शब्द को दीर्घ होता है।

विमर्श—यहाँ 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) से आदेशवाची 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—वसु अथवा राट् शब्द के पश्चाद्वर्ती होने पर विश्व शब्द के अन्त्य अच् को दीर्घ विधान होगा। यहाँ राट् पदान्त का उपलक्षण है। इससे राट् और राड् का ग्रहण होगा।

उदाहरण—(विश्वराज्+क्विप्)—(१) विश्वराज्+सु, (सु लोप ज्=ष्) विश्वराष्, (ष्=ड्, वैकल्पिक चर्त्व से ड्=ट्, अ='आ' दीर्घ—'विश्वस्य')=विश्वाराट्-विश्वाराड्। (२) विश्वाराज्+औ=विश्वाराजौ। (३) विश्वराज्+भ्याम् (ज्=ष्, ष्=ड् दीर्घ)= विश्वाराड्भ्याम्।

(३३१) पद—स्कोः, संयोगाद्योः, अन्ते च। **अनुवृत्ति**—झलि, लोपः, पदस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में अथवा झल् पर रहते संयोग के आदि में स्थित सकार और ककार का लोप होता है। भृट्, भृड्। भृजौ। भृजः। भृड्भ्याम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से 'लोपः' तथा 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' पद की अनुवृत्ति आती है। अधिकार से प्राप्त 'पदस्य' अन्ते के साथ अन्वित होता है।

उदाहरण—(१) भृस्ज्+सु ('सु'लोप, यहाँ पदान्त में स्थित संयोग के आदि वर्ण 'स्' का लोप—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च') भृज्, (ज्=ष्)—भृष्, (ष्=ड्, 'झलां जशोऽन्ते') भृड् (ड्=ट् 'वाऽवसाने')=भृट्। पक्ष में=भृड्। (२) भृस्ज्+औ, (स्=श्—श्चुत्व) भृश्ज्+औ, (श्=ज्—'झलां जश् झशि')=भृजौ। (३) इसी प्रकार जस् में=भृजः। (४) 'भ्याम्' में=भृड्भ्याम्।

त्वम्। (३३२) तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६। त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ। स्यः। त्यौ। त्ये। सः। तौ। ते। यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः-२। (३३३) ङे प्रथमयोरम् ७।१।२८। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः। (३३४) त्वाहौ सौ

---

(३३२) **तदोः स इति।** 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्। 'त्यदादीनामः' इत्यतः 'त्यदादीनामि'त्यनुवर्तते। 'तदोरि'त्यत्र तकाराद्कारः 'सः' इत्यत्राकारश्च उच्चारणार्थः। तदाह—**त्यदादीनामित्यादि।**

(३३३) **ङे प्रथमयोरमिति।** 'ङे' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्, प्रथमापदेनात्र प्रथमा-द्वितीययोर्ग्रहणं भवति। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामित्यनुवर्तते, परशब्दोऽध्याहर्तव्य इत्याह—**युष्मदस्मद्भ्यामित्यादिना।**

---

(३३२) पद—तदोः, सः, सौ, अनन्त्ययोः। **अनुवृत्ति**—त्यदादीनाम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' पर रहते त्यदादिकों के अन्त्य भिन्न तकार व दकार को सकार होता है। स्यः। त्यौ। ते। सः। तौ। ते। यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'त्यदादीनामः' (६।२।१०२) से 'त्यदादीनाम्' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार 'सु' विभक्ति के पर होने पर त्यदादि शब्दों के अन्त में न रहने वाले (अनन्त्य) 'त्' और 'द्' के स्थान पर 'स्' आदेश होगा।

उदाहरण—(१) त्यद्+(सु) (द्=अ 'त्यदादीनामः', पररूप)—त्य+स्, (त्=स्-'तदोः') स्य+स् (स्=रु=ः)=स्यः। (२) त्यद्+औ, (द्=अ, पररूप) त्य+औ (वृद्धि)=त्यौ। (३) त्यद्+जस् (द्=अ, पररूप, जस्=शी-ई)=त्य+ई (अ+ई='ए'—गुण)=त्ये।

तद् (=वह) शब्द के रूप भी इसी प्रकार—सः, तौ, ते बनते हैं।

यत (=जो) शब्द के रूप भी इसी प्रकार बनेंगे—यः, यौ, ये। एतद् (=वह)+सु (स्) (द्=अ, पररूप)—एत+स् (त्=स्—'तदोः') एस+स् (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः' स्=रुः)=एषः। एतद्+औ=एतौ। एतद्+जस्=एते।

यहाँ 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से द्वितीया विभक्ति और 'टा' 'ओस्' विभक्ति के परे अन्वादेश में 'एतद्' शब्द को 'एन' आदेश होने पर—एनम् (अम्), एनौ (औ), एनान् (शस्), एनेन (टा), एनयोः (ओस्)।

युष्मद् (=तुम), अस्मद् (=मैं) शब्दों की रूप-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—

(३३३) पद—ङे प्रथमयोः, अम्। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द से पर 'ङे' और प्रथमा, द्वितीया विभक्ति को 'अम्' आदेश होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'ङे' पद लुप्तषष्ठ्यन्त है। 'प्रथमयोः' पद प्रथमा-द्वितीया विभक्तियों के अर्थ में लाक्षणिक है। अतः युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परवर्ती 'ङे' (चतुर्थी एकवचन) तथा प्रथमा-द्वितीया विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

७।२।९४। अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ स्तः, सौ। (३३५) शेषे लोपः ७।२।९०। आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतोऽनयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्। (३३६) युवावौ

---

(३३४) **त्वाहौ सौ इति।** त्वश्चाहश्च त्वाहौ। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतो युष्मदस्मदोरित्यनुवर्तते। 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। तदाह—**अनयोरिति।**

(३३५) **शेष इति।** 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति 'अष्टन आ' इत्यतः 'विभक्तावि'ति चानुवर्तते। उक्तादन्यस्य शेषपदार्थत्वेन प्रसिद्धत्वात् युष्मदस्मदोरनादेशे, द्वितीयायाञ्च, प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्, इत्येतैरात्वस्य 'योऽचि' इति यत्वस्य च पूर्वमुक्तत्वेन तद्विषयातिरिक्तविभक्तिरिह शेषपदार्थः। **त्वमिति।** युष्मत् + सु इति स्थिते 'ङे प्रथमयोरम्' इति सोरमादेशे 'त्वाहौ सौ' इत्यनेन युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे 'त्व अद् अमि'ति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे त्व + अम् इति जाते 'अमि पूर्वः' इत्यनेन पूर्वरूपे कृते त्वमिति। एवमस्मच्छब्दादहमिति।

---

(३३४) पद—त्वाहौ, सौ। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' के पर रहते युष्मद्, अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं।

विमर्श—'मपर्यन्तस्य' (७।२।९१) का अधिकार है। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) से स्थानिवाचक पद 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रम से 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं। अनेकाल् होने से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी को होता है।

(३३५) पद—शेषे, लोपः। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—आत्व-यत्व निमित्त से भिन्न विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्दों की 'टि' का लोप होता है। त्वम्। अहम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में अर्थ की पूर्णता के लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३४३) से 'युष्मदस्मदोः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति आती है। उक्तादन्यः शेषः। अर्थात् पहले कहे हुए को छोड़कर अवशिष्ट भाग शेष कहलाता है। यहाँ सूत्र-क्रमानुसार 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६), 'द्वितीयायां च' (७।२।८७) और 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (७।२।८८) सूत्रों से आत्व तथा 'योऽचि' (७।२।८९) सूत्र से यत्व का विधान किया गया है। इस प्रकार 'शेषे' पद का आशय उन स्थलों से है, जहाँ उक्त आत्व और यत्व कार्य न हुए हों। इस प्रकार जहाँ आकार और यकार विधान न हुआ हो, ऐसे स्थलों पर युष्मद् और अस्मद् शब्द के अन्त्य वर्ण द् का लोप होगा।

उदाहरण—(१) युष्मद्+सु, (सु=अम् 'ङे प्रथमयोरम्') युष्मद्+अम्, (युष्म=त्व-'त्वाहौ सौ') त्व+अद्+अम्, ('द्' का लोप—शेषे लोपः) त्व+अ+अम्, (अ+अ=अ—पररूप—अतो गुणे) त्व+अम् (अ+अ='अ'—पूर्वरूप—'अमि पूर्वः')=त्वम्। (२) अस्मद्+सु (सु=अम्) अस्मद्+अम्, (अस्म=अह) अह+अद्+अम्, ('द्' का लोप) अह+अ+अम्, (अ+अ=अ—पररूप) अह+अम्, (अ+अ='अ'—पूर्वरूप)=अहम्।

द्विवचने ७।२।९२। द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ। **(३३७) प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८।** औङ्चेतयोरात्वं लोके। **युवाम्। आवाम्। (३३८) यूयवयौ जसि ७।२।९३।** अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो, जसि।

---

(३३६) **युवावाविति।** 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति, 'अष्टनः' इत्यतः 'विभक्तौ' इति चानुवर्तते। 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। उक्तिर्वचनम्, द्वयोर्वचनं द्विवचनं तस्मिन्। अर्थाद् द्वित्वविशिष्टार्थवाचिनोः युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तावित्यर्थः।

(३३७) **प्रथमायाश्चेति।** 'अष्टन आ' इत्यत 'आ' इति, पूर्ववत् युष्मदस्मदोरिति चानुवर्तते। अङ्गस्येत्यधिकृतम्। तदाह—**औङ्चेतयोरित्यादि। युवामिति।** 'युष्मद्+औ' इत्यत्र 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यनेनौकारस्य अमादेशे 'युवावौ द्विवचने' इति युष्मदोः मपर्यन्तस्य युव आदेशे युव+अद्+अमिति जाते पररूपे 'प्रथमायाश्चे'-त्यादिना आत्वे युव+आ+अमिति स्थिते सवर्णदीर्घे 'अमि पूर्वः' इत्यनेन पररूपैकादेशे 'युवामि'ति। एवम् अस्मद्+औ='आवामि'ति।

---

(३३६) पद—युवावौ, द्विवचने। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य विभक्तौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—द्वित्व की उक्ति में विभक्ति पर रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः युव और आव् आदेश होते हैं।

विमर्श—'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है। पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'अष्टन आ' (३२१) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आती है। सूत्रस्थ 'द्विवचन' में वचन पद कथनार्थक है, विभक्तिबोधक नहीं।

(३३७) पद—प्रथमायाश्च, द्विवचने, भाषायाम्। **अनुवृत्ति**—आ, युष्मदस्मदोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—प्रथमा विभक्ति के द्विवचन पर रहते लोक में युष्मद्-अस्मद् शब्द को आकार होता है। युवाम्। आवाम्।

विमर्श—यहाँ पूर्ववत् स्थानीवाचक पद 'युष्मदस्मदोः' तथा आदेशवाचक 'अष्टन आ' (३२१) से 'आ' पद की अनुवृत्ति आ रही है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति से 'लौकिक संस्कृत में प्रथमा के द्विवचन में युष्मद्-अस्मद् शब्द के अन्त्य वर्ण 'द्' के स्थान पर 'आ' आदेश होता है।'

उदाहरण—(१) युष्मद्+औ (औ=अम्)—युष्मद्+अम्, (युष्म=युव—'युवावौ द्विवचने') युव अद्+अम्, (द्=आ—'प्रथमायाश्च०') युव-अ-आ+अम्, (अ+अ= 'अ'—पररूप 'अतो गुणे') युव आ+अम्, (अ+आ=आ—'सवर्णदीर्घ) युवा+अम् (आ +अ=आ—पूर्वरूप 'अमि पूर्वः')=युवाम्। (२) इसी प्रकार—अस्मद्+औ, (औ=अम्) अस्मद्+अम्, (अस्म्=आव) आव अद+अम्, (द्=आ) आव अ—आ+अम्-(पररूप)—आव आ+अम्, (दीर्घ) आवा+अम् (पूर्वरूप)=आवाम्।

(३३८) पद—यूयवयौ, जसि। **अनुवृत्ति**—मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र।**

यूयम् । वयम् । (३३९) त्वमावेकवचने ७।२।९७ । एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ । **(३४०) द्वितीयायां च ७।२।८७ ।** अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् । **(३४१) शसो नः ७।१।२९ ।** आभ्यां शसो नः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः

---

(३३८) **यूयवयाविति ।** 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुवर्तते । 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह—**अनयोरित्यादिना ।**

(३३९) **त्वमावेकवचन इति ।** 'मपर्यन्तस्य' इत्यधिक्रियते । 'युष्मदस्मदोः' इत्यनुवर्तते । एकवचनपदं यौगिकमेव । तदाह—**एकस्योक्तावित्यादि ।**

(३४०) **द्वितीयायां चेति ।** 'युष्मदस्मदोः' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति, 'अष्टन आ' इत्यतः 'आ' इति चानुवर्तते । तदाह मूले—**अनयोरादिति ।**

(३४१) **शसो नेति ।** अत्र 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतः 'युष्मदस्मद्भ्याम्'

मूलार्थ—जस् विभक्ति के पर रहते युष्मत्–अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रम से यूय और वय आदेश होते हैं । यूयम् । वयम् ।

विमर्श—'मपर्यन्तस्य' का अधिकार होने से उक्त अर्थ स्पष्ट होता है ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+जस् (जस्=अम्)—युस्मद्+अम् (युष्म्=यूय)—यूय अद्+अम्, (अ+अ=अ 'पररूप') यूयद्+अम् (अद् 'टि' लोप)=यूयम् । (२) अस्मद् +जस्, (जस्=अम्) अस्मद्+अम् (अस्म्=वय—'यूयवयौ जसि')—वय-अद्+अम्, (अ+अ=अ—'पररूप') वयद्+अम् ('अद्' टि-लोप)=वयम् ।

(३३९) पद—त्वमौ, एकवचने । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—एकत्व की विवक्षा में युष्मद्–अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं, विभक्ति पर रहते ।

विमर्श—पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है । 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"एक का कथन होने पर, विभक्ति के पश्चाद्वर्ती रहने पर युष्मद्–अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होंगे ।"

(३४०) पद—द्वितीयायां च । **अनुवृत्ति**—आ युष्मदस्मदोः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—द्वितीया विभक्ति पर रहते युष्मद्–अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है । त्वाम् । माम् ।

विमर्श—पूर्ववत् 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति आ रही है तथा आदेशवाचक पद के परिज्ञान के लिए 'अष्टन आ' (३२१) से 'आ' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से द्वितीया विभक्ति में युष्मद्–अस्मद् सम्बन्धी अन्त्य वर्ण (द्) के स्थान पर 'आ' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+अम्, (युष्म्=त्व—'त्वमावेकवचने') त्व अद्+अम्, (द् =आ—'द्वितीयायां च') त्व अ–आ+अम्, (अ+अ=अ—'पररूप') त्व आ+अम्, (अ +आ='आ'—सवर्णदीर्घ) त्वा+अम् (आ+अ=आ—'पूर्वरूप')=त्वाम् । (२) अस्मद् +अम्, (अस्म्=म) म अद्+अम्, (द्=आ) म–अ–आ+अम्, (अ+अ=अ 'पररूप') म–आ+अम्, (दीर्घ) मा+अम् (पूर्वरूप)=माम् ।

(३४१) पद—शसः, नः । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम् । **विधिसूत्र ।**

परस्य । संयोगान्तस्य लोपः । युष्मान् । अस्मान् । (३४२) योऽचि ७।२।८९। अनयोर्यादेशोऽजादौ विभक्तौ । त्वया । मया । (३४३) युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२। ८६ । अनयोरात् स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः ।

इत्यनुवर्तते । तदाह—**आभ्यामित्यादिना । युष्मानिति ।** 'युष्मद् + शस्, अस्मद् + शस्' इत्यत्र 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शसो न' इति 'आदेः परस्ये'ति परिभाषया आद्याकारस्य नादेशे 'युष्मद् न् स्, अस्मद् न् स्' इति जाते 'संयोगान्तस्ये'ति सस्य लोपे 'द्वितीयायां चे'ति द्मात्रस्याकारे सवर्णदीर्घे 'युष्मान्, अस्मान्' इति रूपम् ।

(३४२) **योऽचीति ।** अत्र 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति सूत्रम्, 'अष्टन आ विभक्तावि'त्यतः 'विभक्तावि'ति चानुवर्तते । 'अची'ति विभक्तिविशेषणम् । तदादिविधिस्तदाह—**अनयोरित्यादिना ।**

(३४३) **युष्मदस्मदोरिति ।** 'अष्टन आ' इत्यतः 'विभक्तावि'ति, 'आ' इति,

---

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्द से पर 'शस्' के आदि को नकार आदेश होता है। संयोगान्त लोप । 'अम्' का अपवाद है । युष्मान् । अस्मान् ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'न' पद में विभक्ति का प्रयोग नहीं है। 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आती है। 'आदेः परस्य' परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है। तदनुसार—"युष्मद् और अस्मद् शब्द से परवर्ती शस् (अस्) के आदि वर्ण 'अ' के स्थान पर 'न्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+शस् (अस्), (अ=न्—'शसो न') युष्मद्+न् स्, (द्= आ—'द्वितीयायां च') युष्म आ+न् स्, (दीर्घ)—युष्मान् स् ('स्' का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः')=युष्मान् । (२) इसी प्रकार—अस्मद्+शस् (अस्) पूर्ववत् कार्य होने पर=अस्मान् ।

(३४२) पद—यः, अचि । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, अनादेशे, विभक्तौ । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अनादेश (=आदेश रहित) अजादि विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्दों को यकार आदेश होता है । त्वया । मया ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३४३) सूत्र तथा 'अष्टन आ' (३२१) से 'विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है। 'अचि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति होती है। तदनुसार—"आदेश रहित अजादि विभक्ति के पर होने पर युस्मद् और अस्मद् शब्दों के अन्त्य वर्ण (द्) के स्थान पर 'य्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+टा (आ), (युष्म्=त्व)—त्व-अद्+आ, (द्=य्) त्व-अय्+आ (अ+अ='अ'—पररूप)=त्वया। (२) अस्मद्+टा (आ), (अस्म्=म) म—अद्+आ, (द्=य्—'योऽचि') म अय्+आ (अ+अ='अ' पररूप)=मया ।

(३४३) पद—युष्मदस्मदोः, अनादेशे । **अनुवृत्ति**—आ, विभक्तौ, हलि । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—अनादेश (आदेश रहित) हलादि विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश होता है । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ।

अस्माभिः। (३४४) तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५। अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्। (३४५) भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३०। आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् स्यात्। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्। (३४६) एकवचनस्य च ७।२।

'रायो हलि' इत्यतः 'हलि' इति चानुवर्तते। हलीति विभक्तिविशेषणम्। तेन तदादिविधिस्तदाह—**अनयोरित्यादिना। युवाभ्यामिति।** 'युष्मद् + भ्याम्, अस्मद् + भ्याम्' इत्यत्र युवावादेशयोर्दकारस्य आत्वे सवर्णदीर्घ इति भावः।

(३४४) **तुभ्यमह्याविति।** सूत्रे 'ङयि' इति ङे इत्यस्य सप्तम्यां रूपम्। 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुवर्तते। 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम्। तदाह—**अनयोरिति। तुभ्यम्, मह्यमिति।** 'युष्मद् + ङे, अस्मद् + ङे' इति स्थिते 'तुभ्यमह्यौ ङयि' इति मपर्यन्तस्य युष्मदः तुभ्यादेशे, अस्मदः मह्यादेशे 'तुभ्य अद् ङे, मह्य अद् ङे' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'शेषे लोपः' इति दकारस्य लोपे 'ङे प्रथमयोरम्' इति ङेरमादेशे पूर्वरूपे च कृते 'तुभ्यम्' इति 'मह्यम्' इति च रूपे निष्पन्ने।

(३४५) **भ्यसोऽभ्यमिति।** 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतः 'युष्मदस्मद्भ्यामि'-

---

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अष्टन आ विभक्तौ' (३२१) से 'आ' और 'विभक्तौ' तथा 'रायो हलि' से 'हलि' की अनुवृत्ति आ रही है। 'हलि' पद 'विभक्तौ' का विशेषण होने से तदादि विधि होती है। इस प्रकार—"आदेश रहित हलादि विभक्ति के परवर्ती रहने पर युष्मद् और अस्मद् शब्द अन्त्य वर्ण के स्थान पर (अलोऽन्त्य परिभाषा से) 'आ' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+भ्याम्, (युष्म्=युव) युव अद्+भ्याम्, (द्=आ) युव अ आ+भ्याम्, (पररूप) युव आ+भ्याम् (अ+आ='आ' सवर्णदीर्घ)=युवाभ्याम्। (२) अस्मद्+भ्याम्, (अस्म्=आव)—आव अद्+भ्याम्, (द्=आ)—आव अ आ+भ्याम् (अ+अ=अ—पररूप) आव आ+भ्याम् (सवर्णदीर्घ)=आवाभ्याम्। (३) युष्मद्+भिस् (द्=आ) युष्म आ+भिस् (सवर्णदीर्घ, स्=रुः)=युष्माभिः। (४) अस्मद्+भिस् (द्=आ, सवर्णदीर्घ स्=रु=:)=अस्माभिः।

(३४४) पद—तुभ्यमह्यौ, ङयि। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—ङे विभक्ति के पर रहने पर युष्मद्-अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रम से तुभ्य और मह्य आदेश होते हैं। टिलोप। तुभ्यम्। मह्यम्।

विमर्श—यहाँ 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३४३) से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति की जाती है। 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है। 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के नियमानुसार 'ङे विभक्ति पर रहते युष्मद्-अस्मद् के मपर्यन्त सम्पूर्ण भाग के स्थान पर तुभ्य और मह्य आदेश होंगे।

उदाहरण—(१) युष्मद्+ङे, (ङे=अम्)—युष्मद्+अम्, (युष्म=तुभ्य) तुभ्य अद्+अम्, ('अद्'—टि का लोप—'शेषे लोपः') पररूप=तुभ्यम्। (२) अस्मद्+ङे, (ङे=अम्)—अस्मद्+अम् (अस्मद्=मह्य)—मह्य अद्+अम्, (अ+अ='अ' पररूप) मह्यद्+अम् ('अद्' टि का लोप)=मह्यम्।

(३४५) पद—भ्यसः, भ्यम्। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् शब्दों से पर भ्यस् को भ्यम् अथवा अभ्यम् आदेश होता है। 'भ्यम्' आदेश मानने पर अन्त्य वर्ण 'द्' का लोप। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्याऽत् स्यात्। त्वत्। मत्। (३४७) पञ्चम्या अत् ७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्। युष्मत्। अस्मत्। (३४८) तवममौ ङसि ७।२।९६। अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि। (३४९) युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्

त्यनुवर्तते। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमादेशः स्यात्। अत्र मकारस्य नेत्वम्, 'न विभक्तावि'ति तन्निषेधात्।

(३४६) **एकवचनस्य चेति**। अत्र पूर्ववत् 'युष्मदस्मद्भ्यामि'ति, 'पञ्चम्या अत्' इति सूत्रञ्चानुवर्तते। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य पञ्चम्या एकवचनस्य अदादेशः स्यादित्यर्थः। तकारस्येत्संज्ञकत्वाभावादनेकाल्त्वेन ङसेः सर्वस्य अदादेशः।

(३४७) **पञ्चम्या इति**। 'युष्मदस्मद्भ्यामि'ति 'भ्यसोऽभ्यमि'त्यतो 'भ्यस्' इति चानुवर्तते। तदाह—**आभ्यामिति**।

विमर्श—यहाँ 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' (७।१।२७) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार "युष्मद्-अस्मद् शब्दों से पर भ्यस् के स्थान पर 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) युष्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अभ्यम्—'भ्यसोऽभ्यम्') युष्मद्+अभ्यम् ('अद्'—टि लोप)=युष्मभ्यम्। (२) अस्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अभ्यम्) अस्मद्+अभ्यम् (अद्—टिलोप)=अस्मभ्यम्।

(३४६) पद—एकवचनस्य, च। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्, पञ्चम्याः, अत्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर पञ्चमी एकवचन 'ङसि' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। त्वत्। मत्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्णता के लिए—'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' तथा 'पञ्चम्याः अत्' सूत्र की अनुवृत्ति की जाती है। 'अत्' आदेश 'अनेकाल्' होने से सम्पूर्ण 'ङसि' के स्थान पर होगा।

उदाहरण—(१) युष्मद्+ङसि, (ङसि=अत्)—युष्मद्+अत् (युष्म्=त्व)—त्व अद्+अत्, (पररूप) त्वद्+अत् ('अद्'—टिलोप)=त्वत्। (२) अस्मद्+ङसि, (ङसि=अत्) अस्मद्+अत्, (अस्म्=म) म अद्+अत्, (पररूप) मद्+अत् (अद् का लोप)=मत्।

(३४७) पद—पञ्चम्याः, अत्। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम्, भ्यसः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर पञ्चमी के भ्यस् के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। युष्मत्। अस्मत्।

विमर्श—पूर्वसूत्रों से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' तथा 'भ्यसः' की अनुवृत्ति आती है।

उदाहरण—(१) युष्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अत्) युष्मद्+अत्, (अद्—'टि' का लोप)=युष्मत्। (२) अस्मद्+भ्यस्, (भ्यस्=अत्) अस्मद्+अत्, (टि का लोप)=अस्मत्।

(३४८) पद—तवममौ, ङसि। **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, मपर्यन्तस्य। **विधिसूत्र।**

७।१।२७ । तव । मम । युवयोः-२ । आवयोः-२ । (३५०) साम आकम् ७।१।३३ । आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युष्मासु ।

---

(३४८) **तवममाविति** । 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यतः 'युष्मदस्मदोः' इति पदमनुवर्तते । 'मपर्यन्तस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह— **अनयोरित्यादिना** ।

(३४९) **युष्मदस्मद्भ्यामिति** । युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङशोऽश् स्यादिति स्पष्टमित्यर्थः ।

(३५०) **साम आकमिति** । अत्र 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' इत्यतः 'युष्मदस्मद्भ्यामि'त्यनुवर्तते । तदाह—**आभ्यामित्यादि** । **युष्माकम्, अस्माकमिति** । 'युष्मद् + आम्, अस्मद् + आम्' इत्यत्र 'साम आकम्' इत्यनेनामि साम्त्वमारोप्य आकमादेशे 'युष्मद् आकम्, अस्मद् आकमि'ति जाते, शेषे लोपः' इति 'द्' इत्यस्य लोपे सवर्णदीर्घे 'युष्माकम्, अस्माकमि'ति ।

मूलार्थ—ङस् पर रहते युष्मद्-अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं ।

विमर्श—'युष्मदस्मदोः' (३४३) पद की अनुवृत्ति आती है तथा 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार है ।

(३४९) पद—युष्मदस्मद्भ्याम् , ङसः, अश् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से परे ङस् को अश् आदेश होता है । तव । मम । युवयोः-२ । आवयोः-२ ।

विमर्श—'अश्' आदेश 'श्' इत्संज्ञक होने से सम्पूर्ण 'ङस्' के स्थान में होगा ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+ङस् , (युष्म=तव—'तवममौ ङसि') तव अद्+ङस् , (ङस्=अश्) तव अद्+अ, (पररूप) तवद्+अ, (अद् 'टि' का लोप)=तव । (२) अस्मद्+ङस्, (अस्म्=मम) मम अद्+ङस्, (ङस्=अश्) मम अद्+अ (पररूप) ममद्+अ, (टिलोप) =मम । (३) युष्मद्+ओस् , (युष्म=युव—'युवावौ द्विवचने') युव अद्+ओस् , (द्=य्-'योऽचि') युव अय्+ओस् , (अ+अ=अ—पररूप)=युवयोस् (स्=र्=ः)=युवयोः । (४) अस्मद्+ओस् , (अस्म्=आव) आव अद्+ओस् , (द्=य् , पररूप) आवयोस् (स्=र्=ः)=आवयोः ।

(३५०) पद—सामः, आकम् । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मद्भ्याम् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—युष्मद्-अस्मद् से पर साम् (सुट् सहित आम्) को 'आकम्' आदेश होता है । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युष्मासु । अस्मासु ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (३४९) से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों से पर 'साम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) युष्मद्+आम् , (आम् में सुट्त्व का आरोप करके आम्=आकम्—'साम आकम्') युष्मद्+आकम्, (द् का लोप—शेषे लोपः) युष्म+आकम् , (अ+आ='आ'—सवर्णदीर्घ)=युष्माकम् । (२) अस्मद्+आम् (आम्=आकम् , द् का लोप) अस्म+आकम्, (दीर्घ)=अस्माकम् । (३) युष्मद्+ङि (इ), (युष्म्=त्व) त्व अद्+इ, (द्=य्—'योऽचि') त्व अय्+इ (अ+अ=अ—पररूप)=त्वयि । (४) अस्मद्+ङि (इ),

अस्मासु । (३५१) युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२० । पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ । (३५२) बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१ । उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः ।

---

(३५१) **युष्मदस्मदोरिति** । षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया चेति द्वन्द्वः । षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाभिः सह तिष्ठत इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ तयोरिति विग्रहः । पदस्येत्यधिकृतम्, अपादादौ, पदादिति चेत्याह—**पदात्परयोरित्यादिना** ।

(३५२) **बहुवचनस्येति** । 'युष्मदस्मदोः' इति, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरिति चानुवर्तते । पदात्, पदस्य, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इति चाधिक्रियते । तदाह—**उक्तविधयोरिति** ।

(अस्म्=म) म अद्+इ (द्=य्, पररूप)=मयि । (५) युष्मद्+सुप् (सु), (द्=आ-'युष्मदस्मदोरनादेशे') युष्म आ+सु, (सवर्णदीर्घ)=युष्मासु । (६) अस्मद्+सुप् (सु), (द्=आ, दीर्घ)=अस्मासु ।

	[१]**युष्मद् शब्द के रूप**			**अस्मद् शब्द के रूप**		
	एक०	**द्वि०**	**बहु०**	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	त्वाम्, त्वा	युवाम्, वां,	युष्मान्, वः	माम्, मा	आवाम्, नौ	अस्मान्, नः,
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	तुभ्यम्, ते	युवाभ्याम्, वाम्	युष्मभ्यम्, वः	मह्यम्, मे,	आवाभ्याम्, नौ	अस्मभ्यम्, नः
प०	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष०	तव, ते	युवयोः, वाम्	युष्माकम्, वः	मम, मे	आवयोः, नौ	अस्माकम्, नः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु	मयि	आवयोः	अस्मासु

(३५१) पद—युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, वाम्-नावौ । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पद से परे किन्तु पाद (श्लोक के चरण) के आदि में न रहने वाले षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीयास्थ युष्मद्, अस्मद् शब्दों को क्रम से वाम् और नौ आदेश होते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'पदस्य' (८।१।१६), 'पदात्' (८।१।१७) तथा 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) का अधिकार है । 'पदस्य' को वचन-विपरिणाम द्वारा 'पदयोः' में परिवर्तित कर दिया गया है ।

(३५२) पद—बहुवचनस्य, वस्नसौ । **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तसर्वमपादादौ, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—पद से पर अपदादि में स्थित षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्द को क्रमशः वस् और नस् आदेश होते हैं ।

---

१. युष्मद् और अस्मद् शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में समान ही बनते हैं (अलिङ्गे युष्मदस्मदी)। इन शब्दों का त्यदादिगण के अन्तर्गत पाठ होने से इनमें सम्बोधन नहीं होता (त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति)।

वां-नावोरपवादः । (३५३) तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२। उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः । (३५४) त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३। उक्तविधयोरनयोर्द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा एतौ स्तः ।

श्रीशस्त्वाऽवतु 'मा'ऽपीह, दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः ।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः ॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद् 'वो' नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः ॥

---

(३५३) **'तेमयावि'ति** । पूर्ववदधिकारः । 'युष्मदस्मदोरि'त्यनुवर्तते । अत्र द्वितीयाग्रहणं नानुवर्तते, तत्र त्वमादेशयोर्वक्ष्यमाणत्वात् । परिशेषात् षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोरेवैतद्विषयतयाऽऽह मूले—**उक्तविधयोरिति** ।

(३५४) **त्वामौ इति** । तेमयोरपवादोऽयम् । त्वाश्च माश्चेति विग्रहः, 'एकवचनस्ये'त्यनुवर्तते । तदाह—**उक्तविधयोरित्यादिना** ।

विमर्श—उपर्युक्त तीन अधिकारसूत्रों के अतिरिक्त—'युष्मदस्मदोः' (३५१) से 'युष्मदस्मदोः तथा 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः' पदों की अनुवृत्ति आती है। 'बहुवचनस्य' पद 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार 'पद से परे किन्तु पद्य-रचना में पद के आदि में न रहने पर षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में स्थित बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'वस्' और 'नस्' आदेश होंगे।

(३५३) पद—तेमयौ, एकवचनस्य। **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तसर्वमपादादौ, षष्ठीचतुर्थीस्थयोः, युष्मदस्मदोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—उपर्युक्त स्थिति में विद्यमान युष्मद् और अस्मद् शब्द को षष्ठी और चतुर्थी के एकवचन में क्रम से 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं।

विमर्श—पूर्ववत् तीनों अधिकारसूत्र अनुवृत्त किये जाते हैं। सूत्र (३५१) से—'युष्मदस्मदोः' तथा 'षष्ठीचतुर्थीस्थयोः' की अनुवृत्ति आती है।

(३५४) पद—त्वामौ, द्वितीयायाः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, पदात्, अनुदात्तसर्वमपादादौ, युष्मदस्मदोः, एकवचनस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पूर्ववत् स्थिति में विद्यमान द्वितीया एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान में क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं।

विमर्श—उपर्युक्त तीनों सूत्रों का अधिकार है। 'युष्मदस्मदोः' तथा 'तेमयावेकवचनस्य' (३५३) से 'एकवचनस्य' की अनुवृत्ति आ रही है। 'एकवचनस्य' पद 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार "पद से परे अपदादि में स्थित द्वितीया के एकवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् शब्द के स्थान पर क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं।"

श्लोकार्थ—लक्ष्मीपति (विष्णु) तुम्हारी तथा मेरी रक्षा करें। वह तुम्हारे लिए कल्याणकारी हों, वह तुम्हारे तथा मेरे स्वामी हैं। सर्वत्र व्यापक हरि तुम दोनों तथा हम दोनों की रक्षा करें। ईश्वर तुम दोनों और हम दोनों को सुख दें। विष्णु तुम दोनों तथा हम दोनों के स्वामी हैं। वह तुम सब तथा हम सब की रक्षा करें। वह तुम सब तथा हम सब के लिए कल्याणप्रद हों। वह तुम सब तथा हम सब के सेवनीय हैं।

* एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः वक्तव्याः । एकतिङ् वाक्यम् * । तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामि । * एते वान्नावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः * । अन्वादेशे तु नित्यं स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येव । **(३५५) न चवाहाहैवयुक्ते ८।१।२४ ।** चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः । हरिस्त्वां मां च रक्षतु । कथं

---

(३५५) चश्च वाश्च हाश्च अहश्च एवञ्चेति द्वन्द्वः । युक्त इति भावे क्तः, योगः सम्बन्धः । तदाह—**चादिपञ्चकयोगे इति** । अत्र चः समुच्चये, वा—विकल्पे, हा—अद्भुते, अह इति खेदे, एव इति निर्धारणेऽर्थे वर्तन्ते । अत्र वां-नावादयः सर्वे आदेशा अनुवर्तन्ते ।

उक्त श्लोक में द्वितीया एकवचन—(१) त्वाम्=त्वा, माम्=मा । (२) च० ए०—तुभ्यम्=ते, मह्यम्=मे । (३) ष० ए०—तव=ते, मम=मे । (४) द्वि० द्वि०—युवाम्=वाम्, आवाम्=नौ । (५) च० द्वि०—युवाभ्याम्=वाम्, आवाभ्याम्=नौ । (६) षष्ठी द्वि०—युवयोः=वाम्, आवयोः=नौ । (७) द्वि० ब०—युष्मान्=वः, अस्मान्=नः । (८) च० ब०—युष्मभ्यम्=वः, अस्मभ्यम्=नः । (९) षष्ठी ब०—युष्माकम्=वः, अस्माकम्=नः । ये उक्त आदेशों के उदाहरण हैं ।

(वा०) (१) (एकवाक्ये०) समान वाक्य में युष्मद्-अस्मद् शब्द को अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्' और 'नौ' आदेश होते हैं । (२) (एकतिङ०) एकतिङ्घटित को अर्थात् जिसमें एक क्रिया-पद रहे, उसको वाक्य कहते हैं । अत एव 'ओदनं पच तव भविष्यति' (=भात पकाओ, वह तुम्हारा होगा) में दो वाक्य हैं । समानवाक्य (एकवाक्य) न होने से 'तव' के स्थान पर 'ते' आदेश नहीं हुआ । इसके विपरीत एकतिङ्युक्त समानवाक्य 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' (=शालि-धान का भात तुम्हें दूँगा) में तव=ते आदेश हुआ । (३) (एते वान्नावादयः०) ये वाम्, नौ, वस्, नस् आदि आदेश अनन्वादेश में विकल्प से और अन्वादेश में नित्य होते हैं । **उदा०**—'धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा' (ब्रह्मा तुम्हारे भक्त हैं)—यहाँ तव=वे विकल्प से हुआ । पश्चात् इसी वाक्य से सम्बद्ध—'तस्मै ते नमः' (पूर्वोक्त आपको नमस्कार है)—इस वाक्य में 'तव'='ते' नित्य हुआ ।

(३५५) पद—न चवाहाहैवयुक्ते । **अनुवृत्ति**—युष्मदस्मदोः, षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः वां-नावौ, बहुवचनस्य वस्नसौ, तेमयौ एकवचनस्य, त्वामौ द्वितीयायाः । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—च, वा, ह, अह और एव—इन पाँचों के योग में पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदेश नहीं होते हैं । हरिस्त्वां मां च रक्षतु । कथं त्वां मां वा न रक्षेत्, इत्यादि ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में प्रकरणवश पूर्वोक्त (३५१ से ३५४) सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'युष्मद् और अस्मद् शब्दों की षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्तियों में विद्यमान वाम्, नौ, आदि आदेश च, वा, ह, अह, एव अव्ययों का योग होने पर नहीं होते ।'

उदाहरण—हरिः त्वां मां च रक्षतु (=हरि तुम्हारी और मेरी रक्षा करे)—यहाँ त्वां और माम् के साथ 'च' का योग है । 'कथं त्वां मां वा न रक्षेत्' में 'वा' का योग है । अतः पूर्वोक्त सूत्र 'त्वामौ द्वितीयायाः' से प्राप्त त्वा, मा आदेश नहीं हुए ।

त्वां मां वा न रक्षेदित्यादि। (३५६) **पश्यार्थैश्चानालोचने ८।१।२५**। अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे नैते आदेशाः स्युः। चेतसा त्वां समीक्षते। आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा। (३५७) **सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८।१।२६**। विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तादन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः। 'भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्।' त्वा, मेति वा। (३५८) **सामन्त्रितम् २।३।४८**। सम्बोधने या प्रथमा

---

(३५६) **पश्यार्थैश्चेति**। अत्र 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्माद् भावे शप्रत्ययः 'पाघ्राध्मा' इति पश्यादेशः। पश्यः दर्शनं येषां ते पश्यार्थाः, तैरिति विग्रहः। आलोचनं चाक्षुषज्ञानं तद्भिन्नमनालोचनं तत्र विद्यमानैर्दर्शनार्थकैरिति। दृशिरत्र ज्ञानसामान्ये वर्तते। तदाह—**अचाक्षुषेत्यादिना**।

(३५७) **सपूर्वाया इति**। सहशब्दोऽत्र विद्यमानवाची, विद्यमानं पूर्वं यस्याः सा सपूर्वा इति बहुव्रीहिः। प्रथमेत्यनेन तदन्तं गृह्यते। अन्वादेशेऽपि क्वचिद्विकल्पार्थमिदं सूत्रम्। वांनावादय इत्यनुवर्तन्ते। तदाह—**सपूर्वाया इति**।

(३५८) **सामन्त्रितमिति**। सा इत्यनेन प्रातिपदिकार्थसूत्रे पठिता 'प्रथमे'ति

---

(३५६) पद—पश्यार्थैः, च अनालोचने। **अनुवृत्ति**—पूर्वोक्त चार सूत्र। **विधि (निषेध) सूत्र।**

मूलार्थ—अचाक्षुष (आँख से देखने के अतिरिक्त) अर्थवाली धातुओं के योग में युष्मद्-अस्मद् शब्द से पूर्वोक्त 'वाम्' 'नौ' आदेश नहीं होते। चेतसा त्वां समीक्षते।

विमर्श—पूर्वोक्त चारों सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—चक्षु से साक्षात्कार करने के अतिरिक्त अर्थ वाले धातुओं के योग में पूर्वोक्त त्वा, मा आदि आदेश प्रवृत्त नहीं होते।

उदाहरण—'चेतसा त्वां समीक्षते' (=मन से तुमको देखता है)—इस वाक्य में 'समीक्षते' (=देखता है) पद सामान्यज्ञानार्थक है। अतः 'त्वा' आदेश नहीं हुआ।

प्रत्युदाहरण—भक्तस्त्वा पश्यति। यहाँ दृश् धातु चाक्षुष ज्ञान (देखना) अर्थ का वाचक है। अतः 'त्वाम्'='त्वा' आदेश का निषेध नहीं हुआ।

(३५७) पद—सपूर्वायाः, प्रथमायाः, विभाषा। **अनुवृत्ति**—पूर्वोक्त चार सूत्र। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—विद्यमानपूर्वक प्रथमान्त से पर युष्मद्-अस्मद् शब्दों को अन्वादेश में भी पूर्वोक्त आदेश विकल्प से होते हैं। भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते सः माम्। त्वामेति वा।

विमर्श—पूर्वोक्त चार सूत्रों की अनुवृत्ति आ रही है। यहाँ 'सह' शब्द विद्यमानार्थक है। पहले अन्वादेश में नित्य त्वा, मा का विधान किया जा चुका है। अब विकल्प से विधान किया जा रहा है। तदनुसार—'अन्य प्रथमान्त शब्दों से पर षष्ठ्यादि विभक्तियों में विद्यमान युष्मद्, अस्मद् शब्दों को अन्वादेश में ते, मे आदि आदेश विकल्प से होंगे।

उदाहरण—'भक्तस्त्वामप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्'—इस वाक्य में त्वाम् तथा माम् के पूर्व क्रमशः 'हरिः' तथा 'सः' प्रथमान्त पद विद्यमान हैं। अतः अन्वादेश में त्वा, मा आदेश विकल्प से हुए।

(३५८) पद—सा, आमन्त्रितम्। **अनुवृत्ति**—सम्बोधने, प्रथमा। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमान्त की आमन्त्रित संज्ञा होती है।

तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् । (३५९) **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२** । अग्ने तव । देवाऽस्मान्पाहि । (३६०) **नाऽऽमन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्** । ८।१।७३ । विशेष्यं समानाधिकरणे विशेषणे आमन्त्रिते परे नाऽविद्यमानवत् । हरे दयालो नः पाहि । सुपात्-सुपाद् । सुपादौ । (३६१) **पादः पत् ६।४।१३०** ।

परामृश्यते । 'सम्बोधने च' इत्यतः 'सम्बोधने' इत्यनुवर्तते । महासंज्ञाकरणात् संज्ञाविधावपि तदन्तग्रहणमित्याह—**सम्बोधने चेति** ।

(३५९) **आमन्त्रितमिति** । पूर्वमामन्त्रितमविद्यमानवद् भवतीति सुस्पष्टोऽर्थः ।

(३६०) **नामन्त्रित इति** । अत्र 'आमन्त्रितम्, अविद्यमानवत्' इति पदेऽनुवर्तेते । **हरे दयालो इति** । अत्र दयालो इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाविद्यमानवत् । ततश्च दयालो इत्यस्याऽविद्यमानत्वेऽपि हरे इति पदात् परत्वान्नसादेश इति भावः । **सुपादिति** । शोभनौ पादौ यस्य स सुपात् ।

(३६१) **पादः पदिति** । अङ्गस्य, भस्येति चाधिकृतम् । 'पादः' इत्यस्याङ्ग-

---

विमर्श—सूत्रस्थ तत् (सा) पद 'प्रातिपदिकार्थ०' सूत्र के 'प्रथमा' पद का परामर्शक है । 'सम्बोधने च' (२।३।४७) से 'सम्बोधने' पद की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'सम्बोधन में प्रथमान्त पद की आमंत्रित संज्ञा होती है ।'

(३५९) पद—आमन्त्रितम्, पूर्वम्, अविद्यमानवत् । **अनुवृत्ति**—पदस्य । **अतिदेशसूत्र** ।

मूलार्थ—पूर्व में स्थित आमन्त्रित अविद्यमानवत् होता है । अग्ने तव । देवास्मान्पाहि ।

विमर्श—यह अतिदेश सूत्र है । 'पदस्य' (८।१।१६) की अनुवृत्ति आ रही है । इस प्रकार पूर्व पद में स्थित आमन्त्रितसंज्ञक अविद्यमान के समान होता है ।

उदाहरण—(१) अग्ने तव । यहाँ आमन्त्रितसंज्ञक पद 'अग्ने !' को अविद्यमानवद्भाव होने से तव=ते नहीं हुआ । (२) 'देवास्मान्पाहि' में 'देव' को अविद्यमानवद्भाव होने से अस्मान्='नः' आदेश नहीं हुआ ।

(३६०) पद—न, आमन्त्रिते, समानाधिकरणे, सामान्यवचनम् । **अनुवृत्ति**—आमन्त्रितं पूर्वम्, अविद्यमानवत्, पदस्य । **अतिदेश (निषेध) सूत्र** ।

मूलार्थ—समानाधिकरण आमन्त्रित विशेषण पर रहते विशेष्यवाचक पद अविद्यमानवत् नहीं होता । हरे ! दयालो नः पाहि । सुपात्-सुपाद् । सुपादौ ।

विमर्श—पूर्वसूत्र (३५९) से 'आमन्त्रितम्, पूर्वम्, अविद्यमानवत्' की अनुवृत्ति आ रही है । पदस्य का अधिकार है । तदनुसार—समानविभक्तिक विशेषणवाची आमन्त्रित पद के पर रहने पर उससे पूर्ववर्ती विशेष्यवाचक पद (आमन्त्रित) को अविद्यमानवद्भाव नहीं होता । अर्थात् विद्यमान ही रहता है ।

उदाहरण—(१) 'हरे ! दयालो नः पाहि'—यहाँ 'दयालु' विशेषण है, हरिः विशेष्य है । उसको अविद्यमानवद्भाव नहीं हुआ । अतः अस्मद्='नः' हो गया ।

दकारान्त सुपाद् (=सुन्दर पैर वाला) शब्द के रूपों की प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है । (१) सुपाद्+सु (स्), (विभक्ति का लोप) सुपाद् (द्=त्—विकल्प से 'वाऽवसाने') =सुपात् । पक्ष में—सुपाद् । (२) सुपाद्+औ=सुपादौ ।

(३६१) पद—पादः, पत् । **अनुवृत्ति**—भस्य, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्। अग्निमत्-अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः। अग्निमद्भ्याम्। (३६२) अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४। हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति, ङिति च। 'उगिदचामि'ति नुम्। संयोगान्तस्य लोपः। नस्य

विशेषणत्वेन तदन्तविधिस्तदाह—**पाच्छब्दान्तमित्यादिना। सुपादिति।** 'सुपाद्+सु' इत्यत्रानुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन दस्य तत्वे 'सुपात्' इति। पक्षे 'सुपाद्' इति।

(३६२) **अनिदितामिति।** अत्र 'अङ्गस्ये'त्यधिकृतम्। तच्च 'अनिदितामि'ति बहुवचनान्तविशेषणत्वाद् बहुवचनेन विपरिणम्यते। हल इति तद्विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः। इत्थं हलन्तानामिति, अनिदितामिति च 'अङ्गानामि'त्यस्य विशेषणम्। तदाह—**हलन्तानामित्यादि। प्राङ् इति।** प्रकर्षेण अञ्चतीति विग्रहे 'प्र+अञ्च्' इत्यस्माद् 'ऋत्विग्' इत्यादिना क्विनि, तस्य सर्वापहारिलोपे, कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक-

---

मूलार्थ—'पाद्' शब्दान्त जो भसंज्ञक अंग, तदवयव पाद् शब्द को 'पद्' आदेश होता है। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्। अग्निमत्। अग्निमथौ। अग्निमद्भ्याम्।

विमर्श—'अङ्गस्य' (६।४।१) तथा 'भस्य' (६।४।१२९) का यहाँ अधिकार है। सूत्रस्थ 'पादः' शब्द अधिकार प्राप्त 'अङ्गस्य' का विशेषण है। अतः तदन्त विधि होती है। पाद् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पत्' आदेश होता है।

उदाहरण—(१) सुपाद्+शस् (अस्), (पाद्=पत—'पादः पत्')—सुपत+अस् (त=द्, स्=र्=:)=सुपदः। (२) सुपाद्+टा (आ), (पाद्=पत) सुपत+आ (त=द्)=सुपदा। (३) सुपाद्+भ्याम्=सुपाद्भ्याम्।

'अग्निं मथ्नाति' (=अग्नि को मथता है) इस अर्थ में 'अग्निमथ्' शब्द है। (१) अग्निमथ्+(सु) स् (विभक्ति का लोप, थ्=द्—'जश्त्व'), अग्निमद् (द्=त् विकल्प से—'वाऽवसाने')=अग्निमत्। पक्ष में—अग्निमद्। (२) अग्निमथ्+औ=अग्निमथौ। (३) अग्निमथ्+भ्याम् (थ्=द्—'जश्त्व')=अग्निमद्भ्याम्।

(३६२) पद—अनिदितां, हलः, उपधायाः, क्ङिति। **अनुवृत्ति—**अङ्गस्य, नलोपः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—हलन्त अनिदित ('इ'–इत्संज्ञकभिन्न) अङ्ग की उपधा के नकार का लोप होता है; कित, ङित् प्रत्यय के परे रहते। 'उगिदचाम्' से नुम्। सयोगान्तलोप। कुत्व होकर न्=ङ्। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'अङ्गस्य' का अधिकार है। 'श्नान्नलोपः' (६।४।२३) से 'नलोपः' की अनुवृत्ति आती है। 'हलः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होती है। तदनुसार—'क्-इत्संज्ञक तथा ङ्-इत्संज्ञक प्रत्यय पर रहते इकार-इत्संज्ञकभिन्न हलन्त अङ्ग की उपधा के 'न्' का लोप होता है।'

उदाहरण—(१) प्राञ्च् (प्र+अ न् च् क्विन्, सर्वापहारी लोप), ('न्' का लोप 'अनिदिताम्')—प्र+अच्+सु (स्), (नुम्-न्—'उगिदचाम्०') प्र+अ न् च् स्, (दीर्घ, स्

कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । (३६३) अचः ६।४।१३८ । लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः । (३६४) चौ ६।३।१३८ । लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रतीचः

संज्ञायां सौ 'अनिदिताम्' इत्यनेन नलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमागमे 'प्र अन् च् स्' इति जाते सोर्हल्ङ्यादिलोपे, चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य कुत्वेन ङकारे सवर्णदीर्घे 'प्राङ्' इति सिद्धम् ।

(३६३) **अचः इति** । 'अचः' इत्यञ्चुधातोः लुप्तनकारस्य षष्ठ्यन्तं पदम् । भस्येत्यधिकृतम् । 'अल्लोपोऽनः' इत्यतः 'अल्लोपः' इत्यनुवर्तते । तदाह—**लुप्तेति** ।

(३६४) **चाविति** । लुप्ताकारनकारस्य अञ्चुधातोः 'चौ' इति सप्तम्यन्तम् । 'ढ्रलोपे' इत्यतः 'पूर्वस्य, दीर्घः, अणः' इति पदत्रयमनुवर्तते । तदाह—**लुप्ताकारनकारस्येत्यादि** । **प्राच इति** । 'प्र+अच्+शस्' इति स्थिते शस्येत्संज्ञायां लोपे च भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारस्य लोपे 'चौ' इति प्र-अकारस्य दीर्घे संयोगे सस्य रुत्वे

विभक्ति का लोप)—प्रान् च्, ('च्' का लोप—'संयोगान्तस्य लोपः') प्रान्, (न्=ङ् 'कुत्व') =प्राङ् । (२) प्रान् च्+औ (न्=ञ् अनुस्वार—परसवर्ण—'नश्चा०')=प्राञ्चौ । (३) प्रान् च् +जस् (अस्) (न्=ं अनुस्वार='ञ्', परसवर्ण) प्राञ्चस् (स्=र् :)=प्राञ्चः ।

(३६३) पद—अचः । **अनुवृत्ति**—भस्य, अत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त नकार वाले 'अन्चु' धातु के भसंज्ञक अकार का लोप होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से 'अत्' की अनुवृत्ति की जाती है । 'भस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"लुप्त नकारवान् अञ्च् धातु के भसंज्ञक 'अ' का लोप होगा" ।

(३६४) पद—चौ । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, दीर्घः, अणः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त अकारवान् तथा लुप्त नकारवान् अन्चु धातु के पर रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है । प्राचः । प्राचा । प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ।

विमर्श—यहाँ 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) सूत्र से 'पूर्वस्य, दीर्घः तथा अणः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'लुप्त नकार एवम् लुप्त अकार वाले अञ्च् धातु पर रहते उससे पूर्व अण् (अ, इ, उ) को दीर्घ आदेश होगा ।'

उदाहरण—(१) प्र+अच्+शस् (अस्), ('अच्' के 'अ' का लोप—'अचः') प्रच्+अस्, (अञ्च् के न् तथा अ का लोप होने पर उससे पूर्व 'प्र' के 'अ' को दीर्घ—'चौ') प्राच्+अस् (स्=र्=ः)=प्राचः । (२) प्र+अन् च्+टा (आ), (न् का लोप, अ का लोप)—प्रच्+आ (अ=आ—दीर्घ)=प्राचा । (३) प्राच्+भ्याम्, (च्=क्—'कुत्व') प्राक्+भ्याम्, (क्=ग्—'जश्त्व')=प्राग्भ्याम् ।

प्रत्यञ्च् (=पश्चिम) शब्द के रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया प्रदर्शित की जा रही है—(१) प्रति +अ न् च्+सु (स्), (न् का लोप) प्रति+अच् स्, (नुम् (न्) का आगम—'उगिदचाम्') प्रति अन् च् स्, ('स्' विभक्ति का लोप, 'च्' का संयोगान्त लोप) प्रति+अन् (इ=य्—

प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ । उदञ्चः । (३६५) उद ईत् ६।४।१३९ । उच्छब्दात् परस्य लुप्ताऽकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य ईत् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् । (३६६) समः समि ६।३।९३ । अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे समः सम्यादेशः स्यात् । सम्यङ् ।

विसर्गे च कृते 'प्राचः' इति । यद्यप्यल्लोपस्य दीर्घस्य चाभावेऽपि 'प्राचः' इति सिद्धे 'प्रतीचः' इत्याद्यर्थं सूत्रमिति ।

(३६५) **उद ईत् इति** । 'अचः' इति सूत्रम् 'अल्लोपः' इत्यतः 'अत्' इति चानुवर्तते । भस्येत्यधिकृतम् । तदाह—**उच्छब्दादित्यादिना** ।

(३६६) **समः समि इति** । 'समि' इति नपुंसकत्वेन निर्देशात् लुप्तस्वन्तं पदम् । 'विश्वग्देवयोश्च' इत्यतः 'अञ्चतावप्रत्यये' इत्यनुवर्तते । तदाह—**अप्रत्ययान्तेऽञ्चतावित्यादि । समीच इति** । 'सम् + अन् च् + शस्' इत्यत्र शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अनिदिताम्०' इति नलोपे 'समः समि' इति सम्यादेशे 'समि अच् + अस्' इति जाते,

---

'यण्')—प्रत्यन् (न्=ङ्='क्विन्प्रत्ययस्य कुः')=प्रत्यङ् । (२) प्रत्यञ्चौ । (३) प्रत्यञ्चः (प्राञ्च् शब्द के समान प्रक्रिया) । (४) प्रति+अन् च्+शस् (अस्), (न् का लोप)—प्रति+अच्+अस् , ('अ' का लोप—'अचः')—प्रति च्+अस् , (इ को दीर्घ-'चौ') प्रतीचस् (स्=र्=ः)=प्रतीचः ।

क्विन्प्रत्ययान्त 'उदन्च्' (=उत्तर) शब्द की रूप-सिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(१) उद न् च्+सु (स्), (न् का लोप)—उद् अ च्+स् , (नुम्—'उगिदचाम्') उद् अ न् च् स् (स् का 'हल्ङ्याब्भ्यः' से लोप) उद न् च् ('च्' का संयोगान्त लोप, न्=ङ् 'कुत्व')= उदङ् । (२) उदञ्चौ । (३) उदञ्चः ।

(३६५) पद—उदः, ईत् । **अनुवृत्ति**—भस्य, अचः, अत् । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—उत् शब्द से परे नलोप युक्त अन्चु धातु के भसंज्ञक अकार को ईत् (ई) आदेश होता है । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ।

विमर्श—'भस्य' का अधिकार है । 'अल्लोपोऽनः' (२६९) से 'अत्' तथा 'अचः' (३६३) सूत्र की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—'उद्' से परवर्ती लुप्त नकारवान् अन्च् धातु के भसंज्ञक अङ्ग के 'अ' के स्थान पर 'ई' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) उदच्+शस् (अस्) (अ=ई)—उदीचस् (स्=र्=ः)=उदीचः । (२) उदच्+टा (आ), (अ=ई)=उदीचा । (३) उदच्+भ्याम् (च्=क्—'कुत्व', क्=ग्—'जश्त्व')=उदग्भ्याम् ।

(३६६) पद—समः, समि । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अप्रत्ययान्त (क्विन् आदि प्रत्यय का लोप होने पर तदन्त) अन्च् पर रहते 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होता है । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् ।

विमर्श—इस सूत्र में 'विश्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६।३।९२) से 'अप्रत्यये' तथा 'अञ्चतौ' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार—'लुप्त प्रत्ययान्त अन्च् के पर रहने पर 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होगा ।'

उदाहरण—(१) सम्-अन्च्+क्विन्, ('क्विन्' का सर्वापहारि लोप) सम्-अन्च् , (सम् =समि—'समः समि') समि+अनच् , (न् का लोप—'अनिदिताम्') समि+अच् (यण्)—

सम्यञ्चौ । सम्यञ्चः । समीचः । सम्यग्भ्याम् । (३६७) सहस्य सध्रिः ६।३।९५ । तथा । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्रीचः । सध्र्यग्भ्याम् । (३६८) तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४ । अलुप्ताऽकारेऽञ्चतौ अप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ ।

भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्याणो दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'समीचः' इति ।

(३६७) **सहस्येति** । अत्र 'अञ्चतावप्रत्यये' इत्यनुवर्तते । तेन सहस्य सध्रिः स्यादप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ पर इति व्याख्यानम् ।

(३६८) **तिरसस्तिर्यलोपे इति** । 'अप्रत्यये' इति, 'अञ्चतावि'ति चानुवर्तते । तिरि इति लुप्तप्रथमाकं पदम् । 'अलोपे' इत्यत्र पररूपेणाकारः प्रश्लिष्यते । तदाह— **अलुप्तेत्यादिना । तिर्यङ् इति** । तिरः अञ्चतीति विग्रहे, 'तिरस्+अन् च्' इत्यत्र 'ऋत्विग्०' इति क्विनि, 'अनिदिताम्' इति नलोपे क्विनः सर्वापहारिलोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इति तिरसस्तिर्यादेशे 'इको यणचि' इति यणि 'तिर्यच्' इत्यस्मात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे, नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'तिर्यङ्' इति ।

सम्यच्+सु (स्), (नुम्) सम्य न् च् स् (स् का लोप)—सम्य् न् च् (च् का संयोगान्त लोप)—सम्यन् (न्=ङ्—'कुत्व')=सम्यङ् । (२) सम्यञ्चौ (औ), (३) समीचः ('अ' का लोप, दीर्घ)=समीचः (जस्) । (४) सम्यग्भ्याम् (भ्याम्) ।

(३६७) पद—सहस्य, सध्रिः । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—लुप्त प्रत्ययान्त अञ्च् पर रहते 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होता है । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्रीचः । सध्र्यग्भ्याम् ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में भी 'विश्वग्देवयोश्च०' से 'अञ्चतौ' तथा 'अप्रत्यये' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार लुप्त प्रत्ययान्त अञ्च् के पर रहने पर 'सह' के स्थान में 'सध्रि' आदेश होगा ।

उदाहरण—(१) सह+अच्+सु (स्), (सह=सध्रि) सध्रि=अच्+स्, (इ=य् 'यण्') सध्र्यच्+स्, (नुम्) सध्र्यन् च्+स्, (स्—विभक्ति का लोप)—सध्र्य न् च्, ('च्' का संयोगान्त लोप) सध्र्यन् (न्=ङ् 'कुत्व')=सध्र्यङ् । (२) सध्र्यञ्चौ (औ) । (३) सध्रीचः (शस्) । (४) सध्र्यग्भ्याम् (भ्याम्) ।

(३६८) पद—तिरसः, तिरि, अलोपे । **अनुवृत्ति**—अञ्चतौ, अप्रत्यये । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—अलुप्ताकार, अप्रत्ययान्त 'अञ्चु' धातु के पर रहते 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश होता है । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिरश्चः । तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम् ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में भी 'विश्वग्देवयोश्च' (६।३।९२) से 'अञ्चतौ' तथा 'अप्रत्यये' की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—"अलुप्त अकार वाले तथा अविद्यमान प्रत्ययान्त √अञ्च् के पर रहते सम्पूर्ण 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) तिरस्+अञ्च्+क्विन्, (क्विन् का सर्वापहारी लोप) (तिरस्=तिरि) तिरि अ न् च्, ('न्' का लोप—'अनिदिताम्') तिरि अ च्+सु (स्), (नुम्) तिरि अ न् च् स्, (विभक्ति का लोप, 'च्' का संयोगान्त लोप) तिरि अ न् (यण्)—तिर्यन् (न्=ङ्—'कुत्व')

तिरश्चः। तिरश्चा। तिर्यग्भ्याम्। (३६९) **नाञ्चेः पूजायाम्** ६।४।३०। पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाऽभावादल्लोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्षु-प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे-प्रत्यङ्ङादयः। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्-पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुचः। पयोमुग्भ्याम्। मह पूजायाम्। वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च। एते निपात्यन्ते। शतृवच्चैषां कार्यं स्यात्। उगि-

---

(३६९) **नाञ्चेरिति**। 'अनिदिताम्' इत्यतः 'उपधाया, क्ङिति' इति 'श्नान्नलोपः' इत्यतः 'नलोपः' इति चानुवर्तते। पूजायामित्यत्र विषयसप्तमी, तेन यथाकथञ्चित्पूजायां गम्यमानायामञ्चतेरुपधायाः नकारस्य लोपो न भवतीत्यर्थः। **प्राङ् इति**। प्रपूर्वादञ्चतेः क्विन्। नलोपाभावे प्राञ्च् इत्यतः सुबुत्पत्तिः। 'प्राञ्च् + स्' इत्यत्र 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सलोपे, संयोगान्तस्य चकारस्य लोपे, ततः अनुस्वारपरसवर्णनिवृत्तौ नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'प्राङ्' इति। पयोमुग् = मेघ इति।

=तिर्यङ् (=पक्षी)। (२) तिर्यञ्चौ (औ)। (३) तिरस्+अन् च्+शस् (न् का लोप—'अनिदिताम्') तिरस्+अच्+अस्, (भसंज्ञा) ('अचः' से अ का लोप) तिरस् चस् (स्=श्—'श्चुत्व' स्=र्=ः)=तिरश्चः। (४) तिरश्चा (टा)। (५) तिर्यग्भ्याम् (भ्याम्—हलादि विभक्तियों में 'अ' का लोप न होने से तिरस्='तिरि' आदेश होता है)।

(३६९) पद—न अञ्चेः, पूजायाम्। **अनुवृत्ति**—उपधायाः, क्ङिति, नलोपः। **विधिसूत्र**।

मूलार्थ—पूजार्थक अञ्च् धातु की उपधा के नकार का लोप नहीं होता। प्राङ्। प्राञ्चौ। न् लोप न होने से 'अ' का लोप भी नहीं हुआ। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्षु-प्राङ्क्षु। पूजा अर्थ में इसी प्रकार 'प्रत्यङ्' आदि होंगे। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्-ग्। पयोमुचः। पयोमुग्भ्याम्। 'मह्' धातु भी पूजा अर्थ में है। (वा०) वर्तमानकाल में पृषन्, महत्, बृहत्, जगत् ये निपातन से सिद्ध होते हैं। इनके कार्य शतृ प्रत्यय की तरह होते हैं। उक्-इत्संज्ञक होने से 'नुम्' का आगम।

विमर्श—यहाँ 'अनिदिताम्' (६।४।२४) सूत्र से 'उपधायाः' तथा 'क्ङिति' एवम्—'श्नान्नलोपः' से 'नलोपः' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार—"पूजा अर्थ में 'अञ्च्' की उपधा के 'न्' का लोप नहीं होता।"

उदाहरण—(१) प्र+अञ्च्=प्राञ्च् (क्विन्, उसका सर्वापहारि लोप), प्रान् च्+सु—(विभक्ति का लोप, 'च्' का संयोगान्त लोप) प्रान् (न् के लोप का 'नाञ्चेः पूजायाम्' से निषेध) (न्=ङ् 'कुत्व')=प्राङ्। (२) प्राञ्च्+औ=प्राञ्चौ। (३) प्रान् च्+जस् ('न्' का लोप न होने से 'अचः' से 'अ' का लोप भी नहीं हुआ। स्=र्=ः)=प्राञ्चः। (४) प्राङ्भ्याम् (भ्याम्)। (५) सप्तमी बहुवचन में कुक् का आगम—प्राङ् क् सु, ('चयो द्वितीया०' से पाक्षिक क्='ख्' षत्व)=प्राङ्ख्षु। 'ख्' न होने पर (क्+ष्=क्ष्)=प्राङ्क्षु। कुगागम के अभाव में=प्राङ्षु। इस प्रकार तीन रूप बनते हैं।

इसी प्रकार 'पूजा करने वाला' अर्थ में—प्रति+√अञ्च् से 'प्रत्यङ्' आदि रूप बनेंगे।

(क) √क्रुञ्च् से कुटिलता अर्थ में 'ऋत्विग्०' से क्विन्प्रत्ययान्त निपातित 'क्रुञ्च्' शब्द है। (१) क्रुञ्च+सु (स्), (विभक्ति का लोप) क्रु न् च् ('संयोगान्तस्य लोपः' से च् का

त्वान्नुम् । (३७०) सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०। सान्तसंयोगस्य, महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महद्भ्याम् । (३७१) अत्वसन्तस्य चाऽधातोः ६।४।१४ । अत्वन्त-

---

(३७०) **सान्तमहत इति** । अत्र 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति, 'नोपधायाः' इति, 'ढ्लोपे' इत्यतः 'दीर्घः' इति चानुवर्तते । संयोगस्येति नकारेऽन्वेति । सान्तेति षष्ठ्यन्तं पदम्, षष्ठ्या आर्षः लुक् । एवं 'सान्तस्ये'ति संयोगेऽभेदेनान्वेति । 'महतः' इत्यवयवषष्ठ्यन्तं पदमपि नकारेऽन्वेति । तदाह—**सान्तसंयोगस्येत्यादि । महान् इति ।** 'महत् + सु' इत्यत्रोकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सस्य लोपे 'उगिदचाम्०' इति नुमि 'महन् त्' इति जाते, 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधायाः दीर्घे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तकारस्य लोपे 'महान्' इति ।

(३७१) **अत्वसन्तस्येति** । अत्र 'नोपधायाः' इत्यतः 'उपधायाः' इति, 'सर्वनाम-

---

लोप) क्रुन् (न्=ङ्—'कुत्व')=क्रुङ् । (२) क्रुञ्चौ (औ) । (३) क्रुञ्चः (जस्) । (४) क्रुङ्भ्याम् (भ्याम्) ।

(ख) पयोमुच् (=मेघ) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) पयोमुच्+ सु (स्), (विभक्तिलोप) पयोमुच् (च्=क्—'कुत्व', क्=ग्—'जश्त्व')—पयोमुग् (ग्= क्—'पाक्षिक चर्त्व')=पयोमुक् । पक्ष में=पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुचः । पयोमुग्भ्याम् (पूर्ववत्) ।

(ग) √मह पूजायाम्' से 'वर्तमाने पृषन्महद्०' (उणादि सू० २४१) से शतृ प्रत्यय के समान निपातनात् 'महत्' शब्द सिद्ध होता है। अतः उगित् होने से नुम् होता है। महत्= बड़ा ।

(३७०) पद—सान्तमहतः, संयोगस्य । **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने च, असम्बुद्धौ, न, उपधायाः, दीर्घः । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—असम्बुद्धि (सम्बुद्धिभिन्न) सर्वनामस्थान के पर रहते, सान्त संयोग के और 'महत्' शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ आदेश होता है। महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महद्भ्याम् ।

विमर्श—सूत्रार्थ के लिए—'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (१९८) सूत्र, 'नोपधायाः' (६।४।७) सूत्र तथा 'ढ्लोपे' (१२८) से 'दीर्घः' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार— ''सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय के परवर्ती होने की दशा में सकारान्त संयोग के तथा 'महत्' शब्द के 'न्' की उपधा (अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण) को दीर्घ होगा।''

उदाहरण—(१) महत्+सु (स्) ('उगिदचां०' से नुम्-'न्') मह न् त्+स्, (उपधादीर्घ—'सान्तमहतः') महान् त् स् (विभक्तिलोप, 'त्' का संयोगान्तलोप)= महान् । (२) महत्+औ (नुम्, उपधादीर्घ)=महान्तौ । (३) महत्+जस् (अस्), (नुम्, उपधादीर्घ स्=र्=ः)=महान्तः । (४) सम्बोधन के एकवचन में दीर्घ (३७०) न होने से 'हे महन् !' रूप बनता है । (५) शस् में=महतः । (६) भ्याम् में=महद्भ्याम् ।

(३७१) पद—अत्वसन्तस्य, च, अधातोः । **अनुवृत्ति**—उपधायाः, सौ, दीर्घः । **विधिसूत्र ।**

स्योपधाया दीर्घो, धातुभिन्नासन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । भातेर्डवतुः । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । शत्रन्तस्य तु भवन् । (३७२) उभे अभ्यस्तम् ६।१।५ । षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः । (३७३) नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८ ।

स्थाने' इत्यतः 'असम्बुद्धावि'ति, 'सौ च' इत्यतः 'सावि'ति 'ढ्रलोपे' इत्यतश्च 'दीर्घः' इति चानुवर्तते । तदाह—**अत्वन्तस्योपधाया इति ।**

(३७२) उभे अभ्यस्तमिति । अत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यतः 'द्वे' इत्यनुवर्तते । 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वे'ति न्यायेन 'द्वे' इत्यनेन च षष्ठाध्यायविहितमेव द्वित्वं विवक्षितम् ।

मूलार्थ—सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' पर रहते अत्वन्त की उपधा को और धातुभिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है। धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शस् आदि में 'महत्' के समान रूप बनेंगे । √भा धातु से 'डवतु' प्रत्यय होने पर भवान्, भवन्तौ आदि । शतृ-प्रत्ययान्त शब्द को अत्वन्त न होने के कारण दीर्घ नहीं हुआ । भवन् ।

विमर्श—सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए—'सर्वनामस्थाने' (१९८) से 'असम्बुद्धौ', 'सौ च' (६।४।१३) से 'सौ', 'नोपधायाः' (६।४।७) से 'उपधायाः' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (१२८) से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति की जाती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । 'अतु' उसका विशेषण होने से तदन्त विधि होती है । इस प्रकार—"सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' विभक्ति पर रहते अत्वन्त अङ्ग की तथा असन्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ आदेश होता है ।"

√धी+मतुप्=धीमत् (=बुद्धिमान्) की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(१) धीमत्+सु (स्) (नुम् का आगम, प्रकृत सूत्र से उपधादीर्घ)—धीमान् त्+स् (विभक्ति लोप)—धीमा न् त् ('त्' का संयोगान्तलोप)=धीमान् । (२) धीमत्+औ (नुम्)—धीम न् त्+औ=धीमन्तौ । (३) धीमत्+जस् (अस्), (नुम्) धीम न् त्+अस् (स्=र्=ः) =धीमन्तः । (४) हे धीमन् (सम्बोधन में उपधा को दीर्घ नहीं होता) । (५) शस् आदि विभक्तियों में 'धीमतः' आदि 'महत्' शब्द के समान रूप बनेंगे ।

√भा+डवतु (अवत्)—भा+अवत् (डित् होने से अभसंज्ञक टि (आ) का लोप)= भवत् (=आप) । (१) भवत्+सु (स्), (दीर्घ—३७१) भवात्+स् (नुम्)—भवान् त्+ स् (विभक्तिलोप, 'त्' का संयोगान्तलोप)=भवान् । (२) भवत्+औ (नुम्)=भवन्तौ । शतृ प्रत्ययान्त (भू+अत्) में 'अतु' अन्त में न होने से दीर्घ नहीं होता, वहाँ नुम् होकर 'भवन्' (=होता हुआ) रूप बनता है ।

(३७२) पद—उभे, अभ्यस्तम् । **अनुवृत्ति**—द्वे । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—छठे अध्याय के द्वित्व-प्रकरण में जो द्वित्व का विधान किये हैं, वे दोनों (द्वित्व) सम्मिलित अभ्यस्तसंज्ञक होते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१) सूत्र से 'द्वे' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय में स्थित द्वित्व-प्रकरण के सम्मिलित दोनों रूपों की अभ्यस्त संज्ञा होती है ।

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न । ददत् । ददतौ । (३७४) जक्षित्यादयः षट् ६।१।६ । षड्धातवोऽन्ये, जक्षितिश्च सप्तमः एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं—जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चकासत् । 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' । 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये'—एतौ छान्दसौ । दीध्यत् । वेव्यत् ।

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा ।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥ १ ॥

---

(३७३) नाभ्यस्ताच्छतुरिति । 'इदितो' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । तदाह—अभ्यस्तादिति । ददिति । 'ददत् + सु' इत्यत्र हल्ङ्यादिना सुलोपे नुमि प्राप्ते अभ्यस्तसंज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषेधे 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे 'वाऽवसाने' इति विभाषया दकारस्य तकारे 'ददत्' इति । पक्षे ददिति ।

(३७४) जक्षित्यादय इति । अत्र 'उभे अभ्यस्तम्' इत्यतः 'अभ्यस्तमि'त्यनुवृत्तं बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । 'जक्षित्यादयः' इत्यत्राऽतद्-गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरित्यत आह मूले—षडित्यादिना । जक्षदिति । 'जक्षत् + सु' इत्यत्र 'उगिदचाम्०' इति नुमि प्राप्ते 'जक्षित्यादयः षट्' इति अभ्यस्तसंज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमो निषेधे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे पदसंज्ञायां जश्त्वेन तकारस्य दकारे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वे 'जक्षत्' इति । पक्षे 'जक्षदि'ति ।

---

(३७३) पद—न, अभ्यस्तात्, शतुः । **अनुवृत्ति**—नुम् । **विधि(निषेध)सूत्र ।**

मूलार्थ—अभ्यस्तसंज्ञक से पर 'शतृ' को नुम् नहीं होता । ददत् । ददतौ ।

विमर्श—यहाँ 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से नुम् की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार—'अभ्यस्तसंज्ञक से परवर्ती शतृ प्रत्यय को नुम् आगम नहीं होता ।'

उदाहरण—(१) ददत्+सु (स्), ('उगिदचां०' से प्राप्त नुम् का 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से निषेध, क्योंकि यहाँ दा को द्वित्व होकर अभ्यस्त संज्ञा हुई है) ददत्+स्, ('स्' का लोप, त्=द्—जश्त्व) ददद् (द्=त्—'पाक्षिक चर्त्व')=ददत्–ददद् । (२) ददत्+औ=ददतौ ।

(३७४) पद—जक्षित्यादयः, षट् । **अनुवृत्ति**—अभ्यस्तम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—जागृ आदि छः धातु और जक्ष् धातु की अभ्यस्त संज्ञा होती है । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः । जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत् तथा चकासत् भी इसी प्रकार बनते हैं । दीधीङ् और वेवीङ् धातु का प्रयोग वेद में ही होता है । इनके भी दीध्यत् और वेव्यत् रूप बनते हैं ।

अभ्यस्तसंज्ञक सात धातुओं का परिगणन प्रस्तुत कारिका में किया गया है । गुप्-गुब् । गुपौ । गुपः ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'उभे अभ्यस्तम्' से 'अभ्यस्तम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'जक्षि, जागृ, दरिद्रा, शास्, दीधीङ्, वेवीङ् तथा चकास्—ये सात धातुएँ अभ्यस्तसंज्ञक होती हैं ।'

उदाहरण—(१) जक्षत्+सु, ('उगिदचाम्०' से नुम् की प्राप्ति, 'जक्षित्यादयः षट्' से अभ्यस्त संज्ञा होकर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का निषेध, 'हल्ङ्याब्भ्य०' से विभक्ति का लोप) जक्षत्, (त्=द्—'झलां जशोऽन्ते') जक्षद् (द्=त् 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर्त्व)=जक्षत्, जक्षद् । (२) जक्षतौ (औ) । (३) जक्षतः (जस्) । जक्षत्=खाता हुआ । इसी प्रकार जाग्रत्

गुप्–गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् । (३७५) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६० । त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थात् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्, चात्क्विन् । **(३७६) आ सर्वनाम्नः ६।३।९१ ।** सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु । **तादृक्–तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् ।** 'व्रश्चे'ति षः । जश्त्वचर्त्वे । विट्–

---

(३७५) **त्यदादिष्विति ।** सूत्रस्थचकारेण 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः क्विन् अनुकृष्यते । आलोचनमिह ज्ञानसामान्यम्, न तु चाक्षुषज्ञानम् । तदाह–**त्यदादिष्विति ।**

(३७६) **आ सर्वनाम्न इति ।** आ इति लुप्तविभक्तिकं पदम् । 'दृग्दृश्वतुषु' इत्यनुवर्तते । तदाह—**सर्वनाम्न इत्यादि ।**

(=जागता हुआ), दरिद्रत् (=दुर्गति को प्राप्त होता हुआ), शासत् (=शासन करता हुआ), दीध्यत् (=देता हुआ), वेव्यत् (=देता हुआ) तथा चकासत् (=चमकता हुआ) शब्दों के रूप भी बनेंगे । इनमें दीधीङ् तथा वेवीङ् धातुओं के शतृ प्रत्ययान्त रूप वेद में ही होते हैं ।

क्विप् प्रत्ययान्त √ गुप् (=रक्षा करना) से गुप् शब्द के रूप इस प्रकार बनते हैं—(१) गुप्+सु (स्)—(विभक्ति का लोप)—गुप् (जश्त्व एवं पाक्षिक चर्त्व)=गुप्, गुब् । (२) गुपौ (औ) । (३) गुपः (जस्) । (४) गुब्भ्याम् ।

(३७५) पद—त्यदादिषु, दृशः, अनालोचने, कञ् च । **अनुवृत्ति**—क्विन् । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—त्यदादि उपपद रहने पर अज्ञानार्थक दृश् धातु से कञ् प्रत्यय होता है और क्विन् भी ।

विमर्श—सूत्रस्थ 'च' पद के द्वारा 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (३७८) से 'क्विन्' की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार 'त्यद् आदि सर्वनाम शब्दों के उपपद रहने पर अज्ञानार्थक √दृश् से कञ् तथा क्विन् प्रत्यय होते हैं ।'

(३७६) पद—आ, सर्वनाम्नः । **अनुवृत्ति**—दृग्दृश्वतुषु । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—दृग्, दृश् तथा वतु के पर रहने पर सर्वनाम को आकार अन्तादेश होता है । तादृक्–तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् । व्रश्चेति षः । विट्–विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र 'दृग्दृश्वतुषु' (६।३।८९) की अनुवृत्ति आती है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की उपस्थिति होने से—'दृग्, दृश् और वतु पर रहते सर्वनामवाची शब्दों के अन्त्य वर्ण के स्थान पर 'आ' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) तद्+दृश्, (क्विन्—'त्यदादिषु०' उसका सर्वापहारी लोप) तद्+दृश्, (द्=आ 'आ सर्वनाम्नः') त आ+दृश्, (सवर्णदीर्घ) तादृश्+सु (स्)—(विभक्ति का लोप, श=ष्—'व्रश्च') तादृष् (ष्=ड्—'जश्त्व' ड्=ग्—कुत्व—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः')—तादृग् (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व—'वाऽवसाने')=तादृक् । पक्ष में=तादृग् (=वैसा) । (२) तादृश्+औ=तादृशौ । (३) तादृश्+जस् (अस्) (स्=र्=:)=तादृशः । (४) तादृश्+भ्याम् (श्=ष्, ष्=ड्=ग्)=तादृग्भ्याम् ।

√विश् से क्विप् प्रत्यय होने पर विश् (=प्रवेश करने वाला) शब्द बनता है । (१) विश्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, श्=ष्—'व्रश्च०') विष् (ष्=ड्—'जश्त्व' ड्=ट—

विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम् । (३७७) नशेर्वा ८।२।६३ । नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते । नक्–नग् । नट्–नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्–नड्भ्याम् । (३७८) स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८ । अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् । घृतस्पृक्–घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्–दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्–

---

(३७७) **नशेर्वा इति** । अत्र 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यतः 'कुरि'ति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतश्च 'अन्ते' इति चानुवर्तते । 'पदस्य' इत्यधिकृतम् । तदाह—**नशेः कवर्ग इत्यादि** । **नक्–नगिति** । कुत्वपक्षे जश्त्वचर्त्वाभ्यां रूपे । **नट्–नडिति** । षत्वपक्षे जश्त्वचर्त्वाभ्यां रूपे ।

(३७८) **स्पृशोऽनुदके इति** । 'सुपि स्थः' इत्यतः सुपीत्यनुवर्तते । उदकशब्दभिन्ने सुबन्ते उपपदे स्पृशेः क्विन् स्यादिति सूत्रार्थः । **घृतस्पृक् इति** । घृतं स्पृशतीति

'पाक्षिक चर्त्व')=विट्, विड् । (२) विशौ (औ) । (३) विशः (जस्) । (४) विड्भ्याम् (भ्याम्) ।

(३७७) पद—नशेः, वा । **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते, कुः । **विधिसूत्र ।**

सूत्रार्थ—पदान्त में नश् को विकल्प से कवर्ग अन्तादेश होता है । नक्–नट् । नट्–नड् । नशौ । नशः । नड्भ्याम्—नग्भ्याम् ।

विमर्श—यहाँ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८।१।६३) से 'कुः' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३३१) से 'अन्ते' की अनुवृत्ति आ रही है । 'पदस्य' का अधिकार है । इस प्रकार—'पद के अन्त में नश् के स्थान पर विकल्प से ('अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा द्वारा) क वर्ग अन्तादेश होता है ।'

उदाहरण—√नश्+क्विप्—नश् (=दिखलायी न देना) शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार हैं—(१) नश्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, श्=ष्)—नष् ('ष्'='ड्'—जश्त्व) नड्, (ड्=ग्—विकल्प से कुत्व—'नशेर्वा') नग् (ग्=क् 'विकल्प से चर्त्व')=नक् । चर्त्व के अभाव में=नग् । कुत्व के अभाव में पाक्षिक चर्त्व ड्=ट् होकर—नट्, नड् । (२) नशौ (औ) । (३) नशः (जस्) । (४) नड्भ्याम् (भ्याम्); यहाँ विकल्प से कुत्व होकर—नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ।

(३७८) पद—स्पृशः, अनुदके, क्विन् । **अनुवृत्ति**—सुपि । **विधिसूत्र ।**

सूत्रार्थ—उदक-भिन्न सुबन्त उपपद रहते 'स्पृश्' धातु से क्विन् प्रत्यय होता है । घृतस्पृक्–ग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । दधृक्–ग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् । रत्नमुट्–ड् । रत्नमुषौ । रत्नमुषः । रत्नमुड्भ्याम् । षट्–षड् । षड्भिः । षण्णाम् । षट्त्सु, षट्सु । प्राचीन आचार्यों ने जो 'षण्णाम्, षड्णाम्' दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वह प्रमाद ही है; क्योंकि यहाँ 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से नित्य ड्=ण् होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र से 'सुपि' की अनुवृत्ति आ रही है । अनुवृत्त 'सुपि' पद का 'अनुदके' के साथ अन्वय होता है । तदनुसार—'**उदक**पद-भिन्न सुबन्त उपपद रहते स्पृश् धातु से क्विन्प्रत्यय होता है ।'

उदाहरण—'घृतं स्पृशति' विग्रह में घृत उपपदपूर्वक स्पृश् धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारी लोप, उपपद समास होकर—घृतस्पृश् (=घी का स्पर्श करने वाला) शब्द बनता है । (१)

रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुषः। रत्नमुड्भ्याम्। षट्-षड्। षड्भिः। षड्भ्यः-२। षण्णाम्। षट्त्सु-षट्सु। यत्तु प्राचा षण्णां षड्णामित्युदाहृतं, तत्प्रामादिकमेव, प्रत्यये नित्यवचनात्। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् ससजुषोरिति रुत्वम्। (३७९)

क्विन्, तस्य सर्वापहारिलोपे, उपपदसमासे सुब्लुकि घृतस्पृश्शब्दात् सौ, हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वं 'व्रश्चे'ति शस्य षत्वे, जश्त्वेन तस्य डत्वे, तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन कुत्वे गकारे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वेन ककारे 'घृतस्पृक्' इति। पक्षे 'घृतस्पृग्' इति। 'घृतस्पर्शकारी' इत्यर्थः।

घृतस्पृश्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, कुत्व असिद्ध होने से श्=ष, ष्=ड्—'जश्त्व', ड्=ग—'कुत्व', ग्=क्—पाक्षिक चर्त्व)=घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। (२) घृतस्पृशौ (औ)। (३) घृतस्पृशः (जस्)।

षकारान्त दधृष् शब्द की रूपसिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—(धृष्णोतीति विग्रहे √धृष् (ञिधृषा)+क्विन् 'ऋत्विग्०' द्वित्व आदि निपातन से होकर दधृष् शब्द निष्पन्न होता है।) (१) दधृष्+सु, (विभक्ति लोप, ष्=ड्—'जश्त्व') दधृड्, (ड्=ग्–'कुत्व') दधृग्, (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व')=दधृक्। पक्ष में=दधृग्। (२) दधृषौ (औ)। (३) दधृषः (जस्)। (४) दधृग्भ्याम् (भ्याम्) इत्यादि।

रत्नानि मुष्णाति (रत्न चुराने वाला) अर्थ में रत्न+मुष् धातु से क्विन् प्रत्यय होकर 'रत्नमुष्' शब्द बनता है। (१) रत्नमुष्+सु (स्), (विभक्ति का लोप, ष्=ड्) रत्नमुड्, (ड्=ट्—'पाक्षिक चर्त्व')=रत्नमुट्, रत्नमुड्। (२) रत्नमुष्+औ=रत्नमुषौ। (३) रत्नमुष्+(जस्) अस् (स्=र्=ः)=रत्नमुषः। (४) रत्नमुष्+भ्याम् (ष्=ड्)=रत्न-मुड्भ्याम्।

बहुवचनान्त संख्यावाचक 'षष्' शब्द की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(१) षष्+जस्, (षट् संज्ञा 'षड्भ्यो लुक्' से जस् का लुक्) षष्, (जश्त्व से ष्=ड्) षड्, (ड्=ट्—'पाक्षिक चर्त्व')=षट्, षड्। (२) षष्+भिस् (ष्=ड्—'जश्त्व', स्=र्=ः)=षड्भिः। (३) षष्+भ्यस् (ष्=ड्, स्=र्=ः)=षड्भ्यः। (४) षष्+आम्, (नुट् का आगम—'षट्चतुर्भ्यश्च') षष्+नाम्, ('ष्'='ड्'—'जश्त्व') षड्+नाम्, ('न्'='ण्' ष्टुत्व,) षड्+णाम् (ड्=ण्—'प्रत्यये भाषायां नित्यम्')=षण्णाम्। (५) षष्+सुप् (सु), (ष्=ड्)—षड्+सु, (विकल्प से धुट् (ध्) का आगम—'डः सि धुट्') षड्ध्+सु (ड्=ट्, ध्=त्-चर्त्व)=षट्त्सु। धुट् का आगम न होने पर ड्=ट् 'चर्त्व')=षट्सु।

यहाँ षष्ठी विभक्ति में प्राचीन आचार्यों ने दो रूप षण्णाम् और 'षड्नाम्' उदाहृत किये हैं। वह उनका प्रमाद ही है। क्योंकि 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इस वार्तिक वचन से नित्य अनुनासिक ड्=ण् विधान किया जाता है।

'पठितुमिच्छति' (पढ़ने की इच्छा करने वाला) अर्थ में 'पिपठिष्' शब्द है। पिपठिष्+सु (स्), (विभक्ति का लोप) पिपठिष् (यहाँ सन् सम्बन्धी स् के स्थान में विधीयमान 'ष्' रुत्व विधायक शास्त्र 'ससजुषो रुः' की दृष्टि में असिद्ध होने से ष्=स्=रु)—पिपठिर् (आगे दीर्घ विधायक शास्त्र का उल्लेख किया जा रहा है—

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। **(३८०) नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८।** एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपीण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः। पिपठीष्षु—पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। चिकीर्षु।

---

(३७९) **र्वोरुपधाया इति।** 'र् च व् चे'ति द्वन्द्वे 'र्वौ' तयोरिति विग्रहे 'र्वोः' इति। 'सिपि धातो रुर्वा' इत्यतो धातोरित्यनुवर्तते, 'स्कोः' इत्यत अन्ते इति चानुवर्तते। 'पदस्ये'त्यधिकृतम्। 'र्वोः' इति धातोरित्यस्य विशेषणम्, तेन तदन्तविधिस्तदाह—**रेफवान्तस्येत्यादिना। पिपठीरिति।** 'पिपठिष्+सु' इत्यत्र 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपे रुत्वे कर्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे पिपठिर् इति जाते 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति इकारस्य दीर्घे, रेफस्य विसर्गे कृते 'पिपठीः' इति।

(३८०) **नुम्विसर्जनीय इति।** अत्र 'इण्कोः' इति, मूर्द्धन्य इति चानुवर्तते। तदाह—**एतैरित्यादि। पिपठीष्षु इति।** पिपठिष्शब्दात् सुप्यनुबन्धलोपे 'पिपठिष्+सु' इत्यत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः'

---

(३७९) पद—र्वोः, उपधायाः, दीर्घः, इकः। **अनुवृत्ति**—पदस्य, अन्ते, धातोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—पदान्त में रेफान्त और वान्त धातु की उपधा को दीर्घ होता है। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'सिपि धातो रुर्वा' (८।२।७४) से 'धातोः' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (३३१) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है। 'पदस्य' का अधिकार है। 'र्वोः' पद धातो का विशेषण होने से उसमें तदन्त विधि होती है। तदनुसार 'पदान्त में रकारान्त और वकारान्त धातु की उपधा के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) को दीर्घ होता है।'

उदाहरण—(१) पूर्वोक्त रूप पिपठिर् (रेफान्त धातु की उपधा 'इ' को दीर्घ—'र्वोरुपधाया')—पिपठीर् (र्=:)=पिपठीः। (२) पिपठिषौ (औ)। (३) पिपठिषः (जस्)। (४) पिपठीर्भ्याम् (दीर्घ)।

(३८०) पद—नुम् विसर्जनीयशर्व्यवाये, अपि। **अनुवृत्ति**—मूर्द्धन्यः, सः, इण्कोः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—नुम, विसर्ग और शर् इनमें किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण्, कवर्ग से पर विसर्ग को 'ष्' होता है। पिपठीष्षु। 'वा शरि'। पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। चिकीर्षु। विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्!

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' (८।३।५५) से 'मूर्द्धन्यः', 'सहेः साडः सः' (२८४) से 'सः', तथा 'इण्कोः' (८।३।५७) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—"नुम्, विसर्ग तथा शर्—इनमें से किसी एक का व्यवधान होने पर इण् और कवर्ग से परवर्ती 'स्' के स्थान पर मूर्द्धन्य (ष्) आदेश होता है।"

उदाहरण—पिपठिष्+सु (सुप्), (रुत्व की कर्तव्यता में षत्व के असिद्ध होने से स्=र्) पिपठिर्+सु, (इ='ई' दीर्घ 'र्वोरुपधायाः') पिपठीर्+सु, (र्=: 'खरवसानयोः') पिपठीः

विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्। (३८१) वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१। वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणम्। विदुषः। वसुस्रंस्विति दत्वम्। विद्वद्भ्याम्। (३८२) पुंसोऽसुङ् ७।१।८९। पुंसोऽसुङ् स्यात् सर्वनामस्थाने। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ।

इति रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे 'रोः सुपि' इति रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे 'ष्टुना ष्टुः'रिति पूर्वसकारस्य ष्टुत्वेन षकारे 'पिपठीष्षु' इति। पक्षे 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे पिपठीःषु इति।

(३८१) **वसोः सम्प्रसारणमिति।** 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ताः ग्राह्या' इति परिभाषयाऽत्र वसोरिति तदन्तग्रहणम्। 'भस्ये'त्यधिक्रियते। तदाह—**वस्वन्तस्येति।**

(३८२) **पुंसोऽसुङिति।** अत्र 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यतः 'सर्वनामस्थाने'

सु; ('नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' से स्=ष्)—पिपठीःषु ('वा शरि' से विकल्प से विसर्ग के स्थान में विसर्ग होने से पक्ष में विसर्ग के स्थान पर 'विसर्जनीयस्य सः' से स्, स्=ष् 'ष्टुत्व')=पिपठीष्षु।

कर्तुमिच्छति (=करने की इच्छा वाला) अर्थ में चिकीर्ष् शब्द है। (१) चिकीर्ष्+सु (स्), (विभक्ति लोप)—चिकीर्ष् (षत्व के असिद्ध होने से स् का लोप 'रात्सस्य') चिकीर् (र्=ः)=चिकीः। (२) चिकीर्षौ (औ)। (३) चिकीर्षः (जस्)। (४) चिकीर्ष्+सु (स् का लोप, षत्व)=चिकीर्षु।

विद्वस् शब्द की रूपसिद्धि का उल्लेख किया जा रहा है—(ज्ञानार्थक √विद्+लट्, (लट्=शतृ-अत) विद्+अत, (शप्)—विद् अ अत (शप् का लोप व शतृ=वस्)=विद्वस् =विद्वान्।) (१) विद्वस्+सु (स्), (नुम् का आगम, 'उगिदचाम्') विद्वन् स्, (दीर्घ अ='आ'—'सान्तमहतः') विद्वान् स्+स् (विभक्तिलोप, स् का संयोगान्त लोप)=विद्वान्। (२) विद्वस्+औ (नुम, दीर्घ न्=अनुस्वार)=विद्वांसौ। (३) हे विद्वस्+स् ('स्' का लोप, नुम् संयोगान्त लोप, यहाँ सम्बोधन में दीर्घ नहीं होता)=हे विद्वन्!

(३८१) पद—वसोः, सम्प्रसारणम्। **अनुवृत्ति**—अङ्गस्य, भस्य। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—वस्वन्त भसंज्ञक अंग को सम्प्रसारण होता है। विदुषः। 'वसुस्रंसु०' से द्। विद्वद्भ्याम्।

विमर्श—यहाँ 'अङ्गस्य' तथा 'भस्य' का अधिकार है। 'वसोः' पद अङ्गस्य का विशेषण है। अतः तदन्त विधि होती है। इस प्रकार वस्वन्त भसंज्ञक अंग के स्थान पर सम्प्रसारण (व्=उ) होता है।

उदाहरण—(१) विद्वस्+शस् (अस्), (व्=उ 'सम्प्रसारण') विद् उ अस्+अस्, (उ+अ=उ पूर्वरूप 'सम्प्रसारणाच्च') विदुस्+अस्, (स्=ष्—'आदेशप्रत्यययोः') विदुषस् (स्=र्=ः)=विदुषः। (२) विद्वस्+भ्याम् (स्=द् 'वसुस्रंसु०')=विद्वद्भ्याम्।

(३८२) पद—पुंसः, असुङ्। **अनुवृत्ति**—सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सर्वनामस्थान की विवक्षा में पुंस् को 'असुङ्' होता है। पुमान्। पुमांसौ। पुंसः। पुंभ्याम्। पुंसु। 'ऋदुशनस०' से अनङ्। उशना। उशनसौ। (वा०) इसके सम्बुद्धि में अनङ्

पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ् । उशना । उशनसौ । * अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः * । हे उशन–हे उशनन्–हे उशनः ! उशनोभ्याम् । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः । वेधा । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ।

इत्यनुवर्तते । तदाह—**सर्वनामस्थान इत्यादि । पुमान् इति** । पुंस्शब्दात्सौ 'ङिच्चे'-ति सूत्रबलात् 'पुंसोऽसुङ्' इति सकारस्य स्थानेऽसुङि 'पुमसुङ् + सु' इति जाते, ङकारोकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'पुमस् + सु' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे प्रत्ययलक्षणे 'उगिदचामि'ति नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे सस्य संयोगान्तलोपे 'पुमान्' इति ।

और नलोप भी विकल्प से होते हैं। हे उशन–हे उशनन्–हे उशनः ! उशनोभ्याम् । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः ! वेधा । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ।

विमर्श—यहाँ 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति अपेक्षित है । तदनुसार 'सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) पर रहते पुंस् शब्द के अन्त्य वर्ण स् के स्थान पर (अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से) असुङ् (अस्) आदेश होगा ।'

उदाहरण—(१) पुंस्+स्, (स्=असुङ्–अस्) पुम् अस्+स् (यहाँ अनुस्वार अपनी पूर्व स्थिति में आ गया—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्युपायः') नुम् का आगम—पुमन् स्+स्, (दीर्घ—'सान्तमहतः') पुमान् स्+स् (विभक्तिलोप, स् का संयोगान्त लोप)=पुमान् (=पुरुष)। (२) पुंस्+औ, (स्=अस्) पुमस्+औ (नुम्, दीर्घ, न्=अनुस्वार)= पुमांसौ । (३) पुंस्+शस् (अस्) (यहाँ सर्वनामस्थान न होने से असुङ् नहीं हुआ, स्= र्=:)=पुंसः । (४) पुंस्+भ्याम् (स् लोप तथा म् को अनुस्वार=परसवर्ण)=पुंभ्याम् । (५) पुंस्+सुप् (सु), (स् का संयोगान्तलोप म्=अनुस्वार)=पुंसु ।

उशनस् (=शुक्राचार्य) शब्द के रूपों की प्रक्रिया का प्रदर्शन किया जा रहा है—

(१) उशनस्+सु (स्), (स्=अन्—'ऋदुशनस्पुरुदंसः') उशनअन्+स्, (अ+अ= अ—'पररूप') उशनन्+स्, (उपधादीर्घ) उशनान् स् ('स्' विभक्ति का लोप, न् का लोप) =उशना । (२) उशनस्+औ=उशनसौ ।

(वा०)—उशनस् शब्द में सम्बुद्धि के विषय में अनङ् और नलोप भी विकल्प से होते हैं । (१) हे उशनस्+स्, (स्=अन् विकल्प से) पररूप तथा विभक्तिलोप होकर=हे उशनन् ! उक्त कार्यों के अतिरिक्त न् लोप होने पर=हे उशन ! अनङ् न होने पर विभक्तिलोप के बाद स्=र्=:)=हे उशनः । (२) उशनस्+भ्याम् (स्=रु=उ, अ+उ=ओ 'गुण')= उशनोभ्याम् ।

सकारान्त अनेहस् (=काल) शब्द के रूप सम्बोधन के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में 'उशनस्' के समान बनते हैं । प्रथमा—अनेहा, अनेहसौ, अनेहसः । सम्बोधन में—अनेहस्+स् (विभक्तिलोप, दीर्घ का अभाव, स्=र्=:)=हे अनेहः !

वेधस् (=ब्रह्मा) शब्द की रूप-प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) वेधस्+सु (स्), ('अ'= 'आ' दीर्घ—'अत्वसन्तस्य चाधातोः') वेधास्+स्, (विभक्ति का लोप)—वेधास् (स्=र्=:) =वेधाः । (२) वेधस्+औ=वेधसौ । (३) वेधस्+(जस्) अस् (स्=र्=:)=वेधसः । (४) वेधस्+भ्याम् (स्=रु=उ) वेध उ भ्याम् (गुण)=वेधोभ्याम् ।

(३८३) अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७। अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च। 'तदोरि'ति सः। असौ। * औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः *। प्रतिषेधपक्षे सादुत्वं च। असकौ। असुकः। त्यदाद्यत्वं पररूपम्। वृद्धिः। **(३८४) अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०।** अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः। दीर्घस्य ऊः। अमू। 'जशः शी'। गुणः। **(३८५)**

---

(३८३) **अदस औ इति।** 'अदसः' इति षष्ठ्यन्तं पदम्। 'औ' इत्यविभक्तिक-निर्देशः। इह 'तदोः सः सावि'त्यतः सावित्यनुवर्तते। अलोऽन्त्यस्येति परिभाषे-होपतिष्ठते। तदाह—**अदस औकार इत्यादिना। असौ इति।** 'अदस्+स्' इति स्थिते 'अदस औ सुलोपश्च' इति सकारस्यौत्वे स्लोपे च विहिते 'अद्+औ' इति जाते, 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति दस्य सत्वे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'असौ' इति।

(३८४) **अदसो इति।** अत्र अदसः, असेः, दात्, उ, दः, मः इति पदच्छेदः। न विद्यते सि=सकारो यस्य सोऽसिस्तस्य सकाररहितस्येत्यर्थः। असेरिति अदसो

---

(३८३) पद—अदसः, औ, सुलोपः, च। **अनुवृत्ति**—सौ। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—'सु' पर रहते अदस् को 'औ' अन्तादेश होता है और सु का लोप होता है। 'तदोः सः' से द्=स्। असौ। (वा०)—'अकच् सहित अदस् को औत्व का निषेध विकल्प से कहना चाहिए। निषेधपक्ष में सकार से उत्तरवर्ती वर्ण अकार को उत्व भी होता है।' असकौ। असुकः।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) से 'सौ' पद की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार "सु विभक्ति के परवर्ती रहने पर अदस् शब्द के स् के स्थान पर 'औ' आदेश होता है तथा विभक्ति का लोप भी होता है।"

उदाहरण—(१) अदस्+सु (स्), (स्=औ, और विभक्ति का लोप—'अदस औ') अद+औ, (द्=स्—'तदोः सः') अस औ, (अ+औ=औ—'वृद्धि')=असौ। (वा०)—"अकच् प्रत्यय सहित अदस् शब्द को 'औ' का विकल्प से निषेध होता है तथा से पर 'अ' के स्थान पर 'उ' भी विकल्प से होता है"। (२) अदस्+अकच् (अक्)=अद्—अक्—अस्+सु, (सु का लोप, स्=औ) **अदक**+औ, (द्=स्—'तदोः सः') असक औ (अ+औ='औ'-'वृद्धि')=असकौ। औकार न होने पर अदकस्+स् (स्=अ 'त्यदादीनामः' से पररूप) अदक +स्, (द्=स्) असक+स् (सकारोत्तरवर्ती अ=उ, विभक्ति के स्=र्=ः)=असुकः।

प्रसङ्गतः अकच् प्रत्यय सहित अदस् शब्द के रूपों की विशेषता का उल्लेख कर पुनः अदस् शब्द के अन्य रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—

(३८४) पद—अदसः, असे, दात्, उः, दः, मः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—सान्त-भिन्न 'अदस्' शब्द के दकार से पर ह्रस्व को 'उ', दीर्घ को 'ऊ' और द् को म् आदेश होता है। अमू।

विमर्श—सूत्र स्वयं में पूर्ण है। अतः यहाँ कोई अनुवृत्ति नहीं आती। 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र (परिभाषा) की उपस्थिति से—'सकारान्त-भिन्न अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उ एवं ऊ (ह्रस्व को उ, दीर्घ को ऊ) आदेश तथा द्=म् आदेश होता है। यह प्रमाणकृत सादृश्य का उदाहरण है।

एत ईद् बहुवचने ८।२।८१। अदसो दात्परस्यैत ईत् दस्य च मो, बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्राऽसिद्धमि'ति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां 'ना'भावः। **(३८६) न मु ने ८।२।३।** 'ना'भावे कर्तव्ये,

---

विशेषणम्। दादिति पञ्चमी, परस्येत्यध्याहार्यम्। तदाह—**अदसोऽसान्तस्येति। अमू इति।** 'अदस्+औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे पररूपे 'अद+औ' इति जाते 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' इत्यौकारस्य ऊकारे दस्य मत्वे च 'अमू' इति रूपम्।

(३८५) **एत ईदिति।** अत्र 'अदसोऽसेर्दा दु दोमः' इत्यतः 'अदसः' इति, 'दादि'-ति, 'दः' इति, 'मः' इति पदचतुष्टयमनुवर्तते। तेन 'अदसो दात्परस्य एत ईत्स्यात् दस्य च मो बहुवचने' इत्यर्थः। **अमी इति।** 'अदस्+जस्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे 'जसः शी' इति जसः स्थाने 'शी' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे 'अदे' इति जाते, 'एत ईद् बहुवचने' इति ईत्वे दस्य मकारे च कृते 'अमी' इति सिद्धम्।

(३८६) **न मु ने इति।** 'पूर्वत्राऽसिद्धमि'त्यतः 'असिद्धमि'त्यनुवर्तते। म् च उश्चेति समाहारद्वन्द्वः। 'ने' इति नाशब्दस्य सप्तम्येकवचनम्। विषयसप्तमी चैषा। तथा च नाभावे कृते कर्तव्ये च लभ्यते। तदाह—**नाभाव इत्यादि। अमुना इति।**

उदाहरण—(१) अदस्+औ, (स्=अ—'त्यदादीनामः' से पररूप) अद+औ (अ+औ=औ—'वृद्धि')—अदौ (द्=म्, औ=ऊ 'अदसोऽसेर्दादु दो मः')=अमू।

(३८५) पद—एतः, ईत, बहुवचने। **अनुवृत्ति**—अदसः, दात, दः, मः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—बहुवचन में अदस् शब्द के द् से पर एकार को ईत तथा द् के स्थान पर म् आदेश होते हैं। अमी। 'पूर्वत्रासिद्धम्' के नियम के अनुसार पहले विभक्तिकार्य, पश्चात् उकार और मकार होते हैं। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्व हो जाने पर, घि संज्ञा होकर टा के स्थान पर 'ना' आदेश होगा।

विमर्श—सूत्रार्थ की स्पष्टता के लिए—'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३८४) से 'अदसः, दात, दः और मः' की अनुवृत्ति की जाती है। तदनुसार "बहुवचन में अदस् शब्द के अवयव 'द्' से पर 'ए' के स्थान पर 'ई' (ईत्) आदेश होता है तथा द् के स्थान पर म् होता है।"

उदाहरण—(१) अदस्+जस् (स्=अ, पररूप)—अद+जस्, (जस्=शी-ई) अद+ई, (अ+ई=ए 'गुण') अदे (ए=ई, द्=म्—'एत ईद् बहुवचने')=अमी। (२) अदस्+अम् (स्=अ, पररूप) अद+अम्, (अ+अ='अ' 'अमि पूर्वः')—अदम् (द्=म, अ=उ 'अदसोऽसेः')=अमुम्। (३) अदस्+औ='अमू' (पूर्ववत्)। (४) अदस्+शस् (स्=अ, पररूप)—अद+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=न् 'तस्माच्छसो')—अदान् (द्=म्, आ=ऊ)=अमून्।

(३८६) पद—न, मु, ने। **अनुवृत्ति**—असिद्धम्। **असिद्ध निषेधसूत्र।**

मूलार्थ—नाभाव कर्तव्य होने पर या कर चुकने पर मुभाव असिद्ध नहीं होता। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

कृते च मुभावो नाऽसिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

॥ इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः ॥

अदस्शब्दाट्टाविभक्तावनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपे च 'अदसोऽसेः' इति अकारस्योत्वे दस्य मत्वे 'अमु+आ' इति जाते घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति नाभावे कर्तव्ये मुत्वस्यासिद्धत्वे प्राप्ते 'न मु ने' इत्यनेन मुत्वस्याऽसिद्धत्वाऽभावबोधनात् 'टा' इत्यस्य नादेशे कृते 'अमुना' इति। अत्र मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घस्तु न शङ्क्यः, तेनैव सूत्रेण नाभावे कृतेऽपि मुत्वस्याऽसिद्धत्वनिषेधादिति।

इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

विमर्श—प्रकृत सूत्र द्वारा असिद्ध विधान का निषेध किया जा रहा है। अतएव 'पूर्वत्रा-सिद्धम्' (३४) से 'असिद्धम्' की अनुवृत्ति आ रही है। सूत्र का 'ने' पद सप्तमी का एकवचन है। यहाँ वैषयिक सप्तमी अभीष्ट है। अतः 'ना' आदेश के विषय में अथवा 'ना' हो जाने पर मुभाव ('म्' और 'उ' आदेश) असिद्ध नहीं होते।

उदाहरण—(१) अदस्+टा (स्=अ, पररूप)—अद+टा, (द्=म्, अ=उ—'अद-सोऽसेः') अमु+टा (आ), (यहाँ 'आ' के स्थान पर 'ना' विधायक सूत्र—'आङो नाऽस्त्रियाम्' (७।३।१२०) के प्रति त्रिपादीस्थ सूत्र—'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) के द्वारा विधीयमान 'म्' और 'उ' असिद्ध होने से उकारान्त पद के अभाव में आ=ना प्राप्त नहीं है। किन्तु 'न मु ने' सूत्र द्वारा असिद्ध का निषेध होने से घिसंज्ञा होकर 'आ'='ना' आदेश हो जाता है)=अमुना। (२) अदस्+भ्याम्, (स्=अ, पररूप) अद+भ्याम्, (दीर्घ-'सुपि च') अदा+भ्याम् (द्=म्, आ=ऊ 'अदसोऽसेः')=अमूभ्याम्। (३) अदस्+भिस्, (अत्व, पररूप) अद+भिस् (अ=ए 'बहुवचने', द्=म्, ए=ई—'एत ईद् बहुवचने')—अमीभिस् (स्=र्=ः)= अमीभिः। (४) अदस्+ङे, (अत्व, पररूप) अद+ङे (ङे=स्मै 'सर्वनाम्नः स्मै')—अद+स्मै (द्=म्, अ=उ, स्=ष्)=अमुष्मै। (५) अदस्+भ्यस्, (स्=अ, पररूप) अद+भ्यस् (अ=ए—'बहुवचने झल्येत्')—अदे+भ्यस्, (द्=म्, ए=ई 'एत ईद्बहुवचने') अमी-भ्यस् (स्=र्=ः)=अमीभ्यः। (६) अदस्+ङसि, (अत्व, पररूप) अद+ङसि, (ङसि=स्मात्) अद+स्मात् (द्=म्, अ=उ)=अमुस्मात्। (७) अदस्+ङस्, (अत्व, पररूप) अद+ङस् (ङस्=स्य)—अद+स्य (द्=म्, अ=उ)—अमुस्य (स्=ष्)=अमुष्य। (८) अदस्+ओस्, (अत्व, पररूप) अद+ओस्, (एत्व—'ओसि च' ए=अय्) अदयोस्, (मुत्व) अमुयोस् (स्=र्=ः)=अमुयोः। (९) अदस्+आम्, (अत्व, पररूप) अद+आम्, (सुट् का आगम—'आमि सर्वनाम्नः') अद स् आम्, (अ=ए—'बहुवचने झल्येत्') अदे+साम्, (द्=म्, ए=ई 'एत ईद् बहुवचने') अमी+साम् (स्=ष्)=अमीषाम्। (१०) अदस्+ङि, (अत्व, पररूप, ङि=स्मिन्) अद+स्मिन्, (द्=म्, अ=उ) अमुस्मिन् (स्=ष्)=अमुष्मिन्। (११) अदस्+ओस्=अमुयोः (पूर्ववत्)। (१२) अदस्+सुप् (सु,)

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः

(३८७) नहो धः ८।२।३४ । नहो हस्य धः स्यात् झलि पदान्ते च । (३८८) नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ६।३।११६ । क्विबन्तेष्वेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत्–उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । निपातनाद्धलोप-षत्वे । क्विबन्नन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः । जश्त्वचर्त्वे । उष्णिक्–उष्णिग् । उष्णिहौ ।

---

(३८७) **नहो ध इति** । अत्र 'हो ढः' इत्यतः 'ह' इति, 'झलो झलि' इत्यतः 'झलि' इति 'स्कोः' इत्यतः 'अन्ते' इति चानुवर्तते । 'पदस्ये'त्यधिकृतम् । तदाह—**नहो हस्येति** ।

(३८८) **नहिवृति इति** । दीर्घविधिः, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यतस्तदनु-वृत्तेः । तदाह—**क्विबन्तेष्वित्यादिना** ।

उपानत् इति । उपपूर्वकात् 'णह् बन्धने' इत्यतः 'णो नः' इति णस्य नत्वे उप-नह्यते इति विग्रहे कर्मणि क्विपि 'नहिवृति' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घे उपानह्शब्दः स्त्रीलिङ्गः । तस्मात्सौ 'उपानह्+स्' इति स्थिते 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सोर्लोपे 'नहो

(अत्व, पररूप) अद+सु (एत्व)—अदे+सु, (द्=म् , ए=ई 'एत ईत्०') अमीसु (स्=ष्)=अमीषु ।

सकारान्तपुंल्लिङ्ग अदस् (=वह) शब्द के रूप

	एक०	द्वि०	बहु०		एक०	द्वि०	बहु०
प्र०—	असौ	अमू	अमी	पं०—	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०—	अमुम्	अमू	अमून्	ष०—	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०—	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०—	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु
च०—	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः				

हलन्तपुँल्लिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

---

(३८७) पद—नहः, धः । **अनुवृत्ति**—हः, झलि, पदस्य, अन्ते । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—झल् पर रहते अथवा पदान्त में नह् धातु के हकार को धकार आदेश होता है ।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'हो ढः' (२७२) से 'हः', 'झलो झलि' (८।२।२६) से 'झलि' तथा 'स्कोः' (८।२।२९) से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । तदनुसार—"झल-प्रत्याहारस्थ वर्ण के पर रहते अथवा पदान्त में 'नह्' धातु के ह् के स्थान पर 'ध्' आदेश होता है ।"

(३८८) पद—नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु, क्वौ । **अनुवृत्ति**—पूर्वस्य, दीर्घः ।

मूलार्थ—क्विबन्त √नह्, वृत, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु के पर रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है । उपानत । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । क्विबन्त होने के कारण कुत्व से ह्=घ् । जश्त्व तथा चर्त्व होकर—उष्णिक्–उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिहः । उष्णि-

उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । एवं—पूः । चतस्रः–२ । चतसृभिः । चतसृभ्यः–२ । चतसृणाम् । चतसृषु । का । के । काः ।

धः' इति हस्य धत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन धकारस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे 'उपानत्' इति । पक्षे—'उपानद्' इति ।=पादत्राणमित्यर्थः ।

ग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । गीः । गिरौ । गिरः । इसी प्रकार—पूः । चतस्रः । चतसृभिः । चतसृभ्यः । चतसृणाम् । चतसृषु । का । के । काः । 'सर्वा' शब्द की तरह रूप बनते हैं ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (१२८) से 'पूर्वस्य' तथा 'दीर्घः' पदों की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार—'क्विप्-प्रत्ययान्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातुओं के परवर्ती रहने पर पूर्व अण् को दीर्घ होता है ।'

उदाहरण—(१) उपानह् (=जूता) शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जा रही है—उप+√नह् से कर्म में क्विप्, (क्विप् का सर्वापहारी लोप)—उपनह् (पकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ—'नहिवृति०')—उपानह्+सु (स्) (स् का हल्ङ्यादि लोप)—उपानह्, (ह्=ध्—'नहो धः') उपान ध्, ('ध्'='द्'—जश्त्व)—उपानद् (द्=त्—वैकल्पिक चर्त्व)=उपानत् । पक्ष में=उपानद् । (२) उपानह्+औ=उपानहौ । (३) उपानह्+जस् (अस्) (स्=र्=:)=उपानहः । (४) उपानह्+भ्याम् (ह्=ध्, ध्=द्)=उपानद्भ्याम् । (५) उपानह्+सुप् (सु) (ह्=ध्=द्=त्)=उपानत्सु ।

हकारान्त स्त्रीलिङ्ग उष्णिह् (=वैदिक छन्द) के रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—(उत्+√स्निह्+क्विन्, निपातन से 'त्' का लोप=उष्णिह्) (१) उष्णिह्+सु (स्), (स् का लोप, ह्=घ् 'कुत्व'—'क्विन्प्रत्ययस्य कुः') उष्णिघ् (घ्=ग्—'जश्त्व')—उष्णिग् (ग्=क्—पाक्षिक चर्त्व)=उष्णिक् । पक्ष में—उष्णिग् । (२) उष्णिहौ (औ) । (३) उष्णिहः (जस्) । (४) उष्णिह्+भ्याम् (ह्=घ्—'कुत्व', घ्=ग्—'जश्त्व')=उष्णिग्भ्याम् ।

वकारान्त दिव् (=आकाश) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है । प्रथमा विभक्ति में—(१) दिव्+सु, (व्=औ 'दिव औत्') दि औ+स् (इ=य्—'यण्' स्=र्=:)=द्यौः । (२) दिवौ (औ) । (३) दिवः (जस्) । (४) द्युभ्याम् (भ्याम्) ।

रेफान्त गिर् (=वाणी) शब्द के विशेष रूपों का प्रदर्शन किया जा रहा है—' √गॄ+क्विप् (क्विप् का लोप ऋ=इर्=गिर् ।) (१) गिर्+सु (स्) ('स्' का लोप)—गिर् (उपधादीर्घ—'र्वोरुपधायाः', र्=:)=गीः । (२) गिरौ । (३) गिरः । इसी प्रकार पुर् (=नगरी) शब्द के 'पूः' आदि रूप बनते हैं ।

संख्यावाचक चतुर् शब्द के रूप इस प्रकार सिद्ध होते हैं—(१) चतुर्+जस् (अस्), (चतुर्=चतसृ—'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्') चतसृ+अस् (ऋ=र् 'यण्', स्=र्=:)=चतस्रः । द्वितीया बहुवचन में भी—चतस्रः । (२) चतसृभिः (भिस्) । (३) चतसृभ्यः (भ्यस्) । (४) चतसृणाम् (आम्) । (५) चतसृषु (सुप्) ।

'किम्' (=कौन) शब्द के स्त्रीलिङ्ग के रूप बतलाये जा रहे हैं—(किम्=क) क+टाप् (आ), क+आ (दीर्घ)=का । (१) का+सु (स्) (स् का लोप)=का । (२) का+औ (औ=शी, गुण)=के । (३) का+जस् (अस्) (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=र्=:)=काः । शेष रूप सर्वा शब्द की तरह बनेंगे ।

सर्वावत् । (३८९) यः सौ ७।२।११० । इदमो दस्य यः स्यात्सौ । 'इदमो मः' । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । 'दश्चे'ति मः । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । अनया । 'हलि लोपः' । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः-२ । अनयोः-२ । आसाम् । अस्याम् । आसु । अन्वादेशे तु—एनाम् । एने । एनाः । एनया । एनयोः-२ । 'ऋत्विगा'दिना सृजेः क्विन्, अमागमश्च निपात्यते । स्रक् । स्रजौ । स्रजः । स्रग्भ्याम् । त्यदाद्यत्वे टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवम्-तद् । यद् । एतद् ।

---

(३८९) **यः सौ इति** । अत्र 'इदमो मः' इत्यतः 'इदमः' इति, 'दश्चे'त्यतः 'दः' इति च षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । तदाह—**इदमो दस्येत्यादिना** । **इयमिति** । 'इदम् + स्' इत्यत्र 'यः सावि'ति दकारस्य स्थाने यकारादेशे 'इयम् + स्' इति जाते, 'त्यदादीनामः' इति प्राप्तमकारं प्रबाध्य 'इदमो मः' इति मकारस्य मकारादेशे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति स्लोपे इयमिति ।

---

(३८९) पद—यः, सौ । **अनुवृत्ति**—इदमः, दः । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—'सु' पर रहते स्त्रीलिङ्ग में 'इदम्' शब्द के 'द्' को 'य्' आदेश होता है । 'इदमो मः' से म्=म् । इयम् । 'त्यदादि' सूत्र से 'अ', टाप्, 'दश्च' से द्=म् । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । अनया । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः-२ । अनयोः । आसाम् । अस्याम् । आसु । अन्वादेश में—एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः । √सृज् से 'ऋत्विग्०' सूत्र से क्विन् तथा अम् का आगम निपातन से होता है । स्रक्-स्रग्, स्रजौ, स्रजः, स्रग्भ्याम् । 'त्यदादीनामः' से अ तथा टाप्—स्या, त्ये, त्याः । इसी तरह—तद्, यद्, एतद् शब्दों के रूप बनेंगे । वाक्-वाग् । वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् । अप् शब्द नित्य बहुवचनान्त है । 'अप्तृन्०' से दीर्घ । आपः । अपः ।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'इदमो मः' (२९२) से 'इदमः' तथा 'दश्च' (२९५) से 'दः' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'सु' पर रहते 'इदम्' शब्द के 'द्' के स्थान में 'य्' आदेश होता है ।

उदाहरण—(१) इदम्+सु (स्), (द्=य् 'यः सौ') इयम्+स् (विभक्ति का लोप, 'त्यदादीनामः' से प्राप्त 'अ' को बाधकर म्=म्—'इदमो मः')=इयम् । (२) इदम्+औ, (म्=अ, पररूप) इद+औ, (टाप्, दीर्घ)—इदा+औ, (द्=म्) इमा+औ, (औ=शी 'औङ आपः') इमा+ई (आ+ई=ए 'गुण')=इमे । (३) इदम्+जस् (अस्), (अ, पररूप) इद+अस्, (टाप्, दीर्घ, द्=म्) इमा+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=र्=ः)=इमाः । (४) इदम्+अम्, (म्=अ, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+अम् (द्=म, पूर्वरूप)=इमाम् । (५) इमे (औट्) । (६) इमाः (शस्) । (७) इदम्+टा (आ), (अत्व, पररूप, टाप् दीर्घ) इदा+आ, (इद्=अन् 'अनाप्यकः') अन् आ+आ, (आ=ए—'आङि चापः') अने+आ (ए=अय्)=अनया । (८) इदम्+भ्याम्, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+भ्याम् ('इद्' का लोप 'हलि लोपः', दीर्घ)=आभ्याम् । (९) इदम्+भिस्, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+भिस् ('इद्' का लोप, स्=र्=ः)=आभिः । (१०) इदम्+ङे (ए), (अ, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+ए, ('इद्' का लोप, स्याट् का आगम तथा 'आप्' को ह्रस्व—'सर्वनामः स्याड्०') अ+स्या+ए (आ+ए=ऐ 'वृद्धि')=अस्यै । (११) इदम्+(ङसि) अस्

वाक्–वाग् । वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् । अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । 'अप्तृन्नि'ति दीर्घः । आपः । अपः । (३९०) अपो भि ७।४।४८ । अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः । अद्भ्यः-२ । अपाम् । अप्सु । दिक्–दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् ।

---

(३९०) **अपो भि इति** । अत्र 'अच उपसर्गात्तः' इत्यतः 'तः' इत्यनुवर्तते । 'अङ्गस्ये'त्यधिक्रियते । तच्च 'भि' इति सप्तम्यन्तेन विशेष्यते, तदादिविधिस्तदाह— **अपस्तकार इत्यादिना । अद्भिरिति** । नियतस्त्रीलिङ्गात् बहुवचनान्तात् अप्शब्दात् प्रातिपदिकात् तृतीयाबहुवचने भिसि प्रत्यये 'अप्+भिस्' इति जाते, 'अपो भि'

(अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ)—इदा+अस् (स्याट् का आगम, ह्रस्व, 'इद्' का लोप)—अस्या +अस् (दीर्घ—स्=र्=ः)=अस्याः । (१२) इदम्+ओस् , (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) इदा+ओस् , (इद्=अन्, आ=ए) अने+ओस् (ए=अय्, स्=र्=ः)=अनयोः । (१३) इदम्+आम्, (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) इदा+आम् (सुट् का आगम, इद् का लोप)= आसाम् । (१४) इदम्+ङि (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ)—इदा+ङि (ङि=आम् , स्याट् का आगम तथा 'आ' को ह्रस्व, 'इद्' का लोप)=अस्याम् । (१५) इदम्+सुप् (सु), (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) इदा+सु ('इद्' का लोप)=आसु । अन्वादेश में 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' से एन आदेश होने पर, टाप् के पश्चात् 'एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः' रूप बनते हैं ।

जकारान्त स्रज् (=माला) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) स्रज्+ सु (स्) (विभक्ति का लोप)—स्रज् (ज्=ग्—'कुत्व') स्रग् (ग्=क्—'पाक्षिक चर्त्व')= स्रक्, स्रग् । (२) स्रजौ (औ) । (३) स्रजः (जस्) । (४) स्रग्भ्याम् (भ्याम्, कुत्व) ।

'त्यद्' शब्द के रूपों की प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) त्यद्+स् , (द्=अ, 'त्यदादीनामः', पररूप) त्य+स् , (टाप्, दीर्घ) त्या+स्, (त्=स्—'तदोः सः') स्या+स् (विभक्ति का लोप)=स्या । (२) त्यद्+औ, (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) त्या+औ, (औ=शी) त्या +ई (आ+ई=ए 'गुण')=त्ये । (३) त्यद्+जस् , (अत्व, पररूप, टाप् , दीर्घ) त्या+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ, स्=र्=ः)=त्याः । इसी प्रकार तद् , यद् , एतद् शब्दों के रूप बनेंगे ।

चकारान्त 'वाच्' (=वाणी) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) वाच् +सु (स्) (विभक्ति का लोप)—वाच् , (च्=क् 'चोः कुः') वाक् (क्=ग् 'पाक्षिक चर्त्व') =वाक्, वाग् । (२) वाच्+औ=वाचौ । (३) वाच्+जस् (अस्) (स्=र्=ः)=वाचः । (४) वाच्+भ्याम् (च्=क् 'कुत्व', क्=ग् 'जश्त्व')=वाग्भ्याम् ।

अप् (=जल) शब्द नित्य बहुवचनान्त है । (१) अप्+जस् (अस्), ('अ'='आ'— दीर्घ—'अप्तृन्०') आपस् (स्=र्=ः)=आपः । (२) अप्+शस् (अस्)—अपस् (स्= र्=ः)=अपः । सर्वनामस्थान न होने से दीर्घ की प्राप्ति नहीं है ।

(३९०) पद—अपः, भिः । **अनुवृत्ति**—तः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र** ।

मूलार्थ—भकार आदि प्रत्यय पर रहते 'अप्' शब्द को तकार अन्तादेश होता है । अद्भिः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु । दिक्–दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । 'त्यदादिषु' सूत्र में √दृश् से क्विन्प्रत्यय विधान होने से अन्यत्र भी कुत्व होता है । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् । त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु–त्विट्सु । 'ससजुषो रुः' से रुत्व होकर—सजूः । सजुषौ ।

त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु–त्विट्सु । 'ससजुषोरि'ति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् । आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । असौ । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । औङः शी । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः–२ । अमुयोः–२ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

इत्यनेन पस्य तकारे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य दत्वे 'अद् भिस्' इति स्थिते सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अद्भिः' इति । **अमुष्यामिति** । 'अदस् + ङि' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपे, टापि, सवर्णदीर्घे 'अदा + ङि' इति स्थिते 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामादेशे 'सर्वनाम्नः' इति स्याडागमे पूर्वस्य ह्रस्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे 'अदसोऽसेः' इति अकारस्य उत्वे दस्य मत्वे च 'अमुष्या आम्' इति जाते सवर्णदीर्घे 'अमुष्यामि'ति सिद्धम् ।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

सजूर्भ्याम् ॥ आशीः । आशिषौ । आशिषः । आशीर्भ्याम् । असौ । 'त्यदादीनामः' से अत्व, टाप्, औ के स्थान पर शी आदेश, उकार तथा मकार होने पर अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

विमर्श—सूत्र में आदेशवाचक पद का अभाव है। अतः 'अच उपसर्गात्तः' से 'तः' पद की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। उससे 'प्रत्यये' का आक्षेप किया जाता है। 'भि' पद 'प्रत्यये' का विशेषण होने के कारण उससे तदादि विधि होती है। तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति से—"भकारादि प्रत्यय पर रहते 'अप्' शब्द के 'प्' के स्थान पर 'त्' आदेश होता है।"

उदाहरण—(१) अप्+भिस्, (प्=त् 'अपो भि')—अत् भिस्, (त्=द्—जश्त्व) अद्+भिस् (स्=र्=ः)=अद्भिः । (२) अप्+भ्यस् (प्=त्, त=द्)=अद्भ्यस् (स्=र्=ः)=अद्भ्यः । (३) अप्+आम्=अपाम् । (४) अप्+सु=अप्सु । (सुप्) । शकारान्त दिश् (=दिशा) शब्द के रूपभेद प्रदर्शित किये जा रहे हैं—(१) दिश्+स् (सु), (विभक्तिलोप)—दिश्, (कुत्व असिद्ध होने से 'श्'='ष्'—'व्रश्च') दिष्, (ष्=ड्—'जश्त्व', ड्=ग् 'कुत्व') दिग् (ग्=क्—'अवसान' में वैकल्पिक चर्त्व)=दिक् । पक्ष में=दिग् । (२) दिशौ । (३) दिशः । (४) दिश्+भ्याम् (श्=ष्=ड्=ग्)=दिग्भ्याम् ।

क्विप्प्रत्ययान्त दृश् (=आँख) शब्द के रूपभेदों की विशेषता बतलायी जा रही है—(१) दृश्+सु (स्), (विभक्तिलोप) दृश् (श्=ष्—'व्रश्च')—दृष्, (ष्=ड्—जश्त्व, ड्=ग् 'कुत्व') दृग् (ग्=क्—विकल्प से 'वाऽवसाने')=दृक् । पक्ष में—दृग् । (२) दृशौ । (३) दृशः । (४) दृग्भ्याम् ।

त्विष (=दीप्ति) शब्द की विशेष विभक्तियों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) त्विष्+स् (विभक्तिलोप, जश्त्व तथा पाक्षिक चर्त्व) त्विट्-त्विड् । (२) त्विषौ । (३) त्विषः । (४)

अथ हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः

स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोरि'त्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः । वारी । वारि । वारा । वार्भ्याम् । चत्वारि । किम् ।

स्वनडुत् इति । सु—शोभनाः अनड्वाहः यस्येति विग्रहे स्वनडुह्शब्दात् प्रथमैकवचने सौ 'स्वनडुह्+स्' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लोपे 'वसुस्रंसुध्वंस्वन-

---

त्विष्+भ्याम् (ष्=ड्, जश्त्व)=त्विड्भ्याम् । (५) त्विष्+सुप् (सु), (ष्=ड्, धुट् का आगम, ध्=त् ड्=ट्, चर्त्व)=त्विट्त्सु । धुट् के अभाव पक्ष में—त्विट्सु ।

क्विबन्त सजुष् (=साथ में प्रीति करने वाले) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) सजुष्+सु (स्) (विभक्तिलोप ष्=र् 'ससजुषो रुः' उपधादीर्घः, र्=ः)=सजूः । (२) सजुषौ । (३) सजूर्भ्याम् (ष्=र्, उपधादीर्घ) ।

क्विप्प्रत्ययान्त आशिष् (=आशीर्वाद) शब्द के प्रमुख रूपों की विशेषता बतलाई जा रही है—(१) आशिष्+सु (स्), (विभक्तिलोप, ष् के असिद्ध होने से स्=रु) आशि र्, (उपधादीर्घ—'र्वोरुपधायाः') आशीर् (र्=ः)=आशीः । (२) आशिषौ । (३) आशिषः । (४) आशीर्भ्याम् ।

अदस् शब्द के रूपों की रचना-प्रक्रिया का उल्लेख किया जा रहा है—(१) अदस्+सु (स्)=असौ (पुंल्लिङ्ग के समान) । (२) अदस्+औ, (स्=अ—'त्यदादीनामः', अ+अ ='अ' पररूप—'अतो गुणे') अद+औ, (टाप्, दीर्घ) अदा+औ, (औ=शी, आ+ई=ए 'गुण') अदे (द्=म्, ए=ऊ 'अदसोऽसेः')=अमू । (३) अदस्+जस् (अस्), (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) अदा+अस् (पूर्वसवर्णदीर्घ), अदास् (आ=ऊ, द्=म्) अमूस् (स्= र्=ः)=अमूः । (४) अदस्+टा (आ), (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) अदा+आ (आ=ए 'आङि चापः' ऐ=अय्) अदया, (उत्व एवं मत्व)=अमुया । (५) अमूभ्याम् (अत्व, पररूप, टाप्, ऊत्व तथा मत्व) । (६) अमूभिः (भिस् में पूर्ववत) । (७) अदस्+ङे, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ) अदा+ए, (स्याट् का आगम तथा 'आ' को ह्रस्व—'सर्वनाम्नः') अदस्या+ए (आ+ए='ऐ' वृद्धि) अदस्यै (उत्व, मत्व तथा षत्व होकर)=अमुष्यै । (८) अमूभ्यः । (९) अदस्+ङसि (अस्), (अत्व, पररूप, टाप्) अदा+अस् (स्याट् का आगम, 'आ' को ह्रस्व) अदस्या+अस् (उत्व, मत्व, सवर्णदीर्घ)—अमुस्यास् (षत्व, स्=र्=ः)=अमुष्याः । इसी प्रकार ङस् में भी 'अमुष्याः' । (१०) अमुयोः (अत्व, पररूप, टाप् होने पर आ=ए तथा अय् आदेश, मुभाव, स्=र्=ः) । (११) अदस्+आम्, (अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ, सुट् का आगम) अदा+साम् (आ=ऊ, द्=म्, षत्व)=अमूषाम् । (१२) अमुष्याम् (ङि=आम्, शेष कार्य पूर्ववत् । (१३) अदस्+सुप् (सु) (अत्व, पररूप, टाप्, अत्व, मत्व तथा षत्व होकर)=अमूषाम् ।

हलन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण समाप्त ।

पूर्वोक्त क्रमानुसार सर्वप्रथम 'स्वनडुह्' शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(सु—शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्येति=अर्थात् सुन्दर बैल वाला कुल, बहुव्रीहि समास में

के । कानि । इदम् । इमे । इमानि । * अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः * । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः-२ । व्योम । व्योम्नी-व्योमनी । व्योमानि । ब्रह्म । * सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः * । हे ब्रह्म-हे ब्रह्मन् । ब्रह्मणी । ब्रह्माणि ।

डुहां दः' इत्यनेन हस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वेन दस्य तत्वे 'स्वनडुत्, स्वनडुद्' इति रूपद्वयम् ।

स्वनडुह् शब्द निष्पन्न होता है । (१) स्वनडुह्+सु (स्), (सु का लुक्—'स्वमोर्नपुंसकात्') स्वनडुह् (ह्=द्—'वसुस्रंसु०') स्वनडुद् (द्=त् 'पाक्षिक चर्त्व')=स्वनडुत् , पक्ष में=स्वनडुद् । (२) स्वनडुह्+औ (औ=शी—'नपुंसकाच्च') स्वनडुह्+ई=स्वनडुही । (३) स्वनडुह्+जस् (जस्=शि—'जश्शसोः शिः')—स्वनडुह्+इ, (आम् (आ) का आगम 'चतुरनडुहोरामुदात्तः') स्वनडु आह्+इ, (नुम् का आगम—'नपुंसकस्य झलचः' उ=व्—'यण्') स्वनड्वान् ह्+इ, (न्=अनुस्वार 'नश्चापदान्तस्य झलि')=स्वनड्वांहि । द्वितीया विभक्ति में भी इसी प्रकार रूप बनते हैं । तृतीयादि विभक्तियों में पुंल्लिङ्ग के समान रूप बनेंगे ।

रेफान्त वार् (=जल) शब्द के रूपों की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया जा रहा है—(१) वार्+सु ('सु' का लुक् , र्=ः)=वाः । (२) वार्+औ (औ=शी)=वारी । (३) वार्+जस् (जस्=शि)=वारि । (४) वार्+टा (आ)=वारा । (५) वार्+भ्याम्=वार्भ्याम् ।

संख्यावाचक चतुर् शब्द से जस्—चतुर्+जस्, (जस्=शि) चतुर्+इ, ('उ' से पर आम् (आ) का आगम) चतु आ र्+इ (उ=व् 'यण्')=चत्वारि ।

मकारान्त 'किम्' (=कौन) शब्द के विशिष्ट रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) किम्+सु ('सु' का लुक्)=किम् । (२) किम्+औ, (औ=शी) किम्+ई, (किम्=क) क+ई (अ+ई=ए 'गुण')=के । (३) किम्+जस् (जस्=शि, किम्=क), क+इ (नुम् का आगम, उपधादीर्घ)=कानि ।

इदम् शब्द के रूपभेदों की प्रक्रिया इस प्रकार है—(१) इदम्+सु ('सु' का लुक्)=इदम् । (२) इदम्+औ, (अत्व, पररूप) इद+औ (औ=शी)—इद+ई (गुण)—इदे (द्=म्—'दश्च')=इमे । (३) इदम्+जस् , (अत्व, पररूप) इद+जस्, (जस्=शि) इद+इ (नुम् का आगम, उपधादीर्घ, द्=म्)=इमानि ।

(वा०)—नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश के विषय में इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश होता है । इदम्+अम् ('अम्' का लुक् , इदम्=एनत्)=एनत् । इसी प्रकार आगे एने । एनानि । एनेन । एनयोः आदि ।

नकारान्त 'व्योमन्' शब्द के विशेष रूपों की रचना-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) व्योमन्+सु (सु का लुक्, न् का लोप)=व्योम । (२) व्योमन्+औ, (औ=शी) व्योमन्+ई (विकल्प से उपधा 'अ' का लोप—'विभाषा ङिश्योः')=व्योम्नी । पक्ष में—व्योमनी । (३) व्योमन्+जस् , (जस्=शि) व्योमन्+इ (उपधादीर्घ)=व्योमानि ।

नकारान्त प्रातिपदिक ब्रह्मन् (=वेद अथवा ब्रह्म) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) ब्रह्मन्+सु ('सु' का लुक् तथा 'न्' का लोप)=ब्रह्म । (२) हे ब्रह्मन्+सु (सु का लुक्, विकल्प से 'न्' का लोप—'सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः')=हे ब्रह्म ।

'रोऽसुपि' । अहः । 'विभाषा ङिश्योः' । अह्नी-अहनी । अहानि । (३९१) अहन् ८।२।६८ । अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते । अहोभ्याम् । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । सुपथि । टिलोपः-सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क् । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः । त्यद् । त्ये । त्यानि । तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि । 'अवङ् स्फोटायनस्ये'ति अवङ् ।

---

(३९१) **अहन्निति** । अत्र 'ससजुषो रुः' इत्यतः 'रुः' इति, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यतः 'अन्ते' इति चानुवर्तते । 'अहन्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् । 'पदस्ये'त्यधिक्रियते । तदाह—**अहन्नित्यस्येत्यादि । अहोभ्याम् इति** । 'अहन् + भ्याम्' इत्यत्र 'अहन्' इत्यनेन नस्य रुत्वे 'हशि चे'त्युत्वे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति ।

'न्' का लोप न होने पर—हे ब्रह्मन् । (३) ब्रह्मन्+औ (औ=शी)—ब्रह्मन्+ई (न्=ण्) =ब्रह्मणी । (४) ब्रह्मन्+जस् (जस्=शि, सर्वनामस्थान संज्ञा, उपधादीर्घ)=ब्रह्माणि ।

अहन् (=दिन) शब्द की रूप-प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) अहन्+सु, ('सु' का लुक्, न्=र्—'रोऽसुपि') अहर् (र्=ः)=अहः । (२) अहन्+औ, (औ=शी) अहन्+ई (भ संज्ञा, विकल्प से 'अन्' के 'अ' का लोप)=अह्नी । 'अ' का लोप न होने पर=अहनी । (३) अहन्+जस् (जस्=शि, उपधादीर्घ)=अहानि ।

(३९१) पद—अहन् । **अनुवृत्ति**—रुः, अन्ते, पदस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—पदान्त में अहन् शब्द के 'न्' को 'रु' होता है । अहोभ्याम् । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । सुपथि । टिलोप होकर—सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क् । ऊर्जी । ऊर्ञ्जि । न् र् ज् का संयोग है । त्यद् । त्ये । त्यानि । तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि । 'अवङ् स्फोटायनस्य' से अवङ् ।

कारिकार्थ—'गो' उपपदपूर्वक √अन्चु धातु से निष्पन्न गवाक् शब्द के नपुंसकलिङ्ग में (धातु के पूजा तथा गति अर्थों की भिन्नता से) सन्ध्यभाव, अवङ् आदेश, पूर्वरूप आदि होकर १०९ रूप बनते हैं । उसमें सु, अम् तथा सुप् में प्रत्येक के नौ रूप, भकारादि छः प्रत्ययों में प्रत्येक के छः रूप, जस् एवं शस् में प्रत्येक के तीन रूप तथा अन्य दस विभक्तियों में प्रत्येक के चार रूपों का योग करके १०९ रूप होते हैं ।' गवाक्-ग् । गोची । गवाञ्चि । गोचा । गवाग्भ्याम् । यकृत् । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । शकृद्भ्याम् । ददत् । ददती ।

विमर्श—प्रकृत सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु—'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से 'रुः' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'अन्ते' पद की अनुवृत्ति आती है । 'पदस्य' का अधिकार है । तदनुसार अलोऽन्त्य परिभाषा की उपस्थिति द्वारा—"पद के अन्त में 'अहन्' शब्द के 'न्' के स्थान में 'रु' आदेश होता है ।"

उदाहरण—(१) अहन्+भ्याम्, (न्=रु-'अहन्') अह रु+भ्याम्, (रु=उ 'हशि च') अह उ+भ्याम् (गुण)=अहोभ्याम् ।

दण्डिन् (=दण्डधारी संन्यासी कुल) शब्द के रूपों की सिद्धि प्रदर्शित की जा रही है—(१) दण्डिन्+सु (विभक्ति तथा 'न्' का लोप)=दण्डि । (२) दण्डिन्+औ=दण्डिनी । (३) दण्डिन्+जस्=दण्डीनि (पूर्ववत्) ।

सुपथिन् (=सुन्दर मार्ग वाला नगर) शब्द के रूपों की प्रक्रिया इस प्रकार है—(१)

गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥
स्वमुसुप्सु नव, षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

गवाक्–गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् । यकृत् । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । शकृद्भ्याम् । ददत् । ददती । (३९२) वा नपुंसकस्य

सुपथिन्+सु (विभक्तिलोप तथा 'न्' का लोप)=सुपथि । (२) सुपथिन्+औ (औ=शी)—सुपथिन्+ई (भ-संज्ञा, टि (इन्) का लोप)=सुपथी । (३) सुपथिन्+जस् (जस्=शि)—सुपथिन्+इ (सर्वनामस्थान संज्ञा—'शि सर्वनामस्थानम्', इ=अ—'इतोऽत्सर्वनामस्थाने') सुपथन्+इ (थ=न्थ—'थो न्थः', उपधादीर्घ)=सुपन्थानि ।

ऊर्ज् (=बलवान्) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) ऊर्ज्+सु ('सु' का लुक्)—ऊर्ज्, (ज्=ग्—'कुत्व') ऊर्ग् (ग्=क्—वैकल्पिक चर्त्व)=ऊर्क्, ऊर्ग् । (२) ऊर्ज्+औ (औ=शी)=ऊर्जी । (३) ऊर्ज्+जस् (जस्=शि)—ऊर्ज्+इ, ('ऊ' के अनन्तर नुम् का आगम) ऊर्न्जि (अनुस्वार, परसवर्ण)=ऊर्ञ्जि ।

सर्वनामवाचक त्यद् के रूप इस प्रकार हैं—(१) त्यद्+सु ('सु' का लुक्)=त्यद् । (२) त्यद्+औ (औ=शी)—त्यद्+ई (द्=अ, पररूप, गुण)=त्ये । (३) त्यद्+जस् (जस्=शि)—त्यद्+इ (अत्व, पररूप, नुम्, उपधादीर्घ)=त्यानि । इसी प्रकार—तद्, यद् तथा एतद् शब्द के रूप बनेंगे ।

(१) गो+√अन्च् (=गति और पूजा) से क्विन् प्रत्यय (क्विन् का लोप) (ओ=अवङ् (अव)—'अवङ् स्फोटायनस्य')—गव+अन्च् (सवर्णदीर्घ, 'अनिदिताम्' से न् का लोप)=गवाच्+सु, (विभक्ति का लुक्, च्=क् 'कुत्व'–'क्विन्प्रत्ययस्य कुः') गवाक्, (क्=ग्-जश्त्व) गवाग् (ग्=क् विकल्प से—'वाऽवसाने')=गवाक् । 'क्' न होने पर गवाग् । (२) गो+अन् च्+औ, ('न्' का लोप, औ=शी) गो अच्+ई, (भसंज्ञा, 'अचः' से अ का लोप)=गोची । (३) गो+अन् च्+जस्, ('न्' का लोप, जस्=शि) गो अच्+इ (नुम्)—गो अन् च्+इ (ओ=अवङ् (अव), सवर्णदीर्घ, 'न्' को अनुस्वार, परसवर्ण)=गवाञ्चि । (४) गोचा (टा) । (५) गवाग्भ्याम् (भ्याम्) ।

इस गवान्च् या गवाच् शब्द के १०९ रूप बनते हैं, यह मूलार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है । √अन्चु धातु के दो अर्थ—गति तथा पूजन के कारण प्रकृतिभाव (असन्धि), अवङ् आदेश तथा पूर्वरूप के विधान होने से १०९ रूपों की सिद्धि होती है । जो इस प्रकार हैं—

गवाक्–गवाग्, गोअक्–गोअग्, गोऽक्–गोऽग्, गवाङ्, गोअङ्, गोऽङ् (९) । गोची, गवाञ्ची, गोअञ्ची, गोऽञ्ची (४) । गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि (३) । गोचा, गवाञ्चा, गोअञ्चा, गोऽञ्चा (४) । गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम् (६) । गवाग्भिः, गोअग्भिः, गोऽग्भिः, गवाङ्भिः, गोअङ्भिः, गोऽङ्भिः (६) । गोचे, गवाञ्चे, गोअञ्चे, गोऽञ्चे (४) । गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम् (६) । गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः, गोऽङ्भ्यः (६) । गोचः, गवाञ्चः, गोअञ्चः, गोऽञ्चः (४) । गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्, गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्, गोऽङ्भ्याम् (६) । गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः,

७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य क्लीबस्य नुम्वा स्यात् सर्वनामस्थाने। ददन्ति-ददति। तुदत्। (३९३) आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०। अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा, शीनद्योः। तुदन्ती-तुदती। तुदन्ति।

---

(३९२) **वा नपुंसकस्येति।** अत्र 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति सूत्रं नञ्रहितमनुवर्तते। 'इदितो नुम्' इत्यतो 'नुमि'ति, 'उगिदचामि'त्यतः 'सर्वनामस्थाने' इति चानुवर्तते। तदाह—**अभ्यस्तादित्यादिना। ददन्ति इति।** 'ददत्+जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने 'शि' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्ये'ति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति निषेधे 'वा नपुंसकस्ये'ति विकल्पेन नुमि 'नश्चापदान्तस्ये'ति अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'ददन्ति' इति। नुमभावे 'ददति' इति।

(३९३) **आच्छीनद्योर्नुमिति।** 'नाभ्यस्तादि'त्यतः शतुरिति, 'वा नपुंसकस्ये'त्यतो वेति चानुवर्तते। 'अङ्गस्ये'त्यधिक्रियते। तच्च पञ्चम्या विपरिणम्यते। आदित्यनेन विशेष्यत्वात् तदन्तविधिः। तदाह—**अवर्णान्तादित्यादि।**

गोऽङ्भ्यः (६)। गोचः, गवाञ्चः, गोअञ्चः, गोऽञ्चः (४)। गोचोः, गवाञ्चोः, गोअञ्चोः, गोऽञ्चोः, (४)। गोचाम्, गवाञ्चाम्, गोअञ्चाम्, गोऽञ्चाम् (४)। गोचि, गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि (४)। गोचोः, गवाञ्चोः, गोअञ्चोः, गोऽञ्चोः (४)। गवाक्षु, गोअक्षु, गोऽक्षु, गवाङ्क्षु, गोअङ्क्षु, गोऽङ्क्षु, गवाङ्षु, गोअङ्षु, गोऽङ्षु (९)=१०९ रूप हुए।

(३९२) पद—वा, नपुंसकस्य। **अनुवृत्ति**—अभ्यस्तात्, शतुः। नुम्, सर्वनामस्थाने। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अभ्यस्तसंज्ञक से पर शतृप्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग को विकल्प से नुम् का आगम होता है, सर्वनामस्थान पर रहते। ददन्ति-ददति। तुदत्।

विमर्श—सूत्रार्थ की पूर्ति हेतु 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'अभ्यस्तात्' एवम् 'शतुः' 'इदितो नुम्धातोः' (७।१।५८) से 'नुम्' तथा 'उगिदचाम्०' (७।१।७०) से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति आती है। 'अङ्गस्य' का अधिकार है। इस प्रकार 'अभ्यस्तसंज्ञक से पर शतृप्रत्ययान्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग को विकल्प से नुम् का आगम सर्वनामस्थान में होता है।'

उदाहरण—ददत्+जस् (जस्=शि)—ददत्+इ, (यहाँ द्वित्व होने से अभ्यस्त संज्ञा हुई है—'उभे अभ्यस्तम्' अतः 'वा नपुंसकस्य' से विकल्प से नुम् का आगम)=ददन्ति। नुम् न होने पर—ददति।

तुदत्+सु (विभक्ति का लुक् होने पर)=तुदत्।

(३९३) पद—आत्, शीनद्योः, नुम्। **अनुवृत्ति**—वा, नुम्, शतुः। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अवर्णान्त अङ्ग से पर शतृप्रत्ययान्त शब्दस्वरूप को विकल्प से नुम् का आगम होता है—शी प्रत्यय और नदीसंज्ञक के पश्चाद्वर्ती रहने पर। तुदन्ती-तुदती। तुदन्ति। भात्, भाती, भान्ति। पचत्।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'शतुः', 'वा नपुंसकस्य' (३९२) से 'वा' तथा 'इदितो' (७।१।५८) से 'नुम्' की अनुवृत्ति आ रही है। तदनुसार—"शी प्रत्यय अथवा नदीसंज्ञक के पर रहते अवर्णान्त अङ्ग के पश्चाद्वर्ती शतृप्रत्ययान्त शब्द को विकल्प से 'नुम्' का आगम होता है।"

भात् । भाती । भान्ति । पचत् । (३९४) शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१ । शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्, शीनद्योः । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । 'सान्ते'ति दीर्घः । नुम्विसर्जनीयेति षः । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवं चक्षुर्हविरादयः । पयः । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्वमत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् ।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

---

(३९४) **शप्श्यनोर्नित्यमिति ।** अत्र 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रम्, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इत्यतः शतुरिति चानुवर्तते । अवयव इत्यध्याह्रियते । तदाह—**शप्श्यनोरादित्यादिना । धनूंषि इति ।** 'धनुष्+जस्' इत्यत्र जसः स्थाने 'शि' इत्यादेशेऽनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमागमेऽनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः' इत्युपधादीर्घे 'नश्चापदान्तस्ये'ति अनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे संयोगे च कृते 'धनूंषि' इति ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

उदाहरण—(१) तुदत्+औ (औ=शी)—तुदत्+ई (विकल्प से नुम् का आगम—'आच्छीनद्योर्नुम्')=तुदन्ती । नुम् के अभाव में—तुदती । (२) तुदत्+जस् (जस्=शि)—तुदत्+इ (नुम्—'उगिदचाम्०')=तुदन्ति ।

दीप्त्यर्थक √भा से शतृ प्रत्यय करने पर तकारान्त भात् शब्द के रूपभेदों की प्रक्रिया बतलायी जा रही है—(१) भात्+सु ('सु' लुक्)=भात् । (२) भात्+औ (औ=शी, विकल्प से नुम्)=भान्ती-भाती । (३) भात्+जस् (जस्=शि, नुम्)=भान्ति । √पच् से शतृ प्रत्यय से निष्पन्न 'पचत्' शब्द के विशेष रचना-क्रम का उल्लेख किया जा रहा है—पचत्+सु ('सु' का लुक्)=पचत् ।

(३९४) पद—शप्श्यनोः, नित्यम् । **अनुवृत्ति**—शीनद्योः, नुम्, शतुः, अङ्गस्य । **विधिसूत्र ।**

मूलार्थ—शप् और श्यन् सम्बन्धी अकार से पर शतृ के अवयवान्त शब्दस्वरूप को नित्य 'नुम्' का आगम होता है, शी अथवा नदीसंज्ञक पर रहते । पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत्, दीव्यन्ती । दीव्यन्ति । धनुः । धनुषी । 'सान्तमहतः' से दीर्घ । 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' से षत्व । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । इसी प्रकार चक्षुष्, हविष् आदि शब्दों के रूप बनेंगे । पयः । पयसी । पयांसि । पयोभ्याम् । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः । विभक्तिकार्य, उत्व और मत्व । अमू । अमूनि । शेष पुंल्लिङ्ग की तरह बनते हैं ।

विमर्श—यहाँ 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से 'शतुः' तथा 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३९३) से 'शनिद्योः' और 'नुम्' की अनुवृत्ति आती है । 'अङ्गस्य' का अधिकार है । इस प्रकार 'शी और

अथाव्ययानि

(३९५) स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७। स्वरादयो निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः। स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। पुनर्। सुनुतर्। उच्चैस्। नीचैस्। शनैस्। ऋधक्।

(३९५) स्वरादिनिपातमव्ययमिति। स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः, ते च निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः। फलितार्थमाह—**स्वरादय इत्यादिना**। स्वरादीनां चादीनां

नदीसंज्ञक के पश्चाद्वर्ती होने की स्थिति में शप् और श्यन् सम्बन्धी अकार से पर शतृ को नित्य नुम् का आगम होता है।'

उदाहरण—(१) पचत्+औ (औ=शी)—पचत्+ई, (शतृ के अन्त्य अ से पर नुम्) पचन् त्+ई (अनुस्वार, परसवर्ण)=पचन्ती। (२) पचत्+जस्, (जस्=शि) पचत्+इ (नुम्—'उगिदचाम्')=पचन्ति।

√दिव् से श्यन् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'दीव्यत्' (=चमकता हुआ) शब्द के रूप भी 'पचत्' की तरह बनते हैं—दीव्यत्, दीव्यन्ती, दीव्यन्ति।

√धन धातु से औणादिक उस् प्रत्यय होकर तथा स्=षत्व होकर धनुष् शब्द बनता है। (१) धनुष्+सु (सु का लुक्, षत्व के असिद्ध होने से स्=र्=:)=धनुः। (२) धनुष्+औ (औ=शी)=धनुषी। (३) धनुष्+जस्, (जस्=शि) धनुष्+इ (नुम्, 'नपुंसकस्य झलचः') धनुन् ष्+इ ('सान्तमहतः' से उ=ऊ दीर्घ, न=ं)=धनूंषि। (४) धनुष्+टा =धनुषा। (५) धनुष्+भ्याम् (षत्व के असिद्ध होने से स्=र्)=धनुर्भ्याम्।

इसी प्रकार चक्षुष् (=नेत्र) तथा हविष् (=होम पदार्थ) शब्दों के रूप बनेंगे।

सकारान्त पयस् (=दूध अथवा जल) शब्द के रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) पयस्+सु ('सु' का लुक्, स्=र्=:)=पयः। (२) पयस्+औ (औ=शी)= पयसी। (३) पयस्+जस् (जस्=शि)—पयस्+इ (नुम्, दीर्घ तथा म्=अनुस्वार)= पयांसि। (४) पयस्+भ्याम् (स्=रु=उ—'हशि च', गुण)=पयोभ्याम्।

सुपुंस् (=अच्छे पुरुष वाला कुल) शब्द के रूपभेद प्रदर्शित किये जा रहे हैं—(१) सुपुंस्+सु (विभक्ति का लुक्, स् का संयोगान्त लोप 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम से अनुस्वार=म्)=सुपुम्। (२) सुपुंस्+औ (औ=शी)=सुपुंसी। (३) सुपुंस्+जस् (जस्=शि) सुपुंस्+इ, (शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से स्=अस् 'पुंसोऽसुङ्') सुपुमस् +इ (नुम्, दीर्घ न्=अनुस्वार 'नश्चा०')=सुपुमांसि।

अदस् (=वह) शब्द के नपुंसकलिङ्ग में रूपभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—(१) अदस्+सु (विभक्ति का लुक्, स्=र्=:)=अदः। (२) अदस्+औ (औ=शी)—अदस्+ ई, (स्=अ, पररूप) अद+ई (अ+ई=ए 'गुण')—अदे (ए=ऊ, द्=म्—'अदसोऽसेः') =अमू। (३) अदस्+जस्, (जस्=शि, अत्व, पररूप) अद+इ, (नुम्—'नपुंसकस्य झलचः') अद न्+इ, (उपधादीर्घ) अदानि (आ=ऊ, द्=म्—'अदसोऽसेः')=अमूनि। इसी प्रकार द्वितीया विभक्ति में भी रूप बनते हैं। अवशिष्ट विभक्तियों के रूप पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

हलन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण समाप्त।

---

(३९५) पद—स्वरादिनिपातम्, अव्ययम्। **संज्ञासूत्र।**

ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । ब्राह्मणवत् । क्षत्रियवत् । सना । सनत् । सनात् । तिरस् । उपधा । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रबाहुकम् । प्रवाहिका । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् ।

पृथक्पाठस्तु 'निपाता आद्युदात्तः' इति स्वरभेदार्थः । एवञ्च चादीनामसत्त्ववाचिनामेवाव्ययत्वम्, स्वरादीनान्तु सत्त्ववाचिनामसत्त्ववाचिनां चाव्ययत्वमिति भावः ।

मूलार्थ—स्वरादिगणपठित शब्द एवं निपातसंज्ञक शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है ।

विमर्श—अजन्त आदि छः प्रकरणों में लिङ्ग, वचन तथा विभक्ति द्वारा शब्द-विषयक परिवर्तनों का निरूपण करने के अनन्तर प्रस्तुत अव्यय-प्रकरण में लिङ्गादिरहित अव्यय शब्दों का निर्वचन किया जा रहा है । अव्ययसंज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों, वचनों तथा सभी विभक्तियों में एक रूप ही रहते हैं ।

स्वर् आदि शब्दों का परिगणन इस प्रकार है—(१) स्वर् (स्वः)=स्वर्ग । (२) अन्तर् (अन्तः)=मध्य । (३) प्रातर् (प्रातः)=प्रातःकाल । (४) पुनर् (पुनः)=फिर । (५) सुनुतर् (सुनुतः)=अन्तर्धान । (६) उच्चैस् (उच्चैः)=ऊँचा या ऊर्ध्वभाग में । (७) नीचैस् (नीचैः)=नीचा या अधोभाग में । (८) शनैस् (शनैः)=धीरे । (९) ऋधक्=सत्य । (१०) ऋते=बिना । (११) युगपत्=एकसाथ । (१२) आरात्=दूर या समीप में । (१३) पृथक्=अलग । (१४) ह्यस् (ह्यः)=गत दिन । (१५) श्वस् (श्वः)=आगामी दिन । (१६) दिवा=दिन । (१७) रात्रौ=रात में । (१८) सायम्=सायंकाल । (१९) चिरम्=देर तक । (२०) मनाक्=थोड़ा, अल्प । (२१) ईषत्=बहुत थोड़ा । (२२) जोषम्=सुख से, चुपचाप । (२३) तूष्णीम्=चुप । (२४) बहिस् (बहिः)=बाहर । (२५) अवस्=बाहर । (२६) समया=समीप । (२७) निकषा=समीप (निकट) । (२८) स्वयम्=अपने से । (२९) वृथा=व्यर्थ । (३०) नक्तम्=रात में । (३१) नञ्=नहीं, निषेध । (३२) हेतौ=कारण । (३३) इद्धा=प्रकाश्य, स्पष्ट । (३४) अद्धा=स्पष्टता । (३५) सामि=आधा । (३६) वत्=तुल्य, तरह (ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत् इत्यादि) । (३७) सना=नित्य । (३८) सनत्=नित्य । (३९) सनात्=नित्य । (४०) उपधा=भेद, विभाग । (४१) तिरस्=टेढ़ा, अनादर । (४२) अन्तरा=मध्य, बिना । (४३) अन्तरेण=बिना । (४४) ज्योक्=चिरकाल, शीघ्र, प्रश्न, सम्प्रति । (४५) कम्=जल, सुख, निन्दा । (४६) शम्=सुख, कल्याण । (४७) सहसा=अकस्मात्, अविचार । (४८) विना=छोड़कर । (४९) नाना=अनेक । (५०) स्वस्ति=कल्याण, मङ्गल । (५१) स्वाहा=देव-हविदान में । (५२) स्वधा=पितरों को हव्यादि दान में । (५३) अलम्=निषेध । (५४) वषट् (५५) श्रौषट् (५६) वौषट्=देवसम्बन्धी हविदान में । (५७) अन्यत्=पुनः और दूसरा । (५८) अस्ति=वर्तमान । (५९) उपांशु=गुप्त, अप्रकटित उच्चारण । (६०) क्षमा=माफ करना । (६१) विहायसा=आकाश । (६२) दोष,

मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । यत्र । कच्चित् । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । नकिम् । आकीम् । माङ् । नञ् । यावत् । त्वै । न्वै । द्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह । (उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च ।) अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथा । कथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । द्य । विषु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः ।

=रात्रि । (६३) मृषा=असत्य । (६४) मिथ्या=असत्य । (६५) मुधा=व्यर्थ । (६६) पुरा=प्राचीन काल में, पहले । (६७) मिथस् (मिथः)=परस्पर । (६८) प्रायस् (प्रायः)= बहुधा, अधिकतर । (६९) मुहुस् (मुहुः)=बार-बार । (७०) प्रबाहुकम्=एक ही समय । (७१) आर्यहलम्=बलात् (७२) आभीक्ष्णम्=पुनः-पुनः या बार-बार । (७३) साकम् तथा (७४) सार्धम्=साथ । (७५) नमस्=नमस्कार । (७६) हिरुक्=बिना । (७७) धिक्= धिक्कार । (७८) अथ=अनन्तर । (७९) अम्=शीघ्रता । (८०) आम्=स्वीकार । (८१) प्रताम्=ग्लानि । (८२) प्रशाम्=समान । (८३) प्रतान्=विस्तार । (८४) मा, माङ्= नहीं, अस्वीकार । स्वरादि आकृति गण है । अतः इस प्रकार के अन्य शब्द भी स्वरादि के अन्तर्गत आते हैं । जैसे—**कामम्**=स्वच्छन्दता । आशु=शीघ्रता । संवत्=वर्ष । अवश्यम्=निश्चय । सपदि=शीघ्रता । रोदसी=पृथिवी-आकाश । झटिति=शीघ्र । ओम्=स्वीकार, ब्रह्म । वरम्= अच्छा । आदि ।

चादि अव्ययों का परिगणन किया जा रहा है—(१) च=और । (२) वा=विकल्प । (३) ह=प्रसिद्धि । (४) अह=निश्चय । (५) एव=ही, केवल । (६) एवम्=इस प्रकार । (७) नूनम्=निश्चय । (८) शश्वत्=निरन्तर । (९) युगपत्=एक साथ । (१०) भूयस् =बार-बार । (११) कूपत् तथा (१२) सूपत्=अच्छी तरह । (१३) कुवित्=अधिकता, प्रशंसा । (१४) नेत्=निषेध । (१५) चेत्=यदि । (१६) चण्=यदि । (१७) यत्र=जहाँ । (१८) नह=नहीं । (१९) हन्त=हर्ष, विषाद में । (२०) माकिः, माकिम्, नकिः= वर्जन में । (२१) नकिम्=नहीं । (२२) आकीम्=नहीं । (२३) माङ्=मत, नहीं । (२४) नञ्=नहीं । (२५) यावत्=जब तक । (२६) तावत्=तब तक । (२७) त्वै, न्वै, द्वै=तथा, सम्भवतः । (२८) रै=दान । (२९) श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा=देवताओं के हविर्दान में । (३०) अलम्=पर्याप्त । (३१) वषट्=पितृहविर्दान । (३२) तुम्=तुम । (३३) तथाहि=जैसे । (३४) खलु, किल=निश्चय । (३५) अथ=अनन्तर । (३६) सुष्ठु=अच्छा । (३७) स्म=भूतकाल । (३८) आदह=निन्दा ।

उपसर्ग०—उपसर्ग-प्रतिरूपक (सदृश), विभक्त्यन्त-सदृश एवं स्वर-सदृश शब्दों का भी चादिगण में पाठ समझना चाहिए । उदाहरण—(१) (उपसर्ग-सदृश) अवदत्तम्=दिया । (२) (सुबन्त-सदृश)—अहंयुः=अहङ्कारी । (३) (तिङन्त-सदृश) अस्तिक्षीरा=दूधवाली । (४) अ=सम्बोधन, निषेध । (५) आ=वाक्य, स्मरण । (६) इ=सम्बोधन । (७) ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ=सम्बोधन । (८) पशु=सम्यक् । (९) शुकम्=शीघ्र । (१०) यथा कथा च=जब कभी । (११) पाट्, प्याट्, अङ्ग, हे, है, भोः, अये=संबोधन । (१२) द्य=

(३९६) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८ । यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः प्राक् पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः । अम् । आम् । कृत्वोऽर्थाः । तसिवती । ननाञौ–इति । एतदन्तमप्यव्ययम् । अत इत्यादि । **(३९७) कृन्मेजन्तः १।१।३९ ।** कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमप्यव्ययम् । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै । **(३९८) क्त्वातोसुन्कसुनः**

---

(३९६) **तद्धितश्चेति ।** अत्र 'स्वरादिनिपातमव्ययमि'त्यतः 'अव्ययमि'त्यनुवर्तते । तद्धितपदेनात्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तद्धितान्ततदादेर्ग्रहणम् । असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिः । तदाह—**यस्मात्सर्वा इति । तसिलादय इति ।** 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यतः 'याप्ये पाशप्' इति पर्यन्तमित्यर्थः ।

(३९७) **कृन्मेजन्त इति ।** कृत् मेजन्त इति पदद्वयात्मकं सूत्रम् । म् च एच् चेति मेचौ, तौ अन्तौ यस्य कृतः स मेजन्त इति बहुव्रीहिरित्यत आह—**कृद्यो मान्त इति ।**

(३९८) **क्त्वातोसुन्कसुन इति ।** क्त्वा-तोसुन्-कसुन् – एतदन्तमव्ययसंज्ञं भवति ।

हिंसा । (१३) विषु=अनेक (१४) एकपदे=सहसा । (१५) युत=निन्दा । (१६) आतः= यहाँ से ।

च—आदि भी आकृतिगण है । अतः इसके **अन्तर्गत** यत, तत, आहोस्वित, इव, व आदि अव्यय शब्दों का पाठ समझना चाहिए ।

(३९६) पद—तद्धितः, च, असर्वविभक्तिः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—जिससे सभी विभक्तियाँ न हों, ऐसा तद्धितान्त शब्द भी अव्ययसंज्ञक होता है ।

विमर्श—पूर्वसूत्र 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३९५) से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आती है । तदनुसार—'जिस शब्द से सब विभक्तियाँ उत्पन्न न हों, ऐसा तद्धितान्त पद भी अव्ययसंज्ञक होगा' । ऐसे शब्दों का परिगणन करना चाहिए । (१) 'पञ्चम्यास्तसिल्' (५।३।७) से प्रारम्भ होकर 'याप्ये पाशप्' (५।३।४७) से पूर्व तक के प्रत्ययों का इसमें समावेश होता है । (२) इसी प्रकार 'बह्वल्पार्थात्······शस्' (५।४।५२) से लेकर 'समासान्ताः' (५।४।६८) से पूर्व तक के प्रत्ययों की भी अव्ययसंज्ञा होती है ।

उदाहरण—(१) अम्, आम्, कृत्वसुच्, सुच् आदि । (२) तसि, वति, इत्यादि । ना और नाञ् प्रत्ययों का भी परिगणन किया गया है । इस प्रकार उक्त-प्रत्ययान्त पद अव्ययसंज्ञक होते हैं । यथा—'अतः' (तसिल्) आदि ।

(३९७) पद—कृत्, मेजन्तः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

मूलार्थ—मान्त और एदन्त कृत्प्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है ।

विमर्श—यहाँ पूर्वसूत्र (३९५) से 'अव्ययम्' पद की अनुवृत्ति आ रही है । तदनुसार 'मकारान्त तथा एजन्त (ए, ओ, ऐ, औ वर्णान्त) कृत्प्रत्ययान्त शब्द भी अव्ययसंज्ञक होते हैं ।

उदाहरण—मकारान्त प्रत्यय—(१) स्मारं स्मारम् (=बार-बार स्मरण करके) । एजन्त प्रत्यय—(२) जीवसे (=जीने के लिए) । (३) पिबध्यै (=पीने के लिए) ।

(३९८) पद— क्त्वातोसुन्कसुनः । **अनुवृत्ति**—अव्ययम् । **संज्ञासूत्र ।**

१।१।४०। एतदन्तमप्यव्ययम्। क्त्वा। उदेतोः। विसृपः। (३९९) अव्ययीभावश्च १।१।४१। अव्ययं स्यात्। अधिहरि। (४००) अव्ययादाप्सुपः २।४।८२। अव्ययाद्विहितस्याऽऽपः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्। अथ। विहितविशेषणान्नेह— अत्युच्चैसौ। अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति तथापि न गौणे। आब्ग्रहणं व्यर्थम्, अव्ययस्याऽलिङ्गत्वात्। तथा च श्रुतिः—

क्त्वेति। 'समानकर्तृकयोः' इति भावे क्त्वा प्रत्ययः। **उदेतोरिति**। उत्पूर्वादिणः 'भावलक्षणे' इत्यादिना तोसुन्प्रत्ययः। **विसृप इति**। विपूर्वकात्सृपेः 'सृपितृदोः कसुन्' इति भावे कसुन्प्रत्ययः।

(३९९) **अधिहरीति**। अत्राव्ययीभावसमासेऽव्ययत्वे च 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुक्।

(४००) **अव्ययादाप्सुप इति**। अत्र 'ण्यक्षत्रियाऽऽर्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते। तदाह—**अव्ययाद्विहितस्येति**। **तत्रेति**। 'तत्र' इत्यतः स्त्रीत्वे टाप्, तस्य लुग्भवतीति।

मूलार्थ—क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्ययसंज्ञा होती है।

विमर्श—प्रकरणवश पूर्वसूत्र से 'अव्ययम्' पद की अनुवृत्ति अपेक्षित है।

उदाहरण—(१) क्त्वा (=करके)। (२) उदेतोः (=उठकर, उदय प्राप्त करने के लिए)। (३) विसृपः (=फैलकर)।

(३९९) पद—अव्ययीभावः, च। **अनुवृत्ति**—अव्ययम्। **संज्ञासूत्र।**

मूलार्थ—अव्ययीभाव समास की भी अव्ययसंज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ भी प्रकरणवश पूर्वसूत्र (३९५) से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'अव्ययीभाव समास भी अव्ययसंज्ञक होगा।'

उदाहरण—अधिहरि (=हरि में)।

(४००) पद—अव्ययात्, आप्सुपः। **अनुवृत्ति**—लुक्। **विधिसूत्र।**

मूलार्थ—अव्यय से विहित आप् और सुप् का लुक् होता है।

विमर्श—प्रकृत सूत्र में 'ण्यक्षत्रियाऽऽर्ष०' (२।४।५८) से आदेशवाचक पद—'लुक्' की अनुवृत्ति आती है। तदनुसार—'अव्यय से विहित आप् (=टाप्, डाप्, चाप्) तथा सुप् का लुक् (लोप) होता है।'

उदाहरण—(१) तत्र शालायाम् (=उस घर में)। यहाँ 'तत्र' शब्द त्रल्-प्रत्ययान्त है। उससे स्त्रीलिङ्गवाची टाप् प्रत्यय का प्रकृत सूत्र से लुक् हुआ। (२) अथ (=अनन्तर)। यहाँ भी प्रकृत सूत्र (अव्ययादाप्सुपः) से विभक्ति का लुक् हुआ।

यहाँ 'अव्ययात्' पद विहित विशेषण (अर्थात् 'अव्यय से विहित' इस प्रकार विशेषता सूचित करने से अत्युच्चैसौ (=ऊँचे स्थान का अतिक्रमण करने वाले दो जन) में सुप् (औ) का लुक् नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ 'औ' विभक्ति 'उच्चैस्' अव्यय से विहित नहीं है, किन्तु समस्त पद 'अत्युच्चैस्' से विहित है। यद्यपि अव्ययसंज्ञा में तदन्त विधि होती है। तो भी गौण में तदन्त विधि की प्रवृत्ति नहीं होती। 'अत्युच्चैस्' पद का अवयव 'उच्चैस्' समास में उपसर्जन होने से गौण हो गया है। अतः सुप् का लुक् नहीं होता।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

अवगाहः । वगाहः । अपिधानम् । पिधानम् । इत्यव्ययानि ।

इति सुबन्तप्रकरणम् ।

सदृशमिति । त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु, सर्वेषु वचनेषु च यद्विकारं न प्राप्नोति, किन्तु सदृशम्, एकप्रकारमेव भवति तदव्ययमिति भाष्योक्ता आथर्वणश्रुतियोजना । **वष्टीति** । भागुरिनामक आचार्यः अव-अपि एतयोरुपसर्गयोः अकारस्य लोपं वष्टि—इच्छतीत्यर्थः । तथा च हलन्तानामपि पदानाम् आपं=टाप्प्रत्ययम् इच्छतीत्यर्थः । 'वाचा, निशा दिशा' इत्याद्युदाहरणानीति भावः । **वगाह इति** । एतदप्युदाहरणमात्रमिति शम् ।

इत्यव्ययप्रकरणम् ।

सूत्र में 'आप्' पद की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अव्यय लिङ्ग रहित होता है। अतः अव्ययवाची पदों से टाप् आदि स्त्री-प्रत्ययों की प्राप्ति ही नहीं होती । पूर्वोक्त 'तत्र' आदि उदाहरणों में विभक्ति का लुक् होना ही अव्यय का प्रयोजन है ।

प्रक्रिया-ग्रन्थकारों ने अव्यय-प्रकरण के अन्त में दो कारिकाओं द्वारा अव्ययवाचक पदों की विशेषता बतलायी है ।

कारिकार्थ—(१) जो शब्द तीनों लिङ्गों (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग), सभी विभक्तियों तथा सभी वचनों में एक-सा रहता है, कुछ भी न बदले (न व्येति=न विकृतं भवति), वह अव्यय कहलाता है ।

(२) आचार्य भागुरि के मतानुसार—'अव' और 'अपि' उपसर्ग के आदि वर्ण अकार का लोप होता है । हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में (आप्) टाप् भी होता है ।

उदाहरण—(१) अव+√गाह्+घञ्=अवगाहः । 'अव' उपसर्ग के अकार का लोप होकर=वगाहः । लोप न होने पर=अवगाहः (स्नान, गोता) । (२) अपि+√धा+ल्युट्=अपिधानम् (=ढक्कन) । यहाँ 'अ' का लोप होकर=पिधानम् । पक्ष में=अपिधानम् ।

हलन्त पदों से 'टाप्' के उदाहरण—(१) वाच्+आ (टाप्)=वाचा (वाणी) । (२) निश्+आ (टाप्)=निशा (रात्रि) । (३) दिश्+आ (टाप्)=दिशा । 'आप्' के अभाव में वाच्, निश् तथा दिश् शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

अव्यय-प्रकरण समाप्त ।

इति सुबोधिन्याख्यायां मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृत-हिन्दीव्याख्याया-मव्ययप्रकरणान्तः प्रथमो भागः ।

वार्तिकादि-सूची

सूत्र-सूची